काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों का आलोचनात्मक अध्ययन

(बुन्देलखण्ड विश्व-विद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि-हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

प्रस्तुतकर्ता:—
अवधेश प्रसाद द्विवेदी

निर्देशक:—
डॉ० कृष्णकान्त त्रिपाठी, डी० लिट्०
अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
बी० एन० एस० डी० कालेज, कानपुर

काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों का आलोचनात्मक अध्ययन

विषयानुक्रमणिका

काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों का आलोचनात्मक

अध्ययन

काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों का आलोचनात्मक अध्ययन

भूमिका

संस्कृत का काव्यशास्त्रीय विषय अत्यन्त कठिन माना गया है, अतः इस विषय पर जितना ही अधिक विश्लेषणात्मक कार्य होगा वह अत्यल्प ही सिद्ध होगा। इस विषय की तुलना प्रायः दर्शनशास्त्र से की जाती है। जिस प्रकार दर्शनशास्त्र में आत्म-तत्व को लेकर सांख्य, न्याय, योग, वैशेषिक तथा वेदान्त आदि विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ है, उसी प्रकार काव्यशास्त्र में भी काव्य के आत्म-तत्व को लेकर , रस, अलं- कार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, तथा औचित्य आदि विविध सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ है। जिस प्रकार दर्शनशास्त्री आत्मा की निश्चितता में अभी तक एकत्व को नहीं प्राप्त कर सके और न ही प्राप्त होने की आशा है, सम्प्रति उसी स्थिति पर काव्याचार्य भी विद्यमान हैं। काव्याचार्यों के समक्ष सर्वप्रथम 'रस' तत्व आया जिसे उन्होंने काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषित किया। इसके उद्घोषक के रूप में आचार्य भरत का स्मरण किया जाता है। इसके पश्चात् 'अलंकार' तत्व को काव्य की आत्मा के स्थान का अधिकार प्राप्त हुआ, इसके आ- लंकारिक आचार्यों में भामह तथा दण्डी आदि की प्रसिद्धि है। आगे चलकर वामन आदि आचार्यों ने इस आलंकारिक मान्यता का विरोध किया और उसके स्थान पर 'रीति' नामक नवीन तत्व को प्रस्तावित किया, किन्तु आनन्दवर्द्धनाचार्य ने अपनी अलौकिक प्रज्ञा द्वारा इस रीतिवादी मान्यता को भी अस्वीकृत कर दियाऔर उसके स्थान पर 'ध्वनि' तत्व को प्रतिष्ठापित किया। अंततः इस तत्व द्वारा भी काव्य की आत्मा का निदर्शन न होते देख आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' नामक एक अन्य नवीन तत्व का अन्वेषण किया, किन्तु इस अन्वे- षण-कार्य में उनका परिश्रम भी व्यर्थ सिद्ध हुआ, अतः आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने अथक प्रयास के पश्चात्' औचित्य' नामक तत्व को साधिकार काव्यात्म-पद पर प्रतिष्ठापित किया। सम्प्रति इस सम्बन्ध में काव्याचार्य मूकवत् प्रतीत होते हैं, किन्तु भविष्य में पुनः किसी ऐसे नवीन तत्व की कल्पना की जा सकती है।

इस प्रकार निम्न उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि काव्या- त्मा जैसे महत्वपूर्ण तत्व का समाधान अनायास नहीं हो सकता था। अतः काव्याचार्यों ने स

इस तथ्य के समाधान हेतुपर्याप्त चिन्तन करने के पश्चात् अपनी-अपनी मान्यताओं को समु-
पस्थित किया है। काव्याचार्यों की ये विविध मान्यताएँ सम्प्रदायों के रूप में प्रसिद्ध हैं। अतः
काव्यात्मा की समाधानात्मक आधार-भूमि पर आधारित रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, तथा
औचित्य आदि समस्त सम्प्रदाय अपनी अध्ययनशीलता का परिचय देते हुए सम्प्रति काव्य -
शास्त्रीय इतिहास में अपना प्रभाव प्रकाशित कर रहे हैं। क्रमशः एक सिद्धान्त की अपेक्षा
दूसरे सिद्धान्त को शक्तिशाली बनाने का प्रयास, प्रत्येक प्रवर्तक द्वारा प्रकृष्ट रूप से किया
गया है। इसी कारण कोई भी पाठक या अध्येता यह निश्चय करनेमें सर्वथा असमर्थ हो जाता
है कि वस्तुतः काव्य की आत्मा का तत्व कौन सा है? पूर्वोल्लिखित समस्त सम्प्रदायों के ऊपर
पृथक्-पृथक् रूप में शोधकार्य हो चुका है। इस कार्य में सभी सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या
प्रस्तुतकी गयी है। सभी शोधक महानुभावों ने शोध-कार्य के लिए का निर्वाचित सम्प्रदाय के
अनुसार काव्य की आत्मा का निर्णय लिया है। अतः आज भी काव्य की आत्मा का निर्धारित रूप
सामने नहीं प्रस्तुत हो सका। काव्य की आत्मा का निर्धारित रूप
सामने न प्रस्तुत हो सकने का कारण समस्त सम्प्रदायों का पृथक्-पृथक् अध्ययन है, क्योंकि
पृथक्करण अध्ययन के द्वारा अध्येता एकांगी निर्णय के लिए बाध्य हो जाता है। अस्तु, आज
तथ्यों की नवीन व्याख्या के रूप में समस्त सम्प्रदायों के अध्ययन के अभाव को दूर करते
हुए आलोचना के सहारे निष्कर्ष रूप में काव्यात्मा की निष्पक्ष घोषणा करना ही मैंने अपने
शोध-कार्य का लक्ष्य बनाया है। अतः इस शोध-प्रबन्ध में काव्यात्मा का समुज्ज्वल स्वरूप ही
मुख्य प्राप्य होगा। इसी परिप्रेक्ष्य में मुख्य उद्देश्य से पृथक् होकर शोध-प्रबन्ध के प्रथम तथा
द्वितीय अध्यायों में काव्यशास्त्रीय स्वरूप का संक्षिप्त परिचय भी सन्निबद्ध किया गया है।
यद्यपि इस निबन्धन-कार्य ने शोध-प्रबन्ध को कुछ अनुचित विस्तृति अवश्य प्रदान की है, किन्तु
वैषयिक दृष्टि से यह कार्य सर्वथा आवश्यक सिद्ध हुआ है। अस्तु,

शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में काव्यशास्त्र के विकास का क्रम, काव्यशास्त्रीय
विविध नामकरणों का औचित्य , काव्य की परिभाषा, काव्य के हेतु, काव्य की उपादेयता,
काव्य का वर्गीकरण तथा काव्य की आत्मा आदि विविध शीर्षकों की आधार-भूमि पर काव्य-
शास्त्रीय स्वरूप का विवेचन प्रस्तुतकिया गया है। इसी परिप्रेक्ष्य में काव्यात्म-तत्व का भी
संक्षिप्त निदर्शन उपस्थित कि हो गया है।

द्वितीय अध्याय में भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्द-
वर्द्धन, भट्टनायक, राजशेखर, अभिनवगुप्त, धनंजय-धनिक, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र,
भोजराज, मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र, जयदेव, विश्वनाथ, केशवमिश्र, भानुदत्त, अप्पय-

दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर आदि प्रमुख आचार्यों का संक्षिप्त काव्यशास्त्रीय परिचय सन्निबद्ध किया गया है।

तृतीय अध्याय में 'रस' शब्द का अर्थ, रस-सम्प्रदाय, का उद्भव और विकास, रस की परिभाषा एवं उसका स्वरूप, रस-निष्पत्ति,विधायक भरत-सूत्र की व्याख्या, साधारणीकरण, रस की अलौकिकता, रसों की संख्या एवं उनका स्वरूप, रसों का पारस्परिक विरोध एवं उसका परिहार, रसों का प्रकृति - विकृति भाव, रसों की सुखदुःखरूपतादि शीर्षकों की आधार-भूमि पर रस का काव्यशास्त्रीय स्वरूप सन्निबद्ध किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में 'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति, अलंकार-सम्प्रदाय का ऐतिहासिक विकास-क्रम, प्रमुख आचार्यों द्वारा अलंकारों की संख्या का निर्धारण, अलंकारों का आधार-तत्व, एवं अलंकार तथा अन्य काव्यात्म-तत्व आदि शीर्षकों को आधार मानकर आलंकारिक काव्याचार्यों की मान्यताओं का सुन्दर निदर्शन किया गया है।

पंचम अध्याय में रीति की परिभाषा तथा स्वरूप, रीति का ऐतिहासिक विकास-क्रम, रीति के मुख्य भेद, रीति का आधार तत्व, रीति के नियामक तत्व, रीति का अपने सधर्मी प्रवृत्ति, वृत्ति तथा शैली से पार्थक्य, रीति का अन्य साम्प्रदायिक तत्वों से सम्बन्ध एवं रीति तथा गुण आदि शीर्षकों का साहाय्य लेकर रीति-सम्प्रदाय की वस्तुस्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

षष्ठ अध्याय में 'ध्वनि' शब्द का अर्थ, ध्वनि का प्रेरणा-स्रोत,ध्वनि का ऐतिहासिक विकास-क्रम, ध्वनि की परिभाषा, ध्वनि का विरोध तथा उसका परिहार, काव्यात्मरूप ध्वन्यर्थ का स्वरूप,ध्वनि के भेदोपभेद एवं ध्वनि तथा अन्य काव्यात्मतत्व नामक विविध शीर्षकों पर आश्रित होकर ध्वनि-सिद्धान्त के स्वरूप की वास्तविकता पर विचार किया गया है।

सप्तम अध्याय में वक्रोक्ति का ऐतिहासिक विकास-क्रम, वक्रोक्ति के भेदोपभेद, वक्रोक्ति एवं अन्य काव्यशास्त्रीय तत्व तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति आदि शीर्षकों का आश्रय लेकर वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्वरूपगत विशेषताओं को प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है।

अष्टम अध्यायमें औचित्य का स्वरूप, औचित्य का ऐतिहासिक विकास-क्रम औचित्य के प्रकार,औचित्य का अन्य साम्प्रदायिक तत्वों से सम्बन्ध एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में औचित्य आदि विविध शीर्षकों का सम्बल लेकर औचित्यवादी आचार्यों की सैद्धान्तिक मान्यताओं पर यथाशक्य प्रकाश डाला गया है।

नवम अध्याय में रस अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, तथा औचित्य आदि पूर्ववर्ती साम्प्रदायिक तत्वोंका पृथक् रूप में प्रकृष्ट अध्ययन करने के पश्चात् 'रसध्वनि' के रूप में काव्य की आत्मा का निर्णय लिया गया है। इसीअध्याय में शोध-प्रबन्ध के समापन की उद्घोषणा भी सांकेतिक रूप में प्राप्य होगी।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में प्रत्येक सम्प्रदाय के ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक स्वरूप का विस्तृत विवेचन सन्निहित किया गयाहै। मूल ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत करते हुए सम्बन्धित विषय को स्पष्ट एवं पूर्ण बनाने-हेतु यथासम्भव प्रयास किया गया है। अत्यावश्यक विषयों के ग्रहण एवं अनावश्यक के त्याग की मान्यता को आधार मानकर महत्वपूर्ण विषयों को ही विवेचन का विषय बनाया गया है। इस महत्वपूर्ण मान्यता की अवमानना न करने पर भी शोध-प्रबन्ध का समन्वित रूप अनावश्यक विस्तृति के परिवेश में समन्वित हो गया है। इसके लिए मात्र शोध-कार्य के वैषयिक स्वरूप को ही दोष-मुक्त किया जायेगा।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की सर्वांगीण समाप्ति के पश्चात् इस भूमिका-लेखन-कार्य में चंचल मन अतीत की ओर प्रेरित कर रहा है। जिसकी प्रेरणा के परिणामस्वरूप आज मैं दुःखातिरेक से विह्वल हो रहा हूँ, वह दिव्य विभूति(पूज्य गुरूवर स्व0आचार्य शिवाधार मिश्र, भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष, अतर्रापोस्ट ग्रेजुएट कालेज, अतर्रा(बाँदा)) इस नश्वर संसार को छोड़कर स्वर्गलोक में विराजमान हो चुकी है। मैंने कभी यह कल्पना भी नहीं की थी कि मेरे निर्देशक महोदय अपने निर्देशन की अधूरी स्थिति में ही मुझे परित्यक्त कर देंगे अथवा काल की गति पर किसका अधिकार है? विधाता की इस कारुणिक-क्रूरता से विस्मित होकर मननें मुझे इस दुःसाध्य कार्य से विरक्ति लेने के लिए प्रेरित, किया। अतः कुछ समय के लिए मेरा लेखन-कार्य अवरूद्ध होगया। इसी बीच गुरू जी के अनन्य शिष्य डा0 कृष्णकान्त त्रिपाठी , अध्यक्ष - संस्कृत विभाग, बी0एस0एस0डी0कालेज, कानपुर, जिन्हें मैंने पूर्ववर्ती गुरू के रूप में स्वीकार किया है, के करूण-हृदय का सम्बल प्राप्तकर अवशिष्ट शोध-कार्य यथाशीघ्र समाप्त करने के लिए मन उतावला हो उठा। अतीव विषम स्थिति में सम्मान्य डा0 साहब ने जिस उदारता के साथ निर्देशक बनने की मुझे स्वीकृति प्रदान की है, वह सर्वथा उदात्त एवं स्तुत्य कही जायेगी। उनकी इस असीम कृपा के लिए मैं आजीवन उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापित करना अपना परमावश्यक कर्तव्य समझूँगा। शोध-प्रबन्ध के लेखन-कार्य में मुझे अब से लेकर इति तक उनके आवश्यक निर्देश प्राप्त हुए हैं। इस शोध-प्रबन्ध के निर्माण-कार्य में अनेकानेक विद्वानों

विद्वानों के विचारों तथा उनकेग्रन्थों का सहयोग लिया गया है अतः उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना तो सर्वथा आवश्यक ही कहा जायेगा। इस स्थिति पर मैं आचार्य कृष्णदत्त चतुर्वेदी (अध्यक्ष — संस्कृत विभाग, अतर्रा पी०जी०कालेज, अतर्रा, बाँदा), एवं आचार्य जगदेव प्रसाद पाण्डेय(प्रवक्ता — संस्कृत विभाग, अतर्रा पी०जी०कालेज, अतर्रा, बाँदा)एवं डा० वेद प्रकाश द्विवेदी (प्रवक्ता — हिन्दी विभाग, अतर्रा पी०जी०कालेज, अतर्रा, बाँदा) आदि गुरु-जनवृन्द कोकैसे विस्मृत कर सकूँगा। समय समय पर प्राप्त होने वाले उनके आवश्यक निर्देशों के प्रतिमैं नतमस्तक होना चाहता हूँ। इसी परिप्रेक्ष्य में मैं अपने अभिन्न सम्बन्धी श्रीयुत रामप्रताप चतुर्वेदी जी के प्रति भी आभार प्रदर्शित करना अपना पावन कर्तव्य समझूँगा, यदि उनकी दैनन्दिन प्रेरणा का आधार न प्राप्त होता तो मेरे इस शोध-प्रबन्ध का स्वरूप निराधार ही सिद्धहोता। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य व्यक्ति भी इस शोध-प्रबन्ध के लेखन-कार्य में अतीव सहयोगी सिद्ध हुए हैं, उनका नामोल्लेख न करके मनसा स्मरण कर रहा हूँ।

निवेदक

अ०प्र०द्विवेदी

(अवधेश प्रसाद द्विवेदी)

प्रथम अध्याय

काव्य का स्वरूप

"चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥

—— भामह

प्रथम अध्याय

काव्य का स्वरूप

(1) काव्यशास्त्र के विकास का क्रम :—

काव्यशास्त्र के विकास का प्रारम्भ वैदिक युग से ही प्राप्त होता है, परन्तु इस युग में इस सम्बन्ध में ऐसा कोई प्रामाणिक और सर्वांगी ग्रन्थ नहीं प्राप्त होता है कि जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अमुक व्यक्ति इस शास्त्र का प्रवर्तक है। काव्यों के शास्त्रीय स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला प्रथम ग्रन्थ आचार्य भरत द्वारा लिखित — 'नाट्यशास्त्र' प्राप्त हुआ है। इसके पश्चात् आचार्य भामह का 'काव्यालंकार' प्रकाश में आया। तदनन्तर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना में क्रमशः अभिवृद्धि होती रही है। इस अभिवृद्धि के विकास-क्रम को चार कालों में विभक्त किया गया है —

(क) प्रारम्भिक काल — वैदिक युग से लेकर भामह के पूर्व तक।

(ख) रचनात्मक काल — भामह से लेकर आनन्दवर्धन के पूर्व तक।

(ग) निर्णयात्मक काल — आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक।

(घ) व्याख्यात्मक काल — मम्मट के बाद से लेकर विश्वेश्वर पाण्डेय तक।

(क) प्रारम्भिक काल :—

इसका प्रारम्भ वैदिक युग से होता है। वैदिक साहित्य में अन्तर्भूत वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् एवं वेदांगों के अतिरिक्त रामायण तथा महाभारत आदि अन्य साहित्यिक रचनाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस युग में काव्यशास्त्रीय बीजों का वपन-कार्य सम्पन्न हो चुका था। परन्तु इस युग में काव्यशास्त्र से सम्बन्धित कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं प्राप्त हो सका। इस सम्बन्ध में प्राचीनतम ग्रन्थ आचार्य भरत द्वारा विरचित — 'नाट्यशास्त्र' ही प्राप्य है। इसमें रस एवं नाट्य सम्बन्धी तत्वों का पूर्ण विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त उपमा, दीपक एवं रूपक तथा यमक — इन चार अलंकारों, दस गुणों तथा दस दोषों का निरूपण करके काव्यशास्त्र की शास्त्रीय नींव का भी शिलान्यास किया गया है।

आचार्य भरत के पश्चात् मेधाविन् का नाम लिया जाता है, किन्तु इनका कोई भी ग्रन्थ अद्यावधि समुपलब्ध नहीं हो सका। केवल इनके उदाहरणों का अन्य ग्रन्थों

में अवलोकन उपलब्ध है। इसी क्रम में कुछ विद्वान् 'अग्निपुराण' को भी इतद्कालिक मानते हैं। यद्यपि अधिकांश समालोचकों ने इसे कालान्तर की रचना स्वीकार किया है। इस ग्रन्थ के 337 से 347 तक के ग्यारह अध्यायों में काव्य के महत्व, लक्षण और भेद नाट्य-विषय, रस, रीति, वृत्ति, नायिका-भेद, अलंकार, गुण एवं दोष आदि विविध काव्यशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

(ख) रचनात्मक काल :—

काव्यशास्त्रीय विकास के क्रम का दूसरा काल रचनात्मक काल के नाम से अभिहित किया गया है। इसका निर्धारण आचार्य भामह से लेकर आनन्दवर्धनाचार्य के पूर्व तक किया गया है। काव्यशास्त्र के विकास की दृष्टि से यह काल अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस युग में काव्य में अलंकारों की प्रधानता का सम्यक् निरूपण किया गया है। इस युग में आविर्भूत होने वाले भामह, दण्डी उद्भट एवं रूद्रट आदि काव्याचार्यों ने अलंकारों का विशद विवेचन करने के उपरान्त यह सिद्ध किया है कि काव्य की सौन्दर्यानुभूति एवं अभिवृद्धि अलंकारों द्वारा ही सम्भाव्य है। इसके पश्चात् आचार्य वामन ने काव्य की शोभा का विधायक तत्व रीति को स्वीकार किया, जिसका समर्थन आगे चलकर आचार्य दण्डी ने भी किया। इसी काल में आचार्य भरत के रस-सूत्र की विशद व्याख्या के उपरान्त काव्य की आत्मा के रूप में रस-सिद्धान्त का भी प्रवर्तन हुआ।

(ग) निर्णयात्मक काल :—

इस काल में ध्वनि और वक्रोक्ति सिद्धान्तों का प्रवर्तन हुआ। इनमें से ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन माने गये हैं। उनके अनुसार काव्य में ध्वनि ही सौन्दर्य-विधायक तत्व है। रस, गुण, रीति तथा अलंकार आदि सभी उसके ही गुणों का संवर्धन करते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा विरचित ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' की टीका करने वाले आचार्य अभिनव गुप्त ने उनके सिद्धान्त का समर्थन करते हुए उसका पूर्ण प्रचार किया। इसके अनन्तर आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' नामक अपने ग्रन्थ की रचना करके ध्वनि-विरोधियों की युक्तियों का कठोरतम शब्दों में खण्डन किया और ध्वनि तत्व के निर्भ्रांत स्वरूप को स्थापित किया। इसके पश्चात् अन्य किसी आलंकारिक ने ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन करने का साहस नहीं किया। अतः इसे ही काव्य की आत्मा के रूप में मान्यता प्राप्त हुई।

आनन्दवर्धनाचार्य के पश्चात् आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति-जीवित' नामक ग्रन्थ की रचना करके 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया था, किन्तु यह सर्वथा आत्म-तत्व के रूप में मान्यता नहीं प्राप्त कर सका। इस प्रकार आनन्दवर्धन, अभिनव-गुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, रुद्रट, भोजराज, धनिक, धनंजय एवं मम्मट आदि इस काल के काव्याचार्यों में परिगणित हैं।

<u>(घ) व्याख्यात्मक काल :—</u>

काव्यशास्त्रीय विकास का चतुर्थ काल 'व्याख्यात्मक काल' के नाम से अभि-हित किया गया है। यह काल आचार्य मम्मट के समय से लेकर अठारहवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय तक माना जाता है। पूर्व प्रचलित समस्त सिद्धान्तों की सम्यक् व्याख्या का प्रतिपादन किए जाने के कारण इस काल के नामकरण की सार्थकता है। इस काल में उत्पन्न होने वाले रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्याधर, शिंगभूपाल, रूपगोस्वामी, भानुदत्त तथा विश्वेश्वर आदि आचार्यों ने काव्य के उपर्युक्त आवश्यक तत्वों की सम्यक् विवेचना में अपने-अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त इसी युग में उत्पन्न आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा 'औचित्य' नामक नवीन काव्यात्म-सिद्धान्त की गवेषणा करके काव्यशास्त्र की सैद्धान्तिक शृंखला में एक कड़ी और जोड़ दी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल से लेकर 18वीं शताब्दी तक लगभग दो हजार वर्षों में भव्य काव्यशास्त्र का इतिहास व्याप्त है। आचार्य भरत से लेकर आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय तक के मान्य समालोचकों ने अपनी सूक्ष्म विषयग्राहिणी बुद्धि के द्वारा जिन रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य आदि आलोचनात्मक काव्य-तत्वों की उद्भावना की है, वे आलोचना-जगत् के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। सम्प्रति संस्कृत के काव्यशास्त्रीय समालोचक इस कार्य में अन्यमनस्क प्रतीत होते हैं, क्योंकि आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय के पश्चात् ऐसे स्पृहणीय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है अथवा प्राचीन काव्याचार्यों ने इस सम्बन्ध में कुछ अवशिष्ट ही नहीं रखा, जिसकी पूर्ति वर्तमान संस्कृत काव्याचार्यों द्वारा सम्भाव्य होती। इसके विपरीत हमारे हिन्दी-साहित्य के मान्य समालोचक इस साहित्य की अभिवृद्धि हेतु कृत संकल्प दिखायी पड़ते हैं क्योंकि हिन्दी साहित्य में एतद्विषयक आलोचनात्मक ग्रन्थों की निरन्तर अभिवृद्धि होती जा रही है।

(2) काव्यशास्त्रीय विविध नामकरणों का औचित्य :—

काव्य के गुणदोषों की आलोचना एवं प्रत्यालोचना-विधायक ग्रन्थों को अलंकारशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र आदि विविध नामों से अभिहित किया गया है। अतः इनकी यथार्थता पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

(क) अलंकार शास्त्र :—

भामह[1] उद्भट[2] वामन[3] एवं रुद्रट[4] आदि प्राचीन आचार्यों ने अपने-अपने आलोचनात्मक ग्रन्थों के नामकरण में 'अलंकार' शब्द का प्रयोग किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि काव्यशास्त्रीय विकास के प्रारम्भिक काल में काव्य की समालोचना के विधायक ग्रन्थों को 'काव्यालंकार' नाम दिया जाता रहा होगा। इस सम्बन्ध में एक तथ्य यह भी है कि समालोचना के प्रारम्भिक युग में काव्य का प्रमुख सौन्दर्य-विधायक तत्व 'अलंकार ही माना जाता था। इसके पश्चात् कुछ सामयिक परिवर्तन के आधार पर -'काव्यालंकार' के स्थान पर 'अलंकारशास्त्र' पद का प्रयोग होने लगा। इस सम्बन्ध में 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की रत्नापण-टीका के पृष्ठ 3 को प्रामाणिक तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है —

> "यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलंकारशास्त्रमुच्यते।"[5]

अर्थात् यद्यपि काव्य के रस, गुण, दोष तथा अलंकार आदि विविध तत्व समालोचना के विषय रहे तथापि इन सबमें अलंकार को ही प्रधानता दिए जाने के कारण छत्रिन्याय से इस शास्त्र का नाम 'अलंकारशास्त्र' है।

(ख) सौन्दर्यशास्त्र :—

कुछ आचार्यों ने समालोचना-विधायक शास्त्रों के नामकरण में 'सौन्दर्यशास्त्र' को भी अन्तर्भूत किया है, किन्तु काव्यशास्त्रीय इतिहास में किसी भी ग्रन्थ का नाम इस प्रकार नहीं उल्लिखित किया गया है। अलंकार को ही सौन्दर्य का पर्याय के रूप में माना गया है। दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट तथा भोज आदि आचार्यों ने का काव्य में सौन्दर्य की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है। अतः अलंकार को सौन्दर्यपरक मानकर इस विद्या का नाम 'सौन्दर्यशास्त्र' या 'काव्यसौन्दर्यशास्त्र' रखा जा सकता है। सम्प्रति इस नाम से सम्बन्धित एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।[6]

1- काव्यालंकार, 2- अलंकारसारसंग्रह, 3- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 4- काव्यालंकार,

(ग) साहित्यशास्त्र :—

काव्य के लिए 'साहित्य' शब्द का प्रयोग सातवीं-आठवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो गया था। सर्वप्रथम आचार्य राजशेखर ने काव्य की समालोचना के लिए 'साहित्य-विद्या' पद का प्रयोग किया है।[1] इसके पश्चात् यह विद्या 'साहित्य-विद्या' या 'साहित्यशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हुई। आगे चलकर आचार्य रुय्यक एवं आचार्य विश्वनाथ ने इस नाम-करण को स्वीकार किया और इससे प्रभावित होकर अपने ग्रन्थों के नाम क्रमशः 'साहित्य-मीमांसा' और 'साहित्यदर्पण' रखा। इन आचार्यों की स्वीकारोक्ति से 'साहित्यशास्त्र' नाम अत्यधिक व्यापक और लोक प्रिय हुआ।

(घ) काव्यशास्त्र :—

सम्प्रति काव्य की समालोचना-विधायक ग्रन्थों का नाम विशेष रूप से 'काव्य-शास्त्र' के रूप में प्राप्त होता है। काव्य के विभिन्न अंगों की समीक्षा का प्रतिपादक होने के कारण 'काव्यशास्त्र' नाम सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। इस नाम का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य भोजराज ने किया है। उन्होंने 'शास्त्र' पद की व्युत्पत्ति 'शासनात् शास्त्रं' करते हुए लिखा है कि जो विधि या निषेध का ज्ञान कराने वाला है, उसका अध्ययन करना चाहिए। इसी को लेकर लोकव्यवहार का संचालन होता है। इस विधि या निषेध के तीन हेतु हैं —(1) काव्य (2) शास्त्र और (3) इतिहास। इन तीनों के मिश्रण से तीन हेतु और बनते हैं — (1) काव्यशास्त्र (2) काव्येतिहास और (3) शास्त्रेतिहास। इस प्रकार काव्य, शास्त्र, इतिहास, काव्यशास्त्र, काव्येतिहास एवं शास्त्रेतिहास के रूप में विधि और निषेध के छः भेद हो जाते हैं। इन्हें सम्बन्धित ग्रन्थ[2] में इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है—

"यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥
काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्॥

काव्य के लिए प्रयुक्त उक्त नामकरणों के अतिरिक्त डा0 राघवन ने 'क्रियाकल्प' नामक एक अन्य नाम को भी प्रस्तुत किया है,[3] किन्तु डा0 पी0वी0 काणे

1- पंचमी साहित्यविद्येति यायावरीयः।
सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः ॥— काव्यमीमांसा

2- सरस्वती कण्ठाभरण 2/138-39 भोजराज। 3- सम कन्सेप्ट्स आफ अलंकारशास्त्र, पृ0264-67 — डा0 राघवन्

ने उसे अपने उपयुक्त तर्कों द्वारा अस्वीकरणीय बना दिया है।[1]

नामकरण में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग

काव्य के लिए प्रयुक्त उपर्युक्त नामकरणों में 'शास्त्र' शब्द को संयुक्त करने का क्या प्रयोजन हो सकता है — यह सर्वथा विचारणीय है। सामान्य रूप से 'शास्त्र' शब्द 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थात् शासन करने वाला — इस अर्थ का बोधक है। शासन का अर्थ, मनुष्य को किसी कार्य की ओर प्रेरित करना अथवा किसी कार्य से पृथक करना है। वेद, स्मृति और धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थ मनुष्य को विविध कार्यों के सम्पादन का आदेश देते हैं, अतः उन्हें 'शास्त्र' कहा जाता है, किन्तु काव्य के साथ इस अर्थ में 'शास्त्र' शब्द को संयुक्त करना उचित नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि काव्य का प्रयोजन उपदेश देना होगा भी तो शासन के रूप में न होकर 'कान्तासम्मित' अर्थात् रस-प्रधान होगा। ऐसी स्थिति में यहा 'शास्त्र' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होगा — शंसनात् शास्त्रम्' अर्थात् किसी गूढ़ तत्व का शंसन करने वाला या प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ 'शास्त्र' कहलाता है। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर अलंकार शास्त्र, साहित्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र आदि नामों में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यालोचन की विधा को अलंकारशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र एवं 'क्रियाकल्प आदि विविध नामों से अभिहित किया गया है। इनमें से इस विधा के लिए 'अलंकारशास्त्र' नाम सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि काव्य में अलंकारों की स्थिति कटक एवं कुण्डल आदि आभूषणों के समान है, जिस प्रकार आभूषण मनुष्य के शरीर की शोभा में अभिवृद्धि करते हैं, उसी प्रकार अलंकार काव्य के जीवनाधायक तत्व रस की शोभा में आधिक्य का द्योतन मात्र करते हैं। अतः रस तत्व को गौण बनाकर अलंकारों की प्रधानता द्वारा इस शास्त्र की संज्ञा — 'अलंकारशास्त्र' उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार 'सौन्दर्यशास्त्र' एवं 'क्रियाकल्प' भी कोई महत्वपूर्ण तथ्य न होने के कारण इस स्थिति तक आने में असमर्थ हो जाते हैं। अन्ततः अवशिष्ट नामों में से इस विधा को 'साहित्यशास्त्र' या 'काव्यशास्त्र' के रूप में अभिहित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में डा० रामानन्द द्विवेदी का निम्नलिखित कथन सर्वथा निर्णायक सिद्ध होगा —

1- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास — पृष्ठ संख्या 424-26, डा० पी०वी० काणे

"शब्दार्थ का साहित्य काव्य है, अतः उसकी मीमांसा करने वाले शास्त्र को लक्षण या लक्ष्य(काव्य) दोनों में से किसी एक आधार पर नाम दिया जा सकता है— 'साहित्यशास्त्र' (लक्षण के आधार पर) या 'काव्यशास्त्र'(लक्ष्य के आधार पर) दोनों ही समान रूप से ग्राह्य हैं। भामह के 'काव्यालंकार' का 'अलंकार' शब्द तो संस्कृत में ही दो-तीन शताब्दियों के बाद अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों के नाम से लुप्त हो गया था, पर 'काव्य' शब्द सुदीर्घ शताब्दियों तक चलता रहा है। दशम शतक के प्रारम्भ में राजशेखर का — 'काव्यमीमांसा' एकादश में मम्मट का 'काव्यप्रकाश', द्वादश में हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' और चतुर्दश शतक में श्रीवत्सलांछन का 'काव्यपरीक्षा' आदि ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं कि लक्ष्य(काव्य) के अनुसार इस शास्त्र का नाम रखना उचित और न्यायसंगत होगा। इधर हिन्दी में जो ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें 'साहित्यशास्त्र'(बलदेव उपाध्याय, ग0त्र्य0देश पाण्डेय) तथा 'काव्यशास्त्र(भगीरथ मिश्र) दोनों का ही प्रयोग मिलता है, पर अधिक रुझान 'काव्यशास्त्र' की ओर दिखायी पड़ता है।"[1]

<u>(3) काव्य की परिभाषा :—</u>

प्रत्येक समालोचक अपने युगानुकूल काव्यात्मक-स्थिति को अपने मनोऽनुकूल पारिभाषित करता है। अतः उनकी काव्य-परिभाषाओं में पर्याप्त पार्थक्य प्राप्त होता है। इन काव्य परिभाषाओं का ऐतिहासिक ढंग से अनुशीलन करने पर हमें उसके विकासक्रम का एक निश्चित मापदण्ड प्राप्त होगा ——

(क) अग्निपुराणकार के अनुसार गुणों से परिपूर्ण, दोषों से दूर तथा स्पष्ट अलंकारों से भरपूर अभीप्सित अर्थ को संक्षिप्त रूप में अभिव्यक्त करने वाला पद-समूह काव्य कहलाता है — "संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्॥"[2]

(ख) आचार्य भामह ने शब्द और अर्थ के साहचर्य को काव्य कहा है —
"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"[3]

(ग) आचार्य दण्डी ने अग्निपुराण में प्राप्त परिभाषा को ही संकलित किया है —
"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।"[4]

1- भारतीय काव्यशास्त्र, पृष्ठ 11, डॉ0 उदयभानु सिंह (सम्पादक)

2- अग्निपुराण 336/6-7 3- भामह- काव्यालंकार - 1/16

4- काव्यादर्श — 1/10

(घ) आचार्य वामन के अनुसार गुण और अलंकारों से समन्वित शब्दार्थ काव्य पद से अभिहित किया जाता है —

"काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।"[1]

(ङ) आचार्य रूद्रट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य भामह का अनुकरण करते हुए शब्द और अर्थ के सामूहिक रूप को काव्य माना है —

"ननु शब्दार्थौ काव्यम्।"[2]

(च) आचार्य आनन्दवर्धन ने सहृदयों को रूचिकर लगनेवाले शब्दार्थ को काव्य पद से सम्बोधित किया है —

"सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।"[3]

(छ) आचार्य राजशेखर ने काव्य को एक पुरुष मानकर उसके सभी साहित्यिक अंगों का निर्धारण अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया है —

"शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति।"[4]

(ज) आचार्य कुन्तक द्वारा काव्य-मर्मज्ञों को आनन्दित करने वाले उक्तिवैचित्र्य से परिपूर्ण शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप को काव्य की संज्ञा से अभिहित किया गया है —

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।"[5]

(झ) आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस-सिद्ध काव्य के सभी आवश्यक तत्वों के समुचित विन्यास को काव्य कहा है —

"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।"[6]

(ञ) महाराज भोज द्वारा अपनी काव्य-परिभाषा में काव्य के शरीर का उल्लेख नहीं किया गया किन्तु काव्यशरीर को अलंकृत करने वाले दोष-रहित्य एवं गुण, अलंकार तथा रस आदि आवश्यक तत्वों के समावेश को काव्य कहा गया है —

1- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/1/1-3
2- रूद्रट- काव्यालंकार 2/1
3- ध्वन्यालोक 1/1 की वृत्ति
4- काव्यमीमांसा, पृ0 13-14
5- वक्रोक्ति जीवित — 1/7
6- औचित्यविचारचर्चा — 4,5

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।

रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।[1]

(ट) आचार्य मम्मट ने निर्दोष, सगुण एवं यथावसर अलंकार-युक्त शब्द और अर्थ के समन्वित रूप को काव्य का लक्षण स्वीकार किया है —

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।"[2]

(ठ) हेमचन्द्र, वाग्भटाचार्य एवं विद्यानाथ आदि आचार्यों ने आचार्य मम्मट की काव्य-परिभाषा को ही येनकेन प्रकारेण प्रस्तुत किया है।[3]

(ड) चन्द्रालोककार आचार्य जयदेव के अनुसार दोष-रहित तथा रीति एवं गुणों से विभूषित और अलंकार, रस एवं अनेक वृत्तियों से युक्त वाणी काव्य कहलाती है —

"निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्।"[4]

(ढ) आचार्य विद्याधर ने ध्वनि-सम्पन्न शब्द और अर्थ के समन्वित रूप को काव्य कहा है—

"शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः ॥"[5]

(ण) आचार्य विश्वनाथ ने रस से परिपूर्णवाक्य को काव्य कहा है —

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।"[6]

(त) आचार्य प्रवर पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द-समूह को काव्य की संज्ञा से अभिहित किया है —

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"[7]

इस प्रकार विभिन्न काव्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-परिभाषाओं का ऐतिहासिक-क्रम से अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनकी काव्य-परिभाषाओं में व्यष्टि एवं समष्टि रूप से शब्दार्थ, सालंकारता, सगुणता, निर्दोषता एवं सरसता आदि विविध तत्वों का समावेश हुआ है। अतः यदि हम इन तत्वों का पूर्णतया विश्लेषण करें तो सभी आचार्यों के प्रायोगिक अभिप्रायों एवं काव्य के पूर्ण स्वरूप का ज्ञान सरलतापूर्वक हो जायेगा।

1- सरस्वतीकण्ठाभरण, 1/2   2- काव्यप्रकाश, 1/4

3- अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्, —काव्यानुशासन-पृ0 16 हेमचन्द्र

गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ। गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः॥ प्रताप0पृ042

च शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्। — काव्यानुशासन, पृ0 14 वाग्भट

4-चन्द्रालोक 1/7, 5- एकावली, 1/13, 6- साहित्यदर्पण, 1/3, 7-रसगंगाधर, पृ02

शब्दार्थ :—

इस तत्व द्वारा काव्य के बाह्यस्वरूप का निर्माण होता है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भामह ने किया है। इसके पश्चात् क्रमशः वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन राजशेखर, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र, वाग्भट, विद्यानाथ एवं विद्याधर आदि आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में काव्य के स्वरूप विवेचन में इसका उल्लेख किया है। इन के अनुसार शब्द और अर्थ का समन्वित रूप ही काव्य होता है। शब्द या अर्थ व्यष्टि रूप में काव्य की संज्ञा से अभिहित नहीं किए जा सकते। इस अभिप्राय का समर्थन प्रायः सभी आचार्यों ने किया है, किन्तु कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जो इस अभिप्राय या अभिमत के विरोधी सिद्ध होते हैं। ऐसे आचार्यों में महाकवि व्यास (अग्निपुराणकार), दण्डी एवं पण्डितराज जगन्नाथ के नाम लिए जा सकते हैं। इन आचार्यों के अनुसार काव्य के बाह्यस्वरूप का निर्माण मात्र शब्द से होता है, शब्द और अर्थ दोनों से नहीं। इस प्रकार ये आचार्य शब्दार्थ के व्यष्टि रूप केवल शब्द को ही काव्य के बाह्य-स्वरूप का निर्माता के रूप में स्वीकार करते हैं। शब्द एवं अर्थ का समन्वित रूप काव्य नहीं हो सकता वरन् केवल शब्द से ही काव्य का निर्माण होगा — ऐसा क्यों? इस सम्बन्ध में आचार्य व्यास एवं दण्डी ने अपने-अपने ग्रन्थों में कोई तथ्य नहीं प्रस्तुत किए, किन्तु आचार्यप्रवर पण्डितराज जगन्नाथ ने शब्दार्थ के समन्वित रूप के काव्य न होने के कारणों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं ——

(1) प्रामाणिक तथ्य का अभाव :—

पण्डितराज का कथन है कि शब्द एवं अर्थ के समन्वित रूप को काव्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत 'काव्य को उच्च स्वर से पढ़ा जाता है, काव्य से अर्थ का ज्ञान होता है, काव्य को सुना, किन्तु अर्थ का ज्ञान नहीं हुआ' इत्यादि लौकिक व्यवहार के प्रामाणिक वातावरण से काव्यत्व की प्राप्ति शब्द-विशेष से ही होती है ——

"यत्तु प्राचः —— शब्दार्थौ काव्यम्" इत्याहुः तत्र विचार्यते। शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्। मानाभावात्। काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः इत्यादि विश्वजनीनव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च।[1]

1- रसगंगाधर — पृष्ठ संख्या 5

(2) शास्त्रीय सहमति का अभाव :—

पण्डितराज ने शब्दार्थ के समन्वित रूप को काव्य न मानने हेतु दूसरा कारण शास्त्रीय सहमति का अभाव बताया है। उनका कथन है कि काव्यत्व के कारण शब्द और अर्थ समष्टि रूप में हैं अथवा व्यष्टि रूप में? इस प्रश्न के उत्तर में शब्द और अर्थ की समष्टि काव्य का कारण हो ही नहीं सकती, क्योंकि जिस प्रकार एक और एक (1+1=2) मिलकर दो होते हैं, दो के अवयव रूप एक को दो नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार श्लोक के वाक्य को भी काव्य नहीं कहा जा सकेगा। काव्यत्व शब्द एवं अर्थ के व्यष्टि रूप में रहता है — ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक ही पद्य में दो काव्यों का व्यवहार होने लगेगा। अतः जिस प्रकार वेद शास्त्र, पुराण आदि शब्द-निष्ठ होते हैं उसी प्रकार काव्य भी शब्द-निष्ठ होता है —

"अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तं, प्रत्येक पर्याप्तं वा, नाद्यः एको न द्वाविति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं, 'न काव्यमिति' व्यवहारस्यापत्तेः। न द्वितीयः एकस्मिन् पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। तस्माद्वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।"[1]

पण्डितराज द्वारा प्रस्तावित दोनों आलोचनाएँ उपयुक्त नहीं प्रतीत होतीं क्योंकि ये दोनों आलोचनाएँ अत्यन्त सरलतापूर्वक निरस्त हो जाती हैं —

पण्डितराज की प्रथम आलोचना स्वयं उनके शब्दों के आधार पर निरस्त कर दी जाती है। उन्होंने इसी सन्दर्भ में लिखा है —

"व्यवहारः शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत्, स्यादप्येवं यदि काव्यपदार्थतया पराभिमते शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्तेः प्रमापकं दृढतरं किमपि प्रमाणं स्यात्। तदेव तु न पश्यामः। विगतमाच्यं त्वद्वचेयमेन।"[2]

अर्थात् काव्यत्व केवल शब्द में होता है — ऐसा व्यावहारिक ज्ञान होता है, किन्तु यदि कोई दूसरा किसी दूसरी शक्ति द्वारा कोई इससे भी दृढ़ व्यावहारिक प्रमाण शब्दार्थ-युगल को काव्यत्व सिद्ध करने में प्रस्तुत करे तो हम उसकी ओर दृष्टिपात ही नहीं करेंगे, क्योंकि विरोधी वाक्य श्रद्धा द्वारा ग्रहणीय नहीं होता है।

1- रसगंगाधर, पृष्ठ संख्या 6

2- रसगंगाधर, पृष्ठ संख्या 5

उक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि पण्डितराज के मन में अपने प्रथम आलोचना-सम्बन्धी- तथ्य की परिपुष्टि-हेतु पूर्ण सन्देह विद्यमान था। इसीलिए उन्होंने अयोग्य शब्दों का कथन किया है। दृढ़तर प्रमाण के प्राप्त होने पर भी अपने कथन पर अडिग रहकर दूसरे के कथन की ओर ध्यान न देना उन जैसे मूर्धन्य आचार्य के लिए उपयुक्त न कहा जा सकेगा। अतः उनके उक्त संदिग्ध कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द और अर्थ का समन्वित रूप ही काव्यत्व का प्रतिपादक होगा।

पण्डितराज की शब्दार्थसमन्वित काव्यस्वरूपविरोधी द्वितीय आलोचना की युक्तियों का खण्डन -'रसगंगाधर' के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य नागेशभट्ट के निम्न-लिखित कथन द्वारा हो जाता है —

"आस्वादव्यंजकत्वस्योभयत्राप्यविशेषात् चमत्कारिबोधजनकतानिरूपितावच्छे-दक धर्मत्वरूपस्यानुपपत्तेनीय काव्यत्वस्य प्रकाशाद्युक्तावपतावच्छेदकस्योभयवृत्तित्वाच्च काव्यं पठितम्, काव्यं श्रुतम्, काव्यं बुद्धमित्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति। अतएव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादक, 'तदधीते तद्वेद'(5/2/59) इति सूत्रस्थो भगवान् पतंजलिः संगच्छते। तत्रान्यतरस्मिन्नपि तत्वात् 'एको न द्वौ' इतिवत् न तदापत्तिः। तेनानुपपत्तेनीय काव्यलक्षणं प्रकाशोक्तं निर्बाधम्।"[1]

अर्थात् काव्य का प्रयोजन रस के आस्वादन की अभिव्यंजना करना है। वह शब्द एवं अर्थ दोनों की समष्टि में समान रूप से अवस्थित रहता है। काव्य पढ़ा, काव्य सुना एवं काव्य को समझा — ऐसा द्विपक्षीय लोकव्यवहार भी दृष्टिगोचर होता है। अतः काव्यत्व की प्रतीति शब्द एवं अर्थ के समष्टि रूप से होती है। काव्यप्रकाश में काव्य के उपहसनीय न होने में निर्दोषता, सगुणता, सालंकारता आदि तत्वों का उपयोग शब्द तथा अर्थ दोनों में होता है। काव्यत्व को शब्द एवं अर्थ की समष्टि में मानने पर ही 'तदधीते तद्वेद' इस पाणिनिसूत्र के महाभाष्य में भाष्यकार पतंजलि मुनि ने वेदत्व आदि को जो शब्दार्थ का समष्टिगत धर्म माना है, उसकी उपयोगिता उपयुक्त है। इस प्रकार काव्यत्व मुख्य रूप से शब्दार्थ का समष्टिगत धर्म है, परन्तु लक्षणा शक्ति द्वारा केवल शब्द एवं केवल अर्थ में भी काव्य माना जा सकता है। अतः 'एको न द्वौ' के समान लोक वाक्य में इस प्रकार के व्यवहार की प्राप्ति असम्भाव्य होगी। अतएव काव्यप्रकाश के अनु-सार शब्द एवं अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य मानने में कोई बाधा नहीं है।

1- काव्यप्रकाश — पृष्ठ 24 व्या0आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि।

इस सम्बन्ध में पण्डितराज के अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि 'कवेः कर्म काव्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'काव्य' कवि का कार्य है। कवि शब्द एवं अर्थ में से शब्दों का ही निर्माण करता है, अर्थ का नहीं। अतः शब्द ही कवि कर्म का विषय होने से काव्य कहा जा सकता है, शब्द एवं अर्थ दोनों नहीं।[1]

शब्दार्थ-समन्वित काव्य स्वरूप के विरोधी आचार्यों का उक्त मत भी युक्ति-युक्त नहीं कहा जा सकता है क्योंकि कवि जिस प्रकार शब्दों की रचना करता है उसी प्रकार वह अर्थों की भी रचना करता है। यद्यपि अर्थ स्वयं सिद्ध होते हैं तथापि काव्य-जगत् में कुछ ऐसे भी अर्थ देखे जाते हैं जिनका अवस्थान लोक में नहीं होता। ऐसी स्थिति में क्या यह कहा जा सकता है कि इन अर्थों में कवि की कर्तृता नहीं है? ऐसे ही अर्थों को वैयाकरण आचार्यों ने 'बौद्ध' अर्थ कहा है। ये अर्थ बाह्य-जगत् में नहीं है, कवि की प्रतिभा में ही इनका निवास-स्थान है। ऐसे ही अर्थों को लेकर ध्वनि-काव्य के प्रभेदों में 'कवि प्रौढ़ोक्ति' की चर्चा आती है। यहाँ व्यंजक अर्थों के दो भेद किए गये हैं — स्वतः सम्भवी एवं कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध। आचार्य आनन्दवर्धन ने इनका पूर्ण विवरण देते हुए लिखा है ——

"प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः ।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥"

सम्पूर्ण काव्यार्थ के इन दो भागों में से प्रथम भाग निश्चित रूप से कवि की अपनी कृति है। जिस सिद्धि की दृष्टि से देखने पर तो किसी-किसी के मत से वर्ण, पद तथा वाक्य तक नित्य हैं, फिर वे ही क्यों कवि के कर्म होने लगे? तात्पर्य यह है कि इस सिद्ध, असिद्ध एवं नित्य तथा अनित्य के झगड़ों से ऊपर उठकर देखा जाय तो शब्द एवं अर्थ दोनों ही कवि-कर्म अर्थात् काव्य कहे जा सकते हैं।[2]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि काव्य का मुख्य उद्देश्य रसास्वादन कराना है। रसास्वादन की यह क्षमता शब्द और अर्थ की समष्टि में ही सम्भाव्य है। रसास्वादन की यह क्षमता शब्द मात्र में सर्वथा असम्भव है। आचार्य मम्मट ने इसी उद्देश्य को लक्ष्य करके लिखा है कि शब्द को व्यंग्यार्थ की अभिव्यंजना के लिए अर्थ की एवं अर्थ को व्यंग्यार्थ की अभिव्यंजना के लिए शब्द की समान रूप से सहकारिता अपेक्षित होती है —[3]

1- भारतीय साहित्यदर्शन, पृ0 5, डा0 राममूर्ति त्रिपाठी
2- वही,
3- काव्यप्रकाश, 3/3 व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता॥

इसके अतिरिक्त पण्डितराज ने स्वयं प्रत्येक शब्द में काव्यत्व को नहीं स्वीकार किया है। उन्होंने उसी शब्द में काव्यत्व माना है जो रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ है। अतः अप्रकट रूप में उन्होंने भी शब्दार्थ की समष्टि में ही काव्यत्व को स्वीकार किया है। अतः यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो शब्द और अर्थ दोनों का सम्बन्ध अनिवार्य है। एक के बिना दूसरा निरर्थक सिद्ध हो जाता है। अतः शब्द और अर्थ दोनों का समन्वित रूप ही काव्य कहा जाना चाहिए।

सालंकारता :—

काव्य के बाह्यस्वरूप का निर्धारण हो जाने के पश्चात् उसके अन्तस्तत्व का निरूपण आवश्यक हो जाता है, किन्तु अन्तस्तत्व का निरूपण काव्यात्मवाद के विविध सम्प्रदायों के रूप में किया जायेगा। यहाँ काव्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि के सहयोगी तत्वों का निरूपण किया जा रहा है। इन तत्वों में सबसे प्रमुख तत्व अलंकार है। इसका उल्लेख सर्वप्रथम अग्निपुराणकार आचार्य व्यास ने किया है। तदनन्तर आचार्य भामह के 'काव्यालंकार' में इस तत्व का सन्निवेश प्राप्त होता है। यद्यपि उन्होंने अपने काव्यलक्षण में इस तत्व का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया किन्तु यदि हम उनकी काव्य-परिभाषा के पूर्वापर प्रसंग का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि आचार्य भामह केवल अलंकारों से अलंकृत शब्दार्थ के समन्वित रूप को ही काव्य मानते हैं। उनके अनुसार यदि शब्द एवं अर्थ की समष्टि में अलंकारों का सन्निवेश नहीं किया गया तो वे 'काव्य' की संज्ञा से अभिहित नहीं किए जा सकते। इसीलिए अलंकार को कुछ विद्वान् आचार्यों ने काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृति प्रदान की है और आचार्य भामह उसके प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। आचार्य भामह के पश्चात् आचार्य वामन ने शब्दालंकार एवं अर्थालंकार के रूप में विद्यमान अनुप्रास, यमक एवं उपमा, रूपक आदि अलंकारों के स्थान पर उसे 'सौन्दर्यमलंकारः' के रूप में संस्थापित किया। इस आधार पर यह तत्व अपने परिमित स्थान को छोड़कर विस्तृत आयाम में सन्निविष्ट हो गया। आचार्य भामह के समान उन्होंने भी काव्य के स्वरूप में अलंकारों का सन्निवेश आवश्यक माना है। तदनन्तर आचार्य राजशेखर ने अपने काव्य-पुरुष की शोभा के विधायक तत्वों के रूप में अनुप्रास तथा उपमा आदि अलंकारों की स्पष्ट घोषणा की है। उनकी इस घोषणा का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी पुरुष को अपने सौन्दर्य की अभिवृद्धि-हेतु आभूषणों का धारण

करना आवश्यक होगा, उसी प्रकार काव्य के लिए अलंकारों का प्राचुर्य्य भी आवश्यक सिद्ध होगा। आगे चलकर महाराज भोज ने अपनी काव्य-परिभाषा में काव्य में अलंकारों के सन्निवेश को आवश्यक बताया है। उनके पश्चात् इस तत्व के प्रसंग रूप में आचार्य मम्मट का नामोल्लेख प्राप्त होता है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति अलंकारों को काव्य के स्वरूप की अभिवृद्धि में सर्वथा आवश्यक नहीं बताया, वरन् उन्हें आवश्यकतानुसार स्वीकार किया है। उन्होंने अपने काव्य-लक्षण में अलंकार के लिए 'अनलंकृती पुनः क्वापि,' इस वाक्य का प्रयोग किया है, जिसके स्पष्टीकरण हेतु उन्होंने व्याख्या में लिखा है ——

"क्वापीत्यनेनेतदाह यत्सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।"[1]

अर्थात् कहीं-कहीं कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य को सर्वत्र अलंकारयुक्त होना चाहिए, किन्तु यदि किसी स्थान पर अलंकार स्पष्ट रूप से न भी प्रयुक्त हुए हों तो उससे काव्यत्व की हानि नहीं मानी जानी चाहिए।

इसी क्रम में आचार्य वाग्भट ने आचार्य मम्मट के अनुसार ही अलंकारों के प्रयोग को आवश्यकतानुसार स्वीकार किया है। तदनन्तर हेमचन्द्र एवं विद्यानाथ आदि आचार्यों ने पूर्ववत् काव्य में अलंकारों के प्रयोग को आवश्यक माना है। इसी सन्दर्भ में आचार्य जयदेव ने भी काव्यस्वरूप के विधायक तत्वों में अलंकार को अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध किया है। उनका कथन है कि काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को अलंकारों से रहित मानना अग्नि को उष्णताशून्य मानना है ——

"अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य के स्वरूप - विधायक तत्वों में अलंकार को सर्वथा स्वीकार किया है, किन्तु मम्मट, वाग्भट एवं विश्वनाथ आदि ऐसे भी आचार्य हैं जो इस संबंध में अलंकारों का प्रयोग आवश्यक नहीं समझते हैं। आचार्य मम्मट और आचार्य वाग्भट तो विकल्प में उनके प्रयोग को आवश्यक भी कहते हैं, किन्तु साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि मम्मट द्वारा काव्य को सर्वत्र अलंकारयुक्त मानना और कहीं अलंकार-रहित मानना उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि गुणों के समान अलंकार भी काव्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि में ही सहायक सिद्ध होते हैं।

1- काव्यप्रकाश, 1/4 की वृत्ति   2- चन्द्रालोक, 1/12 जयदेव

वे उसके (काव्य) स्वरूप का निर्माण नहीं कर सकते। अतः अलंकारों के स्पष्ट न होने पर भी काव्य की सत्ता बनी रहती है —

"एतेन 'अनलंकृती पुनः क्वापि' इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम्। अस्यार्थः सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्त्वस्फुटालंकारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति। तत्र सालंकारशब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षाधायकत्वात्।"[1]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि काव्य में अलंकारों को स्थान देना सर्वथा आवश्यक है, क्योंकि उनके अभाव में काव्य के सौन्दर्य में अल्पता का समावेश हो जायेगा। शब्द और अर्थ के संयुक्त स्वरूप मात्र से काव्य की पूर्ण अनुभूति नहीं हो सकती है। अतः गुणों एवं अलंकारों का समायोजन प्राप्त करके शब्दार्थ सहृदयों के आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बन जाता है।

<u>सगुणता</u> :—

काव्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि के सहायक तत्वों में इस तत्व का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसका उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' में प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में काव्य के गुणों की संख्या दस बतायी गयी है।[2] इसके पश्चात् अग्निपुराणकार द्वारा प्रस्तावित काव्य-परिभाषा में इसकी प्राप्ति होती है। इसी आधार पर अधिकांश विद्वान् 'अग्निपुराण' को अर्वाचीन रचना सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इसमें प्रतिपादित काव्य-लक्षण में आचार्य भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक की काव्य-परिभाषाओं में सन्निहित भावनाओं का समावेश दिखायी पड़ता है। अग्निपुराण के पश्चात् आचार्य भामह एवं दण्डी के काव्य-लक्षणों में इसकी प्राप्ति नहीं होती है, यद्यपि उन्होंने अपने काव्यों में गुणों का विवेचन प्रस्तुत किया है। आचार्य भामह ने तीन गुणों का उल्लेख किया है[3] और आचार्य दण्डी ने उनकी संख्या में परिवर्तन करके उन्हें दस प्रकार का बताया है।[4] इस प्रकार आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर 'रीति' को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है और विशिष्ट पद रचना को 'रीति' कहा है। यहाँ 'विशिष्ट' शब्द गुण पद का वाचक है।[5] इस प्रकार आचार्य वामन ने गुणों को काव्य की आत्मा के सहायक तत्व के रूप में स्वीकार करके उनके महत्व में किंचिद् अभिवृद्धि की है। आचार्य राजशेखर ने

1- साहित्यदर्पण, पृ0 23 व्याख्याकार — डा0 सत्यव्रत सिंह
2- नाट्यशास्त्र — भरतमुनि
3- काव्यालंकार 2/1, 2, 3 — भामह
4- काव्यादर्श, 2/1 दण्डी
5- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन

गुणों को अपने काव्य-पुरुष की प्रसन्नता का कारण बताकर काव्य में उनके प्रयोग की अपरिहार्यता सिद्ध की है। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में प्रसन्नता का होना आवश्यक है, उसके बिना व्यक्ति का जीवन नीरस हो जाता है, उसी प्रकार काव्य में गुणों का होना आवश्यक है, उनके बिना काव्य नीरस हो जायेगा और नीरस काव्य महत्वहीन हो जाता है।[1] महाराज भोज ने आचार्य राजशेखर के उक्त अभिप्राय में कुछ और वृद्धि की है। उनके अनुसार प्रसन्नता एवं यश की प्राप्ति में काव्य के अन्य तत्वों की भाँति गुणों का होना आवश्यक है। इसी प्रकार मम्मट, हेमचन्द्र, वाग्भट एवं विद्यानाथ आदि आचार्यों ने भी काव्य-स्वरूप में गुणों के सम्मिश्रण को आवश्यक बताया है। आगे चलकर आचार्य विश्वनाथ ने काव्य में गुणों के प्रयोग को आवश्यक बताया, किन्तु उन्होंने गुणों को शब्द और अर्थ के विशेषण रूप में नहीं स्वीकार किया। इसके स्पष्टीकरण हेतु उन्होंने आचार्य मम्मट को लक्ष्य बनाकर निम्नलिखित तथ्य लिखा है ——

"शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम्। गुणानां रसैकधर्मत्वस्य 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः' इत्यादिना तेनैव प्रतिपादितत्वात्। रसाभिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत्? तथाप्ययुक्तम्। तथाहि — तयोः काव्य-स्वरूपेणाभिमतयोः शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा ? नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमपि नास्ति, गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। अस्ति चेत्? कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम्? गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैतल्लभ्यत इति चेत्। तर्हि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति, नहि प्राणिमन्तो देशा इति केनाप्युच्यते। ननु 'शब्दार्थौ सगुणौ' इत्यनेन गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्यभिप्राय इति चेत्? न, गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपाधायकत्वम्।"[2]

अर्थात् 'सगुणौ' पद को शब्द और अर्थ का विशेषण बनाना उचित नहीं है क्योंकि गुण रस के धर्म हैं शब्द और अर्थ के नहीं — इस तथ्य को मम्मट ने भी स्वीकार किया है। अतः गुणों को शब्द और अर्थ का धर्म सिद्ध करने का क्या औचित्य है? इस सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि रस के अभिव्यंजक होने के कारण औपचारिकता-वश यहाँ 'गुण' शब्द का प्रयोग किया गया है तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि काव्य के स्वरूप का निर्धारण करने वाले शब्द और अर्थ रस-युक्त भी हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में यदि शब्द और अर्थ रस-युक्त नहीं हैं तो उनमें गुणों का अभाव होगा

1- काव्यानुशासन, राजशेखर

2- साहित्यदर्पण, पृ0 10-11 व्या0 डा0 सत्यव्रत सिंह

क्योंकि गुणों का रस के साथ नित्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार यदि शब्द और अर्थ रस-युक्त हैं तो 'सगुणौ' विशेषण के स्थान पर 'सरसौ' विशेषण क्यों नहीं कहा गया? यदि यहाँ यह कहा जाय कि शब्द और अर्थ की सगुणता का तात्पर्य शब्द और अर्थ की सरसता से ही है क्योंकि गुणों की स्थिति रस के बिना सम्भव नहीं है तो 'शब्दार्थौ सरसौ' कहना ही उपयुक्त होगा 'शब्दार्थौ सगुणौ' नहीं। अतः शब्द और अर्थ की सरसता को मन में रखकर शब्द और अर्थ की सगुणता का प्रतिपादन उसी प्रकार महत्वपूर्ण नहीं है जिस प्रकार यह कहा जाय कि 'यहाँ पर वीरता का निवास है' किन्तु समझा यह जाय कि 'यहाँ पर प्राणियों का निवास है।' इसके अतिरिक्त यदि यह कहा जा यकि 'अब' यहाँ पर 'सरसौ शब्दार्थौ' के स्थान पर 'सगुणौ शब्दार्थौ' का प्रयोग औपचारिकता के कारण गुणों के अभिव्यंजक शब्द और अर्थ के महत्त्व का प्रतिपादन करने हेतु किया गया है तो यह उचित नहीं कहा जा सकेगा क्योंकि गुणों की अभिव्यंजना करने वाले शब्द और अर्थ काव्य के उत्कृष्टतम रूप के निर्माण में सहयोगीही कहे जा सकते हैं, उसके पूर्ण स्वरूप के निर्माता नहीं। यहाँ पर आचार्य मम्मट द्वारा काव्य की उत्कृष्टता का विवेचन न करके उसके, स्वरूप का ही विवेचन किया जा रहा है, इसलिए काव्य की परिभाषा में 'सगुणौ' पद को 'शब्दार्थौ' का विशेषण बनाना उचित नहीं है।"

इसी सन्दर्भ में आचार्य प्रवर पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा में गुणों के समावेश की अनिवार्यता का खण्डन किया है। आगे चलकर पण्डितराज की इस खण्डनात्मक भावना को डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने अनुचित सिद्ध किया है ——

"पण्डितराज मम्मट के 'सगुणौ' विशेषण पर आपत्ति उठाते हुए उन वस्तु-व्यंजनापरक काव्यों की ओर संकेत करते हैं, जिनमें रस-प्रधानता न होने पर गुणसद्भाव का भी नहीं माना जा सकता। 'उदितं मण्डलं विधोः' तथा 'गतोऽस्तमर्कः' जैसे वाक्य जहाँ वक्ता आदि की विशिष्टता से विभिन्न चमत्कारी अर्थ सामने आये हैं किन्तु गुण, अलंकार उनमें नहीं दिखायी पड़ते, ऐसे काव्यों के प्रतीक समझने चाहिए।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी काव्याचार्यों ने काव्य में गुणों की आवश्यकता को सिद्ध किया है। विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ आदि कुछ आचार्यों ने गुणों की शब्दार्थ-विशेषण रूप मान्यता का खण्डन किया है। उनकी यह खण्डनात्मक भावना आचार्य मम्मट के काव्य-लक्षण पर आधारित है, जो

1- रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ 45 डा0 प्रेम स्वरूप गुप्त

सर्वथा उपयुक्त भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि इन आचार्यों की खण्डनात्मक भावना का समाधान, आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ के अष्टम उल्लास में पहले ही सन्निहित कर दिया था जिसका उन्होंने सम्भवतः अवलोकन ही नहीं किया अथवा यदि अवलोकन किया भी है तो उसे प्रत्युत्तर के रूप में स्वमत्या उपयुक्त नहीं समझा आचार्य मम्मट ने इस तथ्य को स्वयं स्वीकार किया है कि गुणों का नित्य वास्तविक सम्बन्ध रस के साथ ही होता है।[1] किन्तु उन्होंने गौणी वृत्ति के आधार पर गौण रूप से गुणों का सम्बन्ध शब्द और अर्थ के साथ सिद्ध कर दिया है।[2] इस प्रकार काव्य में गुणों का समावेश सर्वथा युक्ति-युक्त सिद्ध हो जाता है।

निर्दोषता :—

विभिन्न काव्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-परिभाषाओं में चौथे तत्व के रूप में 'काव्य की निर्दोषता' को स्वीकार किया गया है। काव्याचार्यों की काव्य-परिभाषाओं में से इसका सर्वप्रथम उल्लेख अग्निपुराण में स्थित काव्य-परिभाषा में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् आचार्य वामन की काव्य-परिभाषा में अस्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। तत्पश्चात् आचार्य क्षेमेन्द्र तक इसे काव्य-परिभाषाओं में स्थान नहीं दिया गया है। तदनन्तर आचार्य जयदेव तक इसकी अपरिहार्यता का उल्लेख प्रायः सभी काव्य-परिभाषाओं में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने पुनः इसे अपनी काव्य-परिभाषाओं में स्थान नहीं दिया, किन्तु सूक्ष्म रूप से उनकी काव्य-परिभाषाओं द्वारा इसके अस्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। इसके अतिरिक्त आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने अपने-अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दोषों के स्वरूप का विवेचन किया है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि काव्य में दोषों का अभाव होना सर्वथा आवश्यक है। वस्तुतः दोष किसी भी वस्तु में उत्तम नहीं कहे जा सकते हैं, फिर काव्य जैसी महनीय वस्तु में उनके अस्तित्व का समर्थन कैसे किया जा सकता है। इसीलिए अधिकांश काव्याचार्यों ने अपनी काव्य-परिभाषाओं में इनका उल्लेख भी नहीं किया। काव्य-परिभाषा में दोषों के न उल्लेख करने का कारण बताते हुए आचार्य विश्वनाथ ने मम्मटाचार्य की काव्य-परिभाषा को लक्ष्य बनाकर इस प्रकार लिखा है —

---

1. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
   उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ — काव्यप्रकाश, 8/66
2. गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता। — काव्यप्रकाश, 8/71

(क) यदि दोष रहित अकार्य को ही काव्य माना जायेगा तो इस प्रकार का सर्वथा दोष-रहित काव्य संसार में मिलना ही कठिन होगा। अतः ऐसी दशा में काव्य या तो इ संसार में मिलेगा ही नहीं और यदि किसी प्रकार मिल भी गया तो उसकी संख्या अत्यल्प ही होगी —

"एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्।"[1]

(ख) यदि काव्य-लक्षण में 'अदोषौ' पद रखकर उसे सर्वथा दोष-रहित माना जायेगा तो 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः'[2] इत्यादि जिस श्लोक को ध्वनि-युक्त होने के कारण उत्तम काव्य माना गया है, वह 'विधेयाविमर्श' नामक दोष से युक्त होने के कारण उत्तम काव्य के स्थान पर काव्य-मात्र भी नहीं कहा जा सकेगा —

"यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वमङ्गीकारस्तदा — न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः ...... किमेभिर्भुजैः इति। अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात्। प्रत्युत ध्वनि(स)त्वेनोत्तमकाव्यत्वाङ्गीकृता, तस्मादव्याप्ति लक्षणदोषः।।"[3]

(ग) यदि ऐसा कहा जायेगा कि किसी भी रचना के जिस अंश में दोष है, उसे काव्य न स्वीकार किया जाय, किन्तु जितने अंश में दोष नहीं है उसे उत्तम काव्य कहा जाय तो यह कथन भी औचित्यपूर्ण न कहा जा सकेगा, क्योंकि इस खींचातानी में उसे काव्य या अकाव्य कुछ भी नहीं कहा जा सकेगा —

"ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुनः सर्वोऽपीति चेत्, तर्हि यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजक, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात्।"[4]

(घ) यदि 'अदोषौ' विशेषण में 'नञ्' का अर्थ 'ईषद्' लिया जाये और थोड़े दोष से युक्त रचना को काव्य की संज्ञा दी जाय तो ऐसी स्थिति में किसी कवि की निर्दोष रचना काव्य की कोटि में ही न आ सकेगी। इसके अतिरिक्त यदि ऐसा कहा जायेगा कि अत्यधिक दोष-युक्त रचना को काव्य नहीं कहा जा सकता है, अपितु इस संज्ञा की प्राप्ति के लिए कुछ दोषों का होना आवश्यक है तो 'अदोषौ' विशेषण व्यर्थ हो जायेगा। अतः जिस प्रकार

1- साहित्यदर्पण पृ० 5-6 व्या० डा० सत्यव्रतसिंह

2- न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥ साहित्यदर्पण पृ० 5-6

3- वही पृ० 5-6 4- वही, पृ० 6

प्रकार कोई रत्न कीड़ा लग जाने से 'रत्नत्व' की संज्ञा से रहित नहीं हो जाता, उसी प्रकार कोई काव्य श्रुतिकटुत्व आदि दोषों के विद्यमान होने पर भी अपनी 'काव्यत्व' संज्ञा को नहीं खो सकेगा —

"नन्वीदृशेषु क्व प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ 'काव्यम्' इत्युक्ते निर्दोषयोः काव्यत्वं न स्यात्। सति सम्भवे 'ईषद्दोषौ' इति चेत्, एतदपि काव्य — लक्षणे न वाच्यम्, रत्नादि लक्षणे कीटानुवेधादि परिहारवत्। नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः किन्तूपादेयतारतम्यमेव कर्तुम्। तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य। उक्तंच —

"कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥इति॥"[1]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यद्यपि 'अदोषौ' पद की आलोचना में आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रयुक्त किए गये तथ्य महत्वपूर्ण हैं, किन्तु उन्होंने आचार्य मम्मट द्वारा प्रयुक्त 'अदोषौ' पद की प्रायोगिक भावना को समझने का प्रयास नहीं किया है, अन्यथा उनके द्वारा ये आलोचनात्मक पंक्तियाँ न लिपिबद्ध की जातीं। आचार्य मम्मट ने दोषों के स्वरूप विवेचन में लिखा है —

"मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्च मुख्यः।"[2]

अर्थात् काव्य का मुख्य अर्थ रस होता है और इस अर्थ के विघातक तत्व दोष कहे जायेंगे। इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने भी रस के अपकर्षक तत्वों को 'दोष' संज्ञा से अभिहित किया है — रसापकर्षकाः दोषाः।[3] अतः यदि किसी दोषयुक्त काव्य में रस का अपकर्ष नहीं होता तो वे समुपस्थित दोष दोष नहीं कहे जायेंगे। जैसे — न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि श्लोक में विधेयाविमर्श दोष के विद्यमान होने पर भी रसानुभूति में किसी प्रकार की कमी नहीं प्रतीत होती, इसलिए वह दोषपूर्ण नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यदि किसी काव्य में साधारण दोष विद्यमान हैं और वे रसानुभूति में किसी प्रकार का विरोध नहीं उत्पन्न करते तो वैसे दोषों से युक्त होते हुए भी वह काव्य, काव्य ही कहा जायेगा। अतः काव्य-परिभाषा में निर्दोषत्व को भी अपना यथोचित स्थान प्राप्त हो जाता है।

1- साहित्यदर्पण, पृ0 7-8 व्या0डा0सत्यव्रत सिंह, 2- काव्यप्रकाश, 7/49(1) व्या0विश्वेश्वर
3- साहित्यदर्पण 7/1 व्या0डा0सत्यव्रत सिंह

<u>सरसता :—</u>

काव्य के बाह्य-स्वरूप 'शब्दार्थों' एवं उसके सौन्दर्य में अभिवृद्धि करने वाले सालंकारता, सगुणता एवं निर्दोषता आदि तत्वों का क्रम विश्लेषण हो जाने के पश्चात् काव्य-परिभाषा में समाविष्ट करने योग्य उसका अन्तस्तत्व रूप 'रस' का विश्लेषण - कार्य अवशिष्ट रह जाता है। इसके समावेश का औचित्यपूर्ण विवेचन, आचार्य विश्वनाथ ने अपनी काव्य-परिभाषा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[1] के विवेचन में प्रस्तुत किया है, किन्तु उनके पूर्ववर्ती राजशेखर, भोज एवं जयदेव आदि आचार्यों ने भी इसे अपनी-अपनी काव्य-परिभाषाओं में स्थान दिया है।[2] इसके अतिरिक्त जहाँ इसके स्वरूप के विवेचन का प्रश्न उत्पन्न होता है तो वह काव्य-शास्त्र के प्रारम्भिक ग्रन्थ वेद आदि से ही प्रारम्भ हुआ दिखायी पड़ता है।[3]

काव्य परिभाषा में सरसता का प्रतिपादन औचित्यपूर्ण है अथवा नहीं— इस जिज्ञासा के समाधान में आचार्यप्रवर पण्डितराज जगन्नाथ ने आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित सरसता का विरोध किया है। उनका कथन है कि विश्वनाथ के रस का स्वरूप 'रसादिध्वनि' का पर्याय है। अतः यदि केवल 'रसादिध्वनि' को ही काव्य की आत्मा मानकर उसी के आधार पर काव्यत्व का निर्णय किया जायेगा तो वस्तुध्वनि एवं अलं-कारध्वनि वाले काव्य, जिन्हें उत्तम कोटि का काव्य स्वीकार किया गया है, काव्यकोटि से बहिष्कृत करने पड़ेंगे। इसके अतिरिक्त परम्परागत मध्यम कोटि तथा अधम कोटि के काव्य भी काव्यत्व की सीमा से बहिष्कृत कर दिए जायेंगे —

"यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न। वस्त्वलंकार-प्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसंगात्। तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कपिबालविलसितानि च। न च तत्रापि यथाकथंचित्परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्, ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति' 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्। अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक्।"[4]

1- साहित्यदर्पण, 1/3

2(क) काव्यमीमांसा–पृष्ठ–13–राजशेखर
(ख) सरस्वतीकण्ठाभरण 1/2 भोजराज (ग) चन्द्रालोक–1/7 जयदेव

3- ऋग्वेद–1/23/23, 1/37/5, 1/71/5, 1/29/16, यजुर्वेद–1/21, 2/32, 9/21, 11/51, सामवेद–3/5/7, 6/2/5, 6/2/8 अथर्ववेद–2/4/5, 2/26/4, 4/7/2

4- रसगंगाधर, पृ0–7–पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज की उक्त रस-विरोधी भावना को, रस की सीमा में अभिवृद्धि करके, शान्त किया जा सकता है। अतः वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि एवं रसध्वनि रूप तीनों के समन्वित स्वरूप को यदि 'सरसता' के अर्थ में समाविष्ट करके काव्य-परिभाषा में संयुक्त किया जाय, तो यह कार्य सर्वथा औचित्यपूर्ण सिद्ध होगा।

इस प्रकार विविध काव्याचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गयी उपर्युक्त काव्य-परिभाषाओं में समागत तत्वों का समीक्षात्मक अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य मम्मट के अतिरिक्त अन्य सभी काव्याचार्यों की काव्य-परिभाषाओं में काव्य के स्वरूपाधायक किसी न किसी तत्व का अभाव प्राप्त होता है। आचार्य मम्मट की परिभाषा सर्वथा परिपूर्ण प्रतीत होती है। सरसता का अस्पष्ट प्रतिपादन होते हुए भी काव्य परिभाषा में उसकी स्पष्ट घोषणा न होने के कारण आचार्य मम्मट को साहित्यदर्पणकार की कटु आलोचना का विषय बनना पड़ा है। अतः यदि उनकी काव्य परिभाषा में वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि एवं रसध्वनि इन तीनों के समन्वित रूप 'सरसता' का समावेश और कर दिया जाय तो यह काव्य-परिभाषा काव्य के पूर्ण स्वरूप का विवेचन करने में सर्वथा समर्थ सिद्ध हो जायेगी। सरसता का स्पष्ट प्रतिपादन न होने पर भी आचार्य मम्मट की काव्य परिभाषा अन्य आचार्यों की अपेक्षा अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। हमारे इस कथन की परिपुष्टि - हेतु डा0 सत्यव्रत सिंह की निम्नलिखित पंक्तियाँ सर्वथा युक्त-युक्त - सिद्ध होंगी ——

"मम्मट का काव्य-स्वरूप-निरूपण अलंकारशास्त्र की काव्य-विषयक प्राचीन एवं नवीन धारणाओं तथा भावनाओं का समन्वित समन्वय है। मम्मट के पूर्ववर्ती काव्याचार्य जहाँ अपनी दृष्टि से काव्य-लक्षण का अन्त करते हैं वहीं मम्मट का काव्य-लक्षण प्रारंभ होता है और जो मम्मट के उत्तरवर्ती आलंकारिक हैं, वे तो मम्मट-कृत काव्य लक्षण की आलोचना-प्रत्यालोचना में ही अपने काव्य-लक्षण की रूप-रेखा रचते प्रतीत होते हैं।" [1]

(4) काव्य के हेतु

काव्य का स्वरूप समझ लेने के उपरान्त यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कौन से ऐसे कारण या हेतु हैं जिनके द्वारा काव्य का प्रादुर्भाव होता है? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न काव्याचार्यों द्वारा अपने अपने तत्सम्बन्धी ग्रन्थों में सन्निहित किया गया है, जो इस प्रकार है ——

1- काव्यप्रकाश— व्या0 डा0 सत्यव्रत सिंह — भूमिका से

(क) आचार्य भामह के अनुसार काव्य की रचना कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति ही कर सकता है। व्याकरण, छन्द, कोश, अर्थ, ऐतिहासिक कथाएँ, व्यावहारिक ज्ञान एवं कलाओं का चिन्तन करके तथा शब्द एवं अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर काव्य के स्वरूप को जानने वाले गुरुजनों की सेवा एवं दूसरे लोगों द्वारा रचित रचनाओं का अध्ययन करके ही काव्य की रचना की जा सकती है —

"काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।
शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः॥
लोकोयुक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्ह्यमी।
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥"[1]

(ख) आचार्य दण्डी के अनुसार स्वाभाविक प्रतिभा, प्रचुर एवं दोष-रहित शास्त्रीय अध्ययन तथा काव्य करने का निरन्तर अभ्यास — ये तीनों तत्व काव्य के प्रादुर्भाव के कारण हैं —

"नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥[2]

(ग) आचार्य रुद्रट ने काव्य के निर्माण में, शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास —— इन तीनों के सम्मिलित रूप को कारण माना है —

"त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥[3]

(घ) आचार्य वामन ने काव्य के प्रादुर्भाव के कारणों के लिए 'काव्यांग' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार काव्य करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए लोक, विद्या एवं प्रकीर्ण ये तीन अंग हैं। उनमें समस्त स्थावर एवं जंगम पदार्थों को 'लोक' कहते हैं एवं व्याकरण, कोश-ग्रन्थ, छन्दशास्त्र, कला, कामशास्त्र, दण्डनीति अर्थात् राजनीति का समन्वित रूप 'विद्या' कहलाता है और लक्ष्य का ज्ञान(काव्यों का अध्ययन करना), अभियोग (काव्य की रचना के लिए किया गया उद्यम), वृद्ध-सेवा(काव्य का उपदेश करने वाले गुरु की सेवा करना), अवेक्षण (शब्दों का ज्ञान प्राप्त करने के उप-

---

1- काव्यालंकार, 1/5/9-10 भामह, 2- काव्यादर्श, 1/103 दण्डी
3- काव्यालंकार, 1/14 रुद्रट

शास्त्र पदों का खण्डन एवं मण्डन) प्रतिभान(कवित्व या जन्मजात संस्कार) एवं अवधान (चित्त की एकाग्रता) प्रकीर्ण कहे जाते हैं ——

"लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि। लोकवृत्तं लोकः। शब्द-स्मृत्यभिधान-कोशच्छन्दोविचिति-कलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्या। लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्। तत्र काव्येषु परिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्। काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः। काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा। पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्। कवित्वबीजं प्रतिभानम्। चित्तैकाग्र्यमवधानम्।"[1]

(ङ) आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य निर्माण के कारणों में शक्ति एवं व्युत्पत्ति —— इन दो तत्वों को स्वीकार किया है, किन्तु इनमें शक्ति को विशेष महत्व प्रदान किया है। इस महत्व का कारण यह बताया है कि अव्युत्पत्ति के कारण उत्पन्न दोष तो कवि अपनी शक्ति से छिपा सकता है, किन्तु शक्ति का अभाव होने पर दोष नहीं छिपाये जा सकते हैं-

"अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झगित्यवभासते॥"[2]

(च) आचार्य राजशेखर पहले तो प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति दोनों को काव्य के प्रादुर्भाव का कारण मानते हैं, किन्तु पुनः मात्र प्रतिभा को ही काव्य निर्माणक शक्ति के रूप में उद्घोषित कर देते हैं ——

"प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ" इति यायावरीयः। सा(शक्तिः) केवलं काव्यहेतुः इति यायावरीयः।"[3]

(छ) आचार्य मम्मट ने शक्ति, निपुणता एवं अभ्यास इन तीनों के समन्वित रूप को काव्य के प्रादुर्भाव का कारण बताया है ——

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥"[4]

(ज) आचार्य वाग्भट ने प्रतिभा को काव्य निर्माण का कारण तथा व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को उसका संस्कारक सिद्ध किया है ——

प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्।
व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एवं संस्कारकारकौ।"[5]

1- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/14 वामन, 2-ध्वन्यालोक 3/6 की वृत्ति
3- काव्यमीमांसा, पृ0-39 4- काव्यप्रकाश, 1/3
5- वाग्भटालंकार-पृष्ठ-2-वाग्भट

(ञ) आचार्य केशव मिश्र ने प्रतिभा को काव्य-निर्माण का कारण, व्युत्पत्ति को विभूषण एवं अभ्यास को रचना-शक्ति का शीघ्र उत्पादक बताया है —

"प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यासः काव्यस्येषा व्यवस्थितिः।"[1]

(ट) आचार्य हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति मात्र प्रतिभा को ही काव्य की निर्मायिका शक्ति स्वीकार किया है। उनका कथन है कि प्रतिभा काव्य-निर्माण का प्रधान कारण है और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास उसके स्वरूप की अभिवृद्धि करते हैं —

"प्रतिभाऽस्य हेतुः। ...... सा च काव्यस्यैव प्रधानं कारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तु प्रतिभाया एवं संस्कारकाविति वक्ष्यते।"[2]

(ठ) आचार्य जयदेव के अनुसार जिस प्रकार लता की उत्पत्ति का कारण बीज है और मिट्टी एवं जल उस बीज का पोषण करते हैं उसी प्रकार काव्य की उत्पत्ति का कारण मात्र प्रतिभा होती है और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास उसका परिपोषण करते हैं —

"प्रतिभैव श्रुताभ्यास-सहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥"[3]

(ड) पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार काव्य-निर्माण का कारण मात्र प्रतिभा है और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास प्रतिभा की उत्पत्ति के कारण हैं —

"तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। तस्याश्च हेतुः क्वचित् विलक्षण-व्युत्पत्ति-काव्यकरणाभ्यासौ।"[4]

इस प्रकार विभिन्न काव्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त काव्य-कारणों का ऐतिहासिक-क्रम से अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी आचार्यों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास इन तीन तत्त्वों को किसी न किसी रूप में काव्य के प्रादुर्भाव का कारण स्वीकार किया है। अतः इन तीनों तत्त्वों के विस्तृत विवेचन का कार्य अत्यावश्यक हो जाता है।

1- अलंकारशेखर, पृ0-4-केशवमिश्र, 2- काव्यानुशासन, पृ0-3-हेमचन्द्र
3- चन्द्रालोक, 1/6 जयदेव 4- रसगंगाधर, पृ0-8-पण्डितराज जगन्नाथ

(1) प्रतिभा :—

काव्याचार्यों द्वारा काव्य-कारण रूप में प्रतिभा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। विकल्प में कुछ आचार्यों ने इसे 'शक्ति' नाम से भी अभिहित किया है। दण्डी, वामन, अभिनवगुप्त, मम्मट, एवं पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने प्रतिभा को जन्मान्तरगत संस्कार के रूप में स्वीकार किया है।[1] उनके मतानुसार प्रतिभा के अभाव में काव्य रचना नहीं की जा सकती है और यदि किसी प्रकार सम्पन्न भी हो जायेगी तो वह हास्यास्पद सिद्ध होगी। अग्निपुराणकार ने इसे संसार के आवश्यक तत्वों में से अत्यन्त कष्टसाध्य बताया है —

"नरत्वं दुर्लभं लोके विद्यातत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।"[2]

इसी प्रकार आचार्य वामन ने प्रतिभा को काव्य-कला का बीज माना है —

"कवित्वबीजं प्रतिभानम्॥"[3]

प्रतिभा का वैज्ञानिक स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य भट्टतौत ने लिखा है कि नये-नये अर्थों की उद्भावना करने वाली प्रकृष्ट बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं। इससे युक्त हो जाने पर कवि विविध प्रकार के वर्णन करने में समर्थ हो जाता है। अन्ततः व उसके वर्णन करने का यह कार्य 'काव्य' कहलाता है —

"प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनजीवद् वर्णना निपुणः कविः॥
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम् ....।"[4]

1-(क) न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना, गुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता, ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्। — काव्यादर्श 1/104

(ख) जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा। —— काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1/3/16

(ग) कवित्वबीजं जन्मान्तरसंस्कारगतविशेषः कश्चित्।— अभिनवभारती, पृ0 346

(घ) शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् —— काव्यप्रकाश 1/3 की वृत्ति

2- अग्निपुराण 337/3 3— काव्यालंकारसूत्र 1/3/16

4- काव्यकौतुक — अलंकारशास्त्र का इतिहास, पृ0467 से उद्धृत — डा0 कृष्णकुमार

आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिभा के स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए बताया है कि अपूर्व वस्तु के निर्माण का सामर्थ्य रखने वाली बुद्धि प्रतिभा कहलाती है —

"प्रतिभाऽपूर्ववस्तु-निर्माणक्षमाप्रज्ञा।"[1]

आचार्य राजशेखर के अनुसार प्रतिभा उस शक्ति को कहते हैं, जो शब्द, अर्थ, अलंकार एवं उक्तियों को हृदय में प्रतिभासित करे। प्रतिभा-हीन व्यक्ति के लिए प्रत्यक्ष पदार्थ भी परोक्ष के समान प्रतीत होते हैं, परन्तु प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति परोक्ष पदार्थों को भी प्रत्यक्षवत् देखता है। उदाहरण स्वरूप मेधाविरुद्र एवं कुमारदास आदि जन्मान्ध होते हुए भी श्रेष्ठ कवि सिद्ध हुए हैं —

"या शब्दसार्थमर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।"[2]

आचार्य रुद्रट ने प्रतिभा के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि प्रतिभा द्वारा मन एकाग्र होता है और मन के एकाग्र हो जाने पर कवि अभीप्सित अर्थों एवं सरलतम पदों से संयुक्त हो जाता है —

"मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधा।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥"[3]

आनन्दवर्धनाचार्य ने प्रतिभा की प्रामाणिकता का विवेचन करते हुए लिखा है कि अनेक प्रकार के रसों से समन्वित महान् कवियों की रचनाएँ उनकी प्रतिभा का ही ज्ञान कराती हैं —

"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥"[4]

आचार्य महिमभट्ट के अनुसार प्रतिभा रूपी भगवान् के तीसरे नेत्र द्वारा कवि त्रैकालिक अर्थों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है —

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥

1- ध्वन्यालोक- लोचनटीका अ०, पृ० 93, व्या० आचार्य जगन्नाथ पाठक

2- काव्यमीमांसा- अध्याय 4 पृ० 11-12   3- काव्यालंकार 1/15 रुद्रट

4- ध्वन्यालोक 1/6

साऽपि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।

येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकाल्यवर्तिनः॥[1]

इस प्रकार कवि अपनी प्रतिभा द्वारा काव्य-संसार का प्रजापति बन जाता है और अपने मनोऽनुकूल काव्य-संसार की सृष्टि करता है —

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।

यथास्मै रोचते विश्वं[2] तथेदं परिवर्तते॥[1]

आचार्यों ने प्रतिभा के कई प्रकार को बताया है। आचार्य रूद्रट ने सहजा एवं उत्पाद्या के रूप में इसे दो भागों में विभक्त किया है।[3] इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी इसे उत्पाद्या एवं औपाधिकी के रूप में दो प्रकार की बताया है।[4] किन्तु आचार्य राजशेखर ने उसके भेदों का पूर्ण स्पष्ट विवेचन किया है। उन्होंने सर्वप्रथम इसे दो भागों में विभक्त किया है —(1)का कारयित्री एवं (2) भावयित्री। इनमें से कारयित्री प्रतिभा के द्वारा कवि काव्य की रचना करने में समर्थ होता है और भावयित्री प्रतिभा के द्वारा कवि के अभिप्राय को समझा जा सकता है। इसके पश्चात् सहजा, आहार्या एवं औपदेशिकी के रूप में उन्होंने कारयित्री प्रतिभा को पुनः तीन उपभेदों में विभाजित किया है। इनमें सहजा प्रतिभा पूर्व जन्म के संस्कारों पर आधारित होती है, आहार्या अभ्यास द्वारा प्राप्त की जाती है एवं औपदेशिकी की प्राप्ति तन्त्र, मन्त्र द्वारा सम्भाव्य होती है।

"सा च द्विधा। कारयित्री भावयित्री च। कवेरूपकुर्वाणा कारयित्री। सापि त्रिविधा — सहजा, आहार्या, औपदेशिकी च। जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा। जन्मसंस्कारयोनिराहार्या। मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवौपदेशिकी। .... भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति।"[5]

आगे चलकर आचार्य राजशेखर ने शक्ति एवं प्रतिभा को एक मानकर शक्ति शब्द को प्रतिभा के उपचार के रूप में प्रयुक्त किया है —[6]

शक्तिशब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्तते।

कुछ आचार्यों ने विशिष्ट प्रकार की प्रज्ञा को प्रतिभा का नाम देकर प्रज्ञा और प्रतिभा को पर्यायवाची प्रतिपादित कर दिया है। आचार्य राजशेखर का कथन है कि

1- व्यक्तिविवेक — पृ0 108 महिम भट्ट 2- ध्वन्यालोक 3/42 की वृत्ति जगन्नाथपाठक

3- काव्यालंकार 1/16 रूद्रट 4- काव्यानुशासन, पृ0 4-5 हेमचन्द्र

5- काव्यमीमांसा पृ0 31 6- काव्यमीमांसा पृ0 38

प्रतिभा या प्रज्ञा कविगत बुद्धि का ही एक प्रकार है। यह बुद्धि तीन प्रकार की होती है —(1)स्मृति(2)मति और (3) प्रज्ञा। व्यतीत अर्थ का स्मरण कराने वाली बुद्धि 'स्मृति' कहलाती है, वर्तमान अर्थ का बोध कराने वाली बुद्धि 'मति' पद से अभिहित की जाती है एवं जो बुद्धि भविष्यत्कालिक अर्थ का दर्शन कराती है, वह 'प्रज्ञा' नाम से सम्बोधित की जाती है —

"त्रिधा च सा (बुद्धिः) स्मृति मतिः प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः वर्तमानस्य मन्त्री मतिः, अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञा। सा कवीनामुपकर्त्री।"[1]

काव्यप्रकाश की सम्प्रदाय-प्रकाशिनी टीका के अनुसार भूतकालिक अर्थ का दर्शन कराने वाली बुद्धि 'स्मृति' कहलाती है, भविष्यत्कालिक अर्थ का ज्ञान कराने वाली बुद्धि 'मति' नाम से अभिहित की जाती है एवं त्रैकालिक अर्थ का परिज्ञान कराने वाली बुद्धि 'प्रज्ञा' नाम से सम्बोधित की जाती है —

"स्मृतिर्व्यतीत-विषया मतिरागामिगोचरा।
बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकी मता।"[2]

(2)व्युत्पत्ति :—

काव्य को उत्पन्न करने वाले कारणों के रूप में विभिन्न आचार्यों ने द्वितीय कारण के रूप में 'व्युत्पत्ति ' को स्वीकार किया है। मम्मट आदि कुछ आचार्यों ने इसे 'निपुणता' नाम से अभिहित किया है।[3] काव्याचार्यों द्वारा इसे प्रमुख काव्य-कारण 'प्रतिभा' का उपकारक सिद्ध किया गया है। व्युत्पत्ति की परिभाषा प्रतिपादित करते हुए आचार्य रुद्रट ने लिखा है कि छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति एवं पदार्थों के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले युक्त-अयुक्त-विवेक को 'व्युत्पत्ति' कहते हैं —

"छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन।"[4]

'व्युत्पत्ति' के स्पष्ट स्वरूप का निर्देश करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है कि लोकव्यवहार, शास्त्रों तथा सर्वविदित कवियों के काव्यादि के सम्यक् अध्ययन एवं

1- काव्यमीमांसा, पृ0 10

2- काव्यप्रकाश 1/3 पर सम्प्रदायप्रकाशिनी टीका

3- काव्यप्रकाश, 1/3

4- काव्यालंकार रुद्रट

तदनुसार आचरण करने से निपुणता की प्राप्ति होती है। 'लोक' का अर्थ है — सम्पूर्ण स्थावर एवं जंगमात्मक लौकिक व्यवहार। शास्त्र का अर्थ है — छन्द व्याकरण, अभिधानकोश कला, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, गज, तुरग, खड्ग आदि लाक्षणिक ग्रन्थों का अध्ययन करना। महाकवियों द्वारा विरचित रचनाएँ 'काव्य' पद की अभिव्यंजक हैं। आदि शब्द से यहाँ इतिहास आदि शास्त्रों का ग्रहण किया जाता है। इन सबके विधिवत् अध्ययन एवं मनन द्वारा जो व्युत्पत्ति उत्पन्न होती है, वह निपुणता कहलाती है —

"निपुणता लोकशास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्। लोकस्य स्थावरजंगमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानां, काव्यानां महाकविसम्बन्धिनामादिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः।[1]

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी स्वीकार किया है कि लोक, शास्त्र एवं काव्यों के निरन्तर अध्ययन एवं मनन द्वारा निपुणता या व्युत्पत्ति की प्राप्ति होती है—

"लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः।[2]

इस प्रकार व्युत्पत्ति की प्राप्ति हेतु उपर्युक्त तत्वों का ज्ञान आवश्यक हो जाता है।

(3) अभ्यास :—

काव्य की रचना शक्ति प्राप्त करने के लिए व्युत्पत्ति एवं अभ्यास दोनों अपेक्षित हैं। इनमें से व्युत्पत्ति की सहायक सामग्रियों का अध्ययन करने के पश्चात् उनका ज्ञान हो जाता है, किन्तु ज्ञान की सार्थकता का ज्ञान प्रायोगिक आधार पर ही सम्भव होगा। यह प्रायोगिक आधार अभ्यास की संज्ञा से अभिहित किया जायेगा। अभ्यास के स्वरूप का प्रकाशन करते हुए आचार्य रूद्रट ने लिखा है ——

अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य सन्निधौ नियतम्।
नक्तन्दिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान् काव्यम्।[3]

अर्थात् अच्छे कवियों की काव्य-रचनाओं एवं बुद्धिमान व्यक्तियों के सान्निध्य से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके उसका निरन्तर रात और दिन अभ्यास करना चाहिए।

महाकवि दण्डी के अनुसार कवित्व शक्ति के निर्बल होने पर भी परिश्रमी व्यक्ति काव्य-विनोदकों की सभाओं में उत्तम स्थान प्राप्त कर सकता है —

1- काव्यप्रकाश, 1/3 की वृत्ति
2- काव्यानुशासन, पृ0 7 हेमचन्द्र
3- काव्यालंकार 1/20 रूद्रट

कृशे कवित्वेपि जनाः कृतश्रमाविदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।"[1]
आचार्य वामन ने वृद्धजनों की सेवा को काव्यत्व प्राप्त करने के लिए अत्यावश्यक बताया है।[2]

आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति काव्य विशेषज्ञ विद्वानों के पास जाकर उनके आदेशानुसार शब्द एवं अर्थ का बार-बार संयोजन करता है, उसकी यह संयोजनात्मक क्रिया ही 'अभ्यास' कहलाती है —

"काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः-पुन्येन प्रवृत्तिः"[3]

इस प्रकार काव्य को सुन्दर स्वरूप प्रदान करने में अभ्यास का भी अपना व्यक्तिगत महत्व सिद्ध हो जाता है। यह प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति के समान सर्वथा स्वीकरणीय है। उसके अभाव में उक्त दोनों तत्व निरर्थक सिद्ध हो सकते हैं।

समालोचना :—

विभिन्न काव्याचार्यों ने काव्य के हेतुओं के सम्बन्ध में अपने-अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। उनके उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन में प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास रूप तीन काव्य निर्मायिका शक्तियों का उल्लेख हुआ है। इनमें कुछ आचार्यों ने मात्र प्रतिभा को ही काव्य की रचना शक्ति का कारण स्वीकार किया है, जिसे इतना ही स्वीकरणीय कहा जा सकता है कि काव्य-रचना में इस तत्व का महत्व अवशिष्ट दो तत्वों की अपेक्षा, कुछ अधिक है, किन्तु मात्र इसी आधार पर काव्य-रचना की जा सकती है, उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इस सम्बन्ध में हिन्दी के कवि सूरदास आदि उदाहरण के रूप में भले ही प्रस्तुत किए जा सकें, किन्तु उत्तम काव्य-रचना अन्य दोनों तत्वों के समावेश के बिना असम्भव ही सिद्ध होगी। यद्यपि सामान्यतः प्रतिभा द्वारा काव्य की रचना की जा सकती है, किन्तु उसमें कबीरदास आदि के समान कला पक्ष आदि का सर्वथा अभाव सिद्ध होगा, जिसके कारण उसे काव्यालोचकों की आलोचना का विषय बनना पड़ेगा। प्रतिभा के पश्चात् काव्य रचना के कारणों का द्वितीय तत्व व्युत्पत्ति या निपुणता है। इस संदर्भ में यह भी महनीय है। लोक व्यवहार, कवियों की श्रेष्ठतम रचनाओं एवं अन्य सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञान इस कला की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। 'चत्वारो मूर्ख-पण्डिताः' कथा लौकिक ज्ञान की आवश्यकता को सिद्ध करने में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। किसी

1- काव्यादर्श 1/105 दण्डी, 2- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/3/11 वामन
3- काव्यप्रकाश, 1/3 की वृत्ति

भी कार्य को सरलतम ढंग से सीखने के लिए उससे सम्बन्धित उदाहरण पूर्ण सहयोगी सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ — मिट्टी का खिलौना बनाने के लिए हमें यह जानना आवश्यक होगा कि हमारा यह खिलौना किस प्रकार की मिट्टी से अच्छा बनेगा। कैसी मिट्टी बनाना चाहिए। इसके निर्माण-कार्य में किन-किन यन्त्रों का प्रयोग अपेक्षित होगा। अन्ततः निर्मित हो जाने के पश्चात् उसे किस प्रकार सुरक्षित रखा जाय? किस प्रकार सुखाया जाय? किस प्रकार पकाया जाय? आदि। यहाँ हम देखते हैं कि एक साधारण कार्य के लिए प्रश्नों की बौछार लग जाती है। ऐसी स्थिति में काव्य-निर्माण सम्बन्धी महनीय कार्य के लिए प्रश्नों के आधिक्य का उपस्थापन सर्वथा स्वाभाविक सिद्ध हो जायेगा। उपर्युक्त खिलौना-निर्माण-कार्य के लिए यदि हम पूर्व-निर्मित खिलौने को सामने रखकर उससे तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर लें तो अपेक्षित निर्माण-कार्य में कठिनता का आभास न हो सकेगा। इसी प्रकार काव्य की रचना के लिए कवियों की रचनाओं का ज्ञान भी सर्वथा आवश्यक सिद्ध हो जाता है। अन्ततः काव्य-निर्माण के कारण रूप में तृतीय तत्व अभ्यास स्वीकृत किया गया है। इस सम्बन्ध में इसका भी अपना विशेष महत्व है। किसी भी रचना-कार्य की आवश्यक सामग्रियों का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त भी उनके उचित प्रयोग की कल्पना करना औचित्यपूर्ण न कहा जायेगा। उदाहरणार्थ — किसी भी प्रायोगिक विषय को लिया जा सकता है। यदि एक बार के निरीक्षण द्वारा ही किसी कार्य को व्यावहारिक रूप दिया जा सके तो मानव-जीवन ही क्यों दुःखी रहे। इसके अतिरिक्तशास्त्र में तो बिना अभ्यास के विष के समान कहा गया है —'अनभ्यासे विषं शास्त्रम्'।

निष्कर्षतः काव्य की रचना के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीनों आवश्यक हैं। जिस प्रकार कुछ आचार्यों ने मात्र प्रतिभा को काव्य का कारण बताया है, उसी प्रकार उसके विरोध में दण्डी आदि काव्याचार्यों के अनुसार प्रतिभा के न होने पर भी काव्य-रचना की जा सकती है। उनका कथन है कि पूर्व संस्कारों से प्राप्त होने वाली प्रतिभा के न होने पर भी कोई व्यक्ति विद्या का अध्ययन एवं निरन्तर अभ्यास करके काव्य की रचना कर सकता है। इस कीर्ति को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति दिन-रात सरस्वती की सेवा करने से उसकी कृपा प्राप्त कर लेने पर विद्वानों की सभा में विचरण करने योग्य हो जाता है —

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धिप्रतिभानमद्‌भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥[1]

किन्तु उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त उचित नहीं प्रतीत होते। इस सम्बन्ध में आचार्य मम्मट ने सभी काव्याचार्यों के तत्सम्बन्धी तथ्यों का आलोडन-विलोडन करने के पश्चात् जो विचार व्यक्त किए हैं हम उन्हीं से सहमत हैं। उन्होंने लिखा है ———

"त्रयः समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्य उद्भवे, निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः॥"[2]

अर्थात् काव्य के सर्जन कार्य में प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीनों के सम्मिलित स्वरूप को ही कारण कहा जा सकता है, पृथक् रूप को नहीं। ऐसी स्थिति में ये तीनों एक दूसरे के पूरक सिद्ध हो जाते हैं। यहाँ "चक्रचीवराविन्याय' के तीनों को ही काव्य-हेतु के रूप में स्वीकार करना ही औचित्यपूर्ण कहा जा सकेगा। अपने आप में किसी को भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता है।

(5) काव्य की उपादेयता

संसार में किसी भी वस्तु की रचना निरुद्देश्य कदापि सम्भाव्य नहीं है। उसके पीछे उसकी उपादेयता का कोई न कोई अंश अवश्य सन्निविष्ट रहता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार काव्य की रचना में, कवि की किसी न किसी उपादेयता के कारण ही संलग्न होता है। काव्य की उपादेयता- सम्बन्धी यह विचार-परम्परा काव्यशास्त्र की अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने इस सम्बन्ध में अपने विचारों का प्रस्तुतीकरण किया है।

(क) 'नाट्यशास्त्र' में प्रतिपादित नाट्य के उद्देश्यों के आधार पर आचार्य भरत के काव्य की उपादेयता- सम्बन्धी विचारों के अनुसार काव्य हितैषी-रूप में धैर्य, मनोविनोद एवं सुख को देने वाला तथा यथावसर दुःख, परिश्रम एवं शोक से पीड़ित व्यक्तियों को शान्ति प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त धर्म, यश एवं आयु का वर्द्धक तथा सांसारिक व्यक्तियों को सन्मार्ग एवं असन्मार्ग के औचित्यपूर्ण निर्णय का विवेचक होता है —

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत्॥

1- काव्यादर्श, 1/104-5

2- काव्यप्रकाश, 1/3 की वृत्ति

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति।"[1]

(ख) अग्निपुराणकार के अनुसार काव्य के अंग रूप नाट्य द्वारा धर्म, अर्थ एवं काम रूप त्रिवर्ग की प्राप्ति होती है —

"त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्।"[2]

(ग) आचार्य भामह के कथनानुसार काव्य, धर्म अर्थ, काम, मोक्ष, कलाओं में चतुरता यश एवं आनन्द की प्राप्ति कराता है —

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥"[3]

(घ) आचार्य दण्डी ने धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय को काव्य की उपादेयता के रूप में स्वीकार किया है —

"चतुर्वर्गफलायत्तम्।"[4]

(ङ) आचार्य वामन ने दृष्ट एवं अदृष्ट के रूप में यश तथा आनन्द की प्राप्ति को काव्य की उपादेयता का सूचक बताया है —

"काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।"[5]

(च) आचार्य रुद्रट ने काव्य की उपादेयता के सम्बन्ध में बताया है कि इससे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति, आर्थिक सहयोग, दुःख एवं रोगों का निवारण तथा अभीप्सित फल की प्राप्ति होती है —

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघुमृदुनीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥
अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः॥
नुत्वा तथा हि दुर्गां केचित्तीर्णा दुरुत्तरां विपदम्।
अपरे रोगविमुक्तिं वरमन्ये लेभिरेऽभिमतम्॥[6]

नाट्यशास्त्र 1/113–15 भरतमुनि 2– अग्निपुराण– 338/7
3– काव्यालंकार 1/12 भामह, 4– काव्यादर्श— दण्डी, 5—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति। /1/5
6– काव्यालंकार, 12/1, 1/8/9 रुद्रट

(छ) ध्वन्यात्मवाद के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य की उपादेयता काव्यार्थतत्व के विशेषज्ञ सहृदयजनों के हृदयों को आनन्द की अनुभूति कराने में है —

"तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।"[1]

(ज) काव्य की उपादेयता के सम्बन्ध में आचार्य कुन्तक का कथन है कि काव्य द्वारा पुरुषार्थ चतुष्टय के अतिरिक्त सभी प्रकार के व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति एवं चामत्कारिक आनन्द की अनुभूति होती है ——

"धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
व्यवहारपरिस्पन्द सौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।"[2]

(झ) रस के समर्थक आचार्य भोजराज ने यश एवं प्रसन्नता की प्राप्ति को ही काव्य की उपादेयता के रूप में स्वीकार किया है ——

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।"[3]

(ञ) आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य से यश, धन, व्यावहारिक,-ज्ञान, अनिष्ट-निवारण, आनन्द एवं सरस के औचित्यपूर्ण उपदेशों की प्राप्ति होती है —

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।"[4]

(ट) आचार्य हेमचन्द्र ने काव्य की उपादेयता के व्यंजक तत्वों में आनन्द एवं यश की प्राप्ति तथा सरसतापूर्ण उपदेश को समाहित किया है ,—

"काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च।"[5]

(ठ) आचार्य वाग्भट ने अपने पूर्ववर्ती काव्याचार्यों के एतत्सम्बन्धी विचारों का संकलन करते हुए आनन्द, अनिष्ट-निवारण, व्यावहारिक-ज्ञान, धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग, सरस उपदेश तथा यश को काव्य की उपादेयता के तत्वों के रूप में स्वीकार किया है—

(सभी प्रतीक अगले पृष्ठ पर देखें)

"काव्यं प्रमोदायानर्थपरिहाराय व्यवहारज्ञानाय त्रिवर्गफललाभाय कान्ता-तुल्यतयोपदेशाय कीर्तये च ।"[1]

(ड) काव्य की उपादेयता के सम्बन्ध में आचार्य विद्यानाथ का कथन है कि ऐसा कोई भी तत्व नहीं है, जो काव्य द्वारा अप्राप्य हो ——

"न तत्किंचिन्न विलोक्यते न किल यत्काव्यात्समुन्मीलति।"[2]

(ढ) साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार काव्य की उपादेयता के स्वरूप का ज्ञान पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति से होता है ——

"चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव .... ॥[3]

(ण) आचार्यप्रवर पण्डितराज जगन्नाथ का कथन है कि यश, प्रसन्नता, गुरु, राजा एवं देवता की कृपा आदि अनेक तत्व काव्य की उपादेयता वैधायक हो सकते हैं ——

"तत्र कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य।"[4]

काव्य की उपादेयता सम्बन्धी उपर्युक्त विचारसरणि का सम्यक् निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इस सम्बन्ध में सभी आचार्यों ने अपने-अपने अनुसार विचारों का प्रतिपादन किया है। उनकी इस वैचारिक परम्परा में साम्य एवं वैषम्य का पूर्ण सम-न्वय दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि उनकी इस समन्वयात्मक स्थिति में समाहित तत्वों का पूर्णतया विश्लेषण करें तो काव्य की उपादेयता का रहस्य सरलतापूर्वक ज्ञात हो जायेगा।

(पिछले पृष्ठ के प्रतीकों के उद्धरण —)

1- ध्वन्यालोक 1/1 आनन्दवर्धन
2- वक्रोक्तिजीवित, 1/3-5 कुन्तक
3- सरस्वतीकण्ठाभरण, 1/2 भोजराज
4- काव्यप्रकाश, 1/2
5- काव्यानुशासन, पृ0 3-4

1- काव्यानुशासन पृ0 2 वाग्भट
2- एकावली— विद्यानाथ
3- साहित्यदर्पण, 1/2 विश्वनाथ
4- रसगंगाधर — पण्डितराज जगन्नाथ

काव्य की उपादेयता सम्बन्धी उपर्युक्त विचारधारा में निम्नलिखित महत्वपूर्ण तत्वों का समावेश प्राप्त होता है ——

(1) पुरूषार्थचतुष्टय की प्राप्ति
(2) व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति
(3) यशोपलब्धि
(4) अमंगल-निवारण
(5) आनन्दानुभूति
(6) कर्तव्याकर्तव्य का सरस विवेचन।

(1) पुरूषार्थचतुष्टय की प्राप्ति

धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष के समन्वित रूप को पुरूषार्थचतुष्टय कहा गया है। भारतीय संस्कृति में पुरूषार्थचतुष्टय को अत्यन्त प्राचीनकाल से ही अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है। मानव जीवन का प्रधान लक्ष्य पुरूषार्थचतुष्टय की प्राप्ति को बतलाया गया है। भामह, दण्डी, रूद्र-ट, कुन्तक एवं विश्वनाथ आदि विविध काव्याचार्यों ने काव्य की उपादेयता के सम्बन्ध में पुरूषार्थचतुष्टय में सन्निहित तत्वों की स्पष्ट घोषणा की है। इनके अतिरिक्त अग्निपुराणकार व्यास एवं वाग्भट आदि कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जो इस समुदाय के चतुर्थ तत्व 'मोक्ष' को काव्य की शक्ति से पृथक् घोषित करते हैं। उनका कथन है कि काव्य द्वारा मोक्ष रूप फल की प्राप्ति असम्भव है। अब हम पुरूषार्थचतुष्टय में समाहित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों तत्वों के स्वरूपों का पृथक् पृथक् विवेचन करेंगे ——

(क) धर्म :——

काव्यों का अध्ययन करने से धर्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। प्रत्येक कवि अपने काव्य में तात्कालिक धार्मिक स्थिति का समावेश अवश्य करता है। अतः काव्य द्वारा विभिन्न धर्मों के विविध रीति-रिवाजों, देवी-देवताओं आदि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। 'धर्म' का महत्व पुरूषार्थचतुष्टय में कुछ विशेष रूप में है, इसीलिए क्रम-सीमा में उसे प्रथम स्थान दिया गया है। सामाजिक जीवन में हर मनुष्य अपने धार्मिक अनुदेशों के आधार पर ही अपनी कार्य-प्रणाली में संलग्न होता है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' यह सूक्ति धर्म के महत्व का पूर्ण प्रतिपादन प्रस्तुत करती है। इस प्रकार काव्याचार्यों ने काव्य की उपादेयता में इसे समुचित सन्निविष्ट किया है।

(ख) अर्थ :—

पुरुषार्थचतुष्टय में दूसरा स्थान 'अर्थ' का है। विभिन्न काव्याचार्यों ने काव्य की उपादेयता में यह उद्घोषित किया है कि काव्य द्वारा अर्थ की प्राप्ति सरलता पूर्वक की जा सकती है। आचार्य मम्मट ने इसे पुरुषार्थचतुष्टय या त्रिवर्ग में न सम्मिलित करके पृथक् रूप से स्वीकार किया है और बताया है कि काव्य द्वारा यथेष्ट धन प्राप्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने धावक नामक कवि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इस कवि ने 'रत्नावली' नामक नाटिका की रचना की, तत्पश्चात् राजा हर्ष को उसका रचयिता बनाकर उनके हाथ बेच दिया। उसके स्थान पर राजा हर्ष ने उसे यथेष्ट धन प्रदान किया। आज भी लोग दूसरों के नाम से रचनाएँ समुपस्थापित करके यथेष्ट धन प्राप्त करते हैं। प्राचीन काल में विशेष रूप से हिन्दी साहित्य के रीतिकालिक कवि राजाश्रय में रहकर ही कवि-कर्म द्वारा अपना जीवन-यापन करते थे। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य द्वारा अर्थ की प्राप्ति हो जाती है।

(ग) काम :—

पुरुषार्थचतुष्टय में 'काम' का भी अपना विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ पर 'काम' का अर्थ मात्र ऐन्द्रिक वासना की पूर्ति को नहीं माना गया है, वरन् गृहस्थ जीवन में पति-पत्नी के रूप में संयुक्त होकर धार्मिक नियमों का पालन करते हुए वासनात्मक स्थिति से ऊपर उठकर पुत्रोपलब्धि करना है। किसी भी व्यक्ति को पुत्र की प्राप्ति करना आवश्यक बताया गया है। काव्य द्वारा पुत्रोपलब्धि भी सम्भाव्य है। कालिदास का रघुवंश महाकाव्य इस कथन की पूर्ण परिपुष्टि करता है, इस महाकाव्य में बताया गया है कि महाराज दिलीप ने गो-सेवा द्वारा पुत्र-रत्न की प्राप्ति की थी।

(घ) मोक्ष :—

पुरुषार्थचतुष्टय का चतुर्थ तत्त्व 'मोक्ष' है। विविध आचार्यों ने बताया है कि काव्य द्वारा मोक्ष की प्राप्ति भी हो सकती है। उपर्युक्त विवरण के आधार पर काव्य से धर्म, अर्थ, एवं काम की प्राप्ति तो हो सकती है, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होती। क्योंकि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् बिना ज्ञान के मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि किस वस्तु के ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकेगा? इसके उत्तर में कहा गया है —"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।" — अर्थात् उस परमतत्त्व (ब्रह्म) का ज्ञान प्राप्त करके

ही मृत्यु को पार किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। ऐसी स्थिति में यह सिद्ध हो जाता है कि उस परब्रह्म के चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन करने पर ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। इस सिद्ध के आधार पर काव्याचार्यों द्वारा उपस्थापित काव्य से मोक्ष की प्राप्ति वाला सिद्धान्त निराधार सिद्ध हो जाता है, किन्तु यदि इस सम्बन्ध में और गहन चिन्तन किया जाय तो ज्ञात होगा कि उस परब्रह्म का चिन्तन दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन करने के उपरान्त ही सम्भव है। दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन करने के पूर्व काव्य सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि काव्य ऐसे ग्रन्थ हैं जो सरस होने के कारण यथाशीघ्र बुद्धिगम्य हो जाते हैं, किन्तु दार्शनिक ग्रन्थों के लिए परिपक्व बुद्धि अपेक्षित है। काव्यों के अध्ययन द्वारा बुद्धि विकसित होकर परिपक्व हो जाती है, जिससे दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन में सरलता की अनुभूति होने लगती है। इस प्रकार तत्व-चिन्तन की ओर मन का झुकाव होने लगता है, जिसके परिणाम स्वरूप 'मोक्ष' नामक अलौकिक तत्व की प्राप्ति भी सन्निकट होती जाती है और एक समय ऐसा आता है कि वह तत्व चिन्तक व्यक्ति इस संसार के आवागमन से मुक्त हो जाता है। इसी को मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति में काव्य का पूर्ण सहयोग अपेक्षित सिद्ध हो जाता है।

(2) व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति

यह नश्वर संसार वाणी के आदान प्रदान द्वारा गतिशील है। वाणी के औचित्यपूर्ण आदान-प्रदान का सर्वोत्तम साधन काव्य ही हो सकता है। काव्य के सम्यक् अध्ययन के द्वारा लोक-व्यवहार का ज्ञान प्राप्त होता है। इस व्यावहारिक ज्ञान के बिना सामाजिक-जीवन के कार्यों में सफलता की प्राप्ति नहीं हो सकती है। समाज में किसी व्यक्ति से किस प्रकार बोलना चाहिए? उसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए? इत्यादि विषयक जानकारी विविध काव्यों के अध्ययन से प्राप्त हो जाती है। काव्य के अध्ययन द्वारा हम किसी युग-विशेष के लोगों का आचरण तथा व्यवहार सरलतापूर्वक ज्ञात कर सकते हैं। उदाहरणार्थ — महाकवि कालिदास के काव्यों का अध्ययन करने पर सम्राट विक्रमादित्य के समय का भारत अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत हो जाता है। भामह, कुन्तक मम्मट एवं वाग्भट ह आदि विविध आचार्यों ने काव्य की उपादेयता-सम्बन्धी अपने विवेचन में इसका पूर्णोल्लेख किया है। आचार्य भामह ने 'वैचक्षण्यं कलासु च' के रूप में इसका उल्लेख किया है। व्यावहारिक कुशलता भी कलाओं में अन्तर्भूत है। आचार्य कुन्तक ने व्यावहारिक ज्ञान के महत्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि ——

व्यवहारपरिस्पन्द सौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥"[1]

अर्थात् व्यवहार आदि का सुन्दर स्वरूप काव्य के अध्ययन द्वारा ही प्राप्त होता है। आचार्य मम्मट ने इसका उल्लेख 'राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्' के रूप में किया है। आचार्य मम्मट के इस काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी कथन का अभिप्राय यह है कि राजा के आचार-विचार- रहन - सहन तथा उठने-बैठने के ढँ-ग आदि समस्त राज-परिवार — विषयक बातों की जानकारी उन्हीं काव्यों के अध्ययन द्वारा ही प्राप्त होती है। इस प्रकार व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति के रूप में भी काव्य की एक अन्य उपादेयता की परिपुष्ट हो जाती है।

(3) यशोपलब्धि

काव्य की उपादेयता का तृतीय महत्वपूर्ण तत्व 'यशोपलब्धि' है। भारतीय मनीषियों की मान्यता के अनुसार यह पंचभौतिक नश्वर शरीर तथा अन्य सांसारिक वाङ्-चिक्य सभी मिथ्या है, केवल यश ही चिरस्थायी है। मनीषियों की इस मान्यता को आधार मानकर ही अधिकांश काव्याचार्यों ने काव्य की उपादेयता के रूप में यश को स्वीकार किया है। आचार्य भामह ने काव्य की उपादेयता के यश नामक तत्व का विवरण देते हुए लिखा है कि श्रेष्ठ काव्यों की रचना करने वाले कवि अपना भौतिक शरीर त्याग देने के पश्चात् भी काव्य रूपी यशःशरीर से मानवता की चरमसीमा तक विद्यमान रहते हैं। कभी भी नष्ट न होने वाली उनकी कीर्ति जब तक इस संसार में व्याप्त रहती है, तब तक वे देवत्व की प्राप्ति करते रहते हैं ——

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एवं निरातंकं कान्तं काव्यमयं वपुः।
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत्कीर्तिरनश्वरी।
तावत्किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम्।"[2]

भामह के पश्चात् आचार्य वामन ने यश का विवरण देते हुए लिखा है कि काव्य की रचना करने से यश की प्राप्ति होती है, किन्तु बुरी कविता करने वाला अपयश का भागी होता है। यश के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है एवं अपकीर्ति नरक की ओर

1- वक्रोक्तिजीवित 1/4 कुन्तक

2- काव्यालंकार, 1/6-7 भामह

से जाती है। अतः उत्तम कवियों को चाहिए कि वे कीर्ति को प्राप्त करने-हेतु एवं अप-कीर्ति को दूर करने-हेतु काव्यालंकार के सूत्रों के अनुसार श्रेष्ठ रचना करें —

"प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम्॥
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्॥
तस्मात्कीर्तिमुपादातुमकीर्तिं च निवर्हितुम्।
काव्यालंकारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुंगवैः॥[1]

आचार्य मम्मट ने काव्य की उपादेयता सम्बन्धी तत्वों में 'यश' को प्रथम स्थान प्रदान किया है। काव्य से यश की प्राप्ति किस प्रकार होती है? इस सम्बन्ध में उन्होंने 'कालिदासादीनामिव यशः' लिखकर कालिदास को इसका उदाहरण बताया है। कवि कालिदास ने अपने सभी काव्यों की रचना यश की प्राप्ति के लिए की थी। अतः आज भी उनका यशः शरीर सम्पूर्ण संसार के जन-जन की वाणी में विद्यमान है। अपने रघुवंश महा-काव्य में दिलीप के रूप में वह सिंह से कह रहे हैं कि हे कानन केसरी, यदि आप मुझे जीवित रखना चाहते हैं तो मेरे यश रूपी शरीर पर कृपा कीजिए, मेरे सामने इस नश्वर शरीर का कोई महत्व नहीं है ——

"किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥"[2]

आचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट के अभिमत का समर्थन करते हुए लिखा है कि काव्य की उपादेयता रूप यश तत्व केवल कवि के लिए उपयोगी है जिसका उदाहरण कालि-दास आदि को प्रस्तुत किया जा सकता है ——

'यशस्तु कवेरेव। यत् श्री जयति संसारे चिरातीता अप्यद्य यावत् कालिदा-सादयः स्तूयन्ते कवयः॥"[3]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार काव्य द्वारा मात्र कवि को यश की प्राप्ति होती है, किन्तु उनका यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि डा० राजेन्द्र प्रसाद महात्मा गाँधी, पण्डित जवाहर लाल नेहरू एवं लाल बहादुर शास्त्री आदि ऐसे महापुरुष

1- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/1/5 पर वृत्ति वामन

2- रघुवंश 2/57 कालिदास   3- काव्यानुशासन पृ0 3-4 हेमचन्द्र

हैं जो काव्यों के अध्ययन द्वारा प्रतिपादित अपने कार्यों से प्रभूत यश के रूप में शाश्वत विद्यमान प्रतीत होते हैं।

आचार्य वाग्भट ने यश को काव्य की उपादेयता सूचित करने का निर्णय ले लिया है —

"वयं तु कीर्तिमेवैकां काव्यहेतुतया मन्यामहे .... अतः कीर्तिरेवैका काव्यहेतुः॥"[1]

आचार्य भर्तृहरि ने उन कवियों की वन्दना की है, जिन्होंने अपनी काव्य-रचना यश की प्राप्ति-हेतु सम्पादित की है —

"जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।"[2]

(4) अमंगल - निवारण

विभिन्न काव्याचार्यों द्वारा अमंगल-निवारण को काव्य का एक प्रयोजन स्वीकार किया गया है। यह प्रयोजन कवि एवं अध्येता दोनों के लिए सहायक सिद्ध होता है। काव्य की उपादेयता-विधायक इस तत्व द्वारा संस्कृत-साहित्य के स्तोत्र काव्यों की ओर सकेत प्राप्त होता है। संस्कृत साहित्य में स्तोत्र-काव्य-परम्परा अपने विस्तृत रूप में विद्यमान है। कवियों ने अपने अमंगल का निवारण इष्ट देवताओं की स्तुतियों द्वारा सम्पन्न किया है। आचार्य मम्मट ने इस संबंध में मयूर नामक कवि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। मयूर कवि बाणभट्ट के साले माने गये हैं। एक बार बाणभट्ट की पत्नी किसी कारणवश उनसे रूठ हो गयी थीं। बाणभट्ट उन्हें रात्रि-पर्यन्त मनाते रहे, किन्तु इस कार्य में उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। अन्ततः प्रातःकाल के उपस्थित हो जाने पर उन्होंने अपनी पत्नी से इस प्रकार निवेदन किया ——

"गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव॥
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो

बाणभट्ट के उपर्युक्त अन्तिम कथन के समय मयूरभट्ट वहाँ उपस्थित हो गये थे, अतः अन्तिम चरण की पूर्ति उन्होंने स्वयं कर दी ——

कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डिकठिनम्।"

1- काव्यानुशासन, पृ0 2 वाग्भट   2— नीतिशतक, भर्तृहरि

बाणभट्ट की पत्नी ने अपने भाई के छद्‌मवृत्ति रूप इस कार्य से रूष्ट होकर उसे क्रोधावेश में कुष्ठरोगी होने का शाप दे दिया, जिसके प्रभाव से मयूरभट्ट कुष्ठ रोग से ग्रस्त हो गये। अन्त में उन्होंने 'सूर्यशतक' नामक स्तुतिपरक काव्य की रचना करके इस शाप से मुक्ति प्राप्त कर ली। इस प्रकार काव्य द्‌वारा अमंगल का निवारण भी किया जा सकता है। देवी शतक, भैरवस्तोत्र, गंगालहरी तथा करूणालहरी आदि अन्य स्तोत्र परक ग्रन्थों को भी इसी रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

(5) आनन्दानुभूति

काव्य की उपादेयता के ज्ञापक तत्वों में इसका महत्व सर्वोपरि है। काव्य से विशिष्ट प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है। काव्य के पढ़ते-पढ़ते पाठक झूम जाता है और उसे एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होने लगती है। उस समय उसे किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं रहता है। प्रायः सभी काव्याचार्यों ने आनन्दानुभूति को काव्य का प्रमुख प्रयोजन के रूप में उल्लेख किया है। भरत, भामह एवं वामन आदि प्रारम्भिक आचार्यों ने काव्य के प्रयोजन के रूप में इसका उल्लेख मात्र किया है, किन्तु इनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसके महत्व का प्रतिपादन भी किया है। ध्वनिसिद्‌धान्त के संस्थापक आचार्य आनन्द-वर्धन ने आनन्दानुभूति को ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन स्वीकार किया है। 'ध्वन्यालोक' की प्रथम कारिका की व्याख्या में उन्होंने इस तथ्य का संकेत इस प्रकार प्रस्तुत किया है ——

"तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥ अत्र च रामायण महाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्‌धव्यवहारे लक्षयतां सहृदयानामानन्दो लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते। सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।"[1]

आचार्य कुन्तक ने काव्य प्रयोजन के रूप में आनन्दानुभूति को पुरूषार्थचतुष्टय से भी महत्वपूर्ण रूप में स्वीकार किया है ——

"चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्‌विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।"[2]

इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने काव्य के रसास्वादन से उत्पन्न संसार के अन्य सभी सुखों को विस्मृत करा देने वाली आनन्दानुभूति को काव्य के अन्य प्रयोजनों से उत्कृष्ट रूप में स्वीकार किया है ——

1- ध्वन्यालोक 1/1 एवं उसकी वृत्ति   2- वक्रोक्तिजीवित 1/4 कुन्तक

"सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।"[1]

आचार्य प्रभाकर भट्ट ने काव्य के सभी प्रयोजनों में आनन्दानुभूति को महत्वपूर्ण बताया है —

"इह तावत्काव्यस्यानेकप्रयोजनजनकत्वेऽपि रससंविदानन्दं सुखमेव मुख्यं प्रयोजनम्।"[2]

आचार्य हेमचन्द्र ने भी आनन्दानुभूति को ब्रह्मास्वाद के समान बताकर अन्य काव्य-प्रयोजनों से उसे महान् बताया है —

"रसो रसास्वादजन्मा निरस्तवेद्यान्तरा ब्रह्मास्वादसदृशी प्रीतिरानन्दः। इदं सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूतं कविसहृदययोः काव्यप्रयोजनम्।"[3]

(6) कर्तव्याकर्तव्य का सरस विवेचन

काव्याचार्यों ने काव्य का अन्तिम प्रयोजन कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान का सरसतापूर्ण विवेचन करना बताया है। इस प्रयोजन का पूर्ण विश्लेषण करते हुए आचार्य मम्मट ने इस प्रकार लिखा है —

"प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।"[4]

अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की तीन शैलियाँ हैं — (1) शब्दप्रधान (2) अर्थप्रधान (3) रसप्रधान। वैदिक ज्ञान शब्दप्रधान शैली में सन्निबद्ध है, इसे 'प्रभु-सम्मित' भी कहा जाता है। इस शैली में आज्ञा का भाव सन्निहित रहता है तथा स्वामी एवं सेवक भाव का सम्बन्ध रहता है। वैदिक ज्ञान आदेश रूप में प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई राजा अपने सेवक को उसकी परिस्थिति का ज्ञान किए बिना किसी कार्य के लिए आदेश देता है, उसी प्रकार वैदिक ज्ञान भी पाठक या अध्येता की भावना के विरुद्ध

1— काव्यप्रकाश, 1/2 की वृत्ति

2— रस-प्रदीपिका — प्रभाकरभट्ट

3— काव्यानुशासन पृ0 3-4 हेमचन्द्र

4— काव्यप्रकाश, 1/2 की वृत्ति

भी अपने को मान्य बनाता है। वैदिक साहित्य में जो कुछ भी कहा गया है, उसका अक्षरशः पालन करना आवश्यक होता है। इसे हम अभिधा शैली भी कह सकते हैं।

(2) काव्योपदेश की द्वितीय शैली अर्थप्रधान कही गयी है। इसमें जो कुछ भी शिक्षा दी जाती है उसका अक्षरशः पालन करना आवश्यक नहीं बताया गया है। इसे इतिहास पुराणों की शैली भी कहा गया है। जिस प्रकार कोई मित्र अपने मित्र को भली-भाँति समझाकर उसे उचित कार्य में प्रवृत्ति एवं अनुचित कार्य से निवृत्ति का उपदेश देता है, उसी प्रकार पुराण और इतिहास आदि की शिक्षा का तात्पर्य अर्थप्रधान होता है अर्थात् वे मित्र के समान औचित्य और अनौचित्य के पूर्ण विवेक के आधार पर उपदेश देते हैं। इसे लाक्षणिक शैली भी कहा जा सकता है।

(3) काव्य के द्वारा जिस कर्तव्याकर्तव्य का रस सरसतापूर्ण विवेचन किया जाता है, उसकी शैली रस-प्रधान कही गयी है। इसे दूसरे शब्दों में कान्तासम्मित शैली भी कहा जाता है। काव्य की ज्ञानप्रदायिका यह शैली उपर्युक्त प्रभुसम्मित एवं सुहृत्सम्मित दोनों से सर्वथा भिन्न है। इसमें न तो शब्द की प्रधानता होती है और न अर्थ की ही। दोनों से भिन्न रस की प्रधानता होती है। इस रसप्रधान शैली को ही आचार्य मम्मट ने 'कान्ता-सम्मित' कहा है। जिस प्रकार कान्ता अर्थात् पत्नी सरसतापूर्वक अपने पति को अपनी ओर आकृष्ट करके ही उससे किसी वस्तु की याचना किया करती है और इस स्थिति पर उसका पति उसकी याचना को अस्वीकृत नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह काव्यात्मक शैली किसी भी पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करके उसे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान प्रदान करती है। रामायण में कहीं भी आदेश के रूप में या परामर्श के रूप में यह नहीं कहा गया है कि मनुष्य को राम के समान आचरण करना चाहिए, रावण के समान नहीं, अपितु रामायण के रचयिता ने राम एवं रावण दोनों के चरित्रों का विश्लेषण जनमानस के समक्ष उपस्थित कर दिया है। अब इस विश्लेषण के द्वारा जनमानस राम की चारित्रिक विशेषताओं से आकर्षित होकर उस पथ का अनुगामी बन जाता है। कवि प्रत्यक्षरूप से किसी आचरण के लिए शिक्षा नहीं करता, किन्तु व्यंजना द्वारा उसकी सरस विवक्षता का ही ज्ञान होता है।

इस सरस उपदेशात्मक शैली की महत्ता का विवेचन मम्मट के पूर्व भामह एवं कुन्तक आदि आचार्यों ने भी किया है। आचार्य भामह ने लिखा है ——

"स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्।।"[1]

---

1. काव्यालंकार, भामह

अर्थात् जिस प्रकार शहद के मीठेपन से आकृष्ट होकर कोई शिशु कड़ुवी औषधि को भी पी जाता है, उसी प्रकार शास्त्रों में प्रतिपादित शिक्षा, काव्य के रसानन्द की अनुभूति से सरलतापूर्वक ग्रहण कर ली जाती है।

इसी प्रकार आचार्य कुन्तक ने शास्त्रीय नीरस शैली की अपेक्षा काव्यीय शैली को अधिक उपयुक्त बताया है ——

"कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत् काव्यमविवेकगदापहम्।"[1]

अर्थात् शास्त्रीय उपदेश कड़ुवी औषधि के समान है, किन्तु काव्यात्मक शैली में प्रतिपादित उपदेश आनन्द प्रदान करने वाले उस अमृत के समान है, जिसका सेवन करने से अज्ञानरूपी व्याधि और अविवेक शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने भी काव्यात्मक शैली को प्रशंसनीय दृष्टि से देखने का प्रयास किया है ——

"कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्।"[2]

इस प्रकार सभी काव्याचार्यों ने काव्य की उपादेयता से सम्बन्धित तत्वों का स्वमत्या विश्लेषण किया है। इन तत्वों में से किसी ने यश को महत्व प्रदान किया है, किसी ने पुरुषार्थ चतुष्टय को, किसी ने आनन्दोपलब्धि को एवं किसी ने सरसता से परिपूर्ण उपदेशात्मक शैली को। इन तत्वों में से कुछ कवि के दृष्टिकोण से हैं और कुछ अध्येता के दृष्टिकोण से। अतः इन दोनों आधारों के अनुसार हम यश को कवि के लिए एवं आनन्दोपलब्धि को अध्येता के लिए काव्य का महत्वपूर्ण प्रयोजन कह सकते हैं। सामान्यतः काव्य की उपादेयता सम्बन्धी उपर्युक्त सभी तत्व महत्वपूर्ण हैं।

(6) काव्य का वर्गीकरण

काव्य के स्वरूप के विवेचन में काव्यशास्त्र का इतिहास एवं उसका नामकरण, काव्य की परिभाषा, काव्य के हेतु एवं काव्य की उपादेयता आदि विविध विषयों का विश्लेषण कर लेने पर उसके वर्गीकरण का विषय अवशिष्ट रह जाता है। इस विषय पर आचार्य भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने अपनी विचारधाराओं का प्रस्तुतीकरण किया है।

1- वक्रोक्तिजीवितम् — कुन्तक   2- साहित्यदर्पण-विश्वनाथ

(क) सर्वप्रथम आचार्य भामह ने चार आधारों पर काव्य का वर्गीकरण करते हुए इस प्रकार लिखा है —

> ".. गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
> संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥
> वृत्तदेवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च।
> कलाशास्त्राश्रयं चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः॥
> सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
> अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते॥"[1]

अर्थात्

(1) रचना के आधार पर गद्य एवं पद्य के रूप में उसके दो भेद हैं।

(2) भाषा के आधार पर वह संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के रूप में तीन प्रकार का है।

(3) प्रतिपाद्य विषयवस्तु के आधार पर उसके चार भेद हैं।

(क) विभिन्न कलाओं के अनुसार देवता आदि के चारित्रिक चित्रण करने वाले काव्य।

(ख) विभिन्न शास्त्रों के अनुसार देवता आदि के चारित्रिक चित्रण करने वाले काव्य।

(ग) विभिन्न कलाओं के अनुसार काल्पनिक कथानक वाले काव्य।

(घ) विभिन्न शास्त्रों के अनुसार काल्पनिक कथानक वाले काव्य।

(4) स्वरूप के आधार पर उसके पाँच भेद हैं —

(क) सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य (ख) अभिनेयार्थ अर्थात् नाट्य-साहित्य (ग) आख्यायिका (घ) कथा (ङ) अनिबद्ध अर्थात् मुक्तक।

(ख) भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने काव्य का स्पष्ट वर्गीकरण किया है —

> "पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।
> मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः।
> सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः।
> अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिकाकथे।"
> इति तस्य प्रभेदौ द्वौ ....॥
> मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।

1- काव्यालंकार, 1/16-17-18 भामह

च गद्य पद्यमयी काव्यमूरित्यविधीयते।
तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुराप्ताश्चतुर्विधम्॥[1]

अर्थात् —

(1) रचना के आधार पर काव्य के तीन भेद हैं —

(क) पद्य — इसमें मुक्तक, कुलक, कोश एवं संघात को सर्गबन्ध महाकाव्य का अंग मात्र माना गया है।

(ख) गद्य — इसमें आख्यायिका तथा कथा का समावेश किया गया है।

(ग) मिश्र — इसमें नाटक तथा चम्पू काव्य समाहित हैं।

(2) भाषा के आधार पर चार भेद हैं —

(क) संस्कृत (2) प्राकृत (3) अपभ्रंश (4) मिश्रित भाषा

(ग) आचार्य वामन ने सर्वप्रथम गद्य एवं पद्य के रूप में काव्य को दो भागों में विभाजित किया है, तत्पश्चात् वृत्तगन्धि, चूर्ण एवं उत्कलिका प्रधान रूप में गद्य के एवं अनिबद्ध अर्थात् मुक्तक तथा निबद्ध अर्थात् प्रबन्ध काव्य के रूप में पद्य के अवान्तर भेदों का निरूपण प्रस्तुत किया है —

"काव्यं गद्यं पद्यं च।
गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायं च।
पद्यमनेकभेदम्।
तदनिबद्धं निबद्धं च॥[2]

(घ) ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य के कई भेदों की ओर संकेत किया है —

"यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धं, सन्दानितकविशेषक कलापककुलकानि, पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथे, सर्गबन्धः अभिनेयार्थम् इत्येवमादयः।"[3]

किन्तु अन्ततः उनके तीन भेदों को मान्यता दी है —

1- काव्यादर्श 1/11, 13, -23-31-32 दण्डी 2- आचार्य वामन काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/3/21-22-26-27

3- ध्वन्यालोक 3/7 पर वृत्ति

गुणप्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।

काव्ये उभे ततोन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते।"[1]

(ङ) आचार्य मम्मट ने ध्वन्यालोककार के अनुसार ही उत्तम, मध्यम एवं चित्रकाव्य के रूप में काव्य का वर्गीकरण किया है।[2]

(च) आचार्य मम्मट के पश्चात् अलंकारसर्वस्व के रचयिता आचार्य राजानक रुय्यक ने भी काव्य के इन्हीं भेदों को स्वीकार किया है —

"तत्र व्यंग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यां ध्वनिगुणीभूतव्यंग्याख्यौ द्वौ काव्यभेदौ। व्यंग्यस्यास्फुटत्वेऽलंकारत्वेन चित्राख्यः काव्यभेदस्तृतीयः, तत्रोत्तमो ध्वनिः॥"[3]

(छ) साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने काव्य को मात्र दो भागों में विभाजित किया है —

"काव्यध्वनि गुणीभूतव्यंग्यं चेति द्विधा मतम्॥"[4]

(ज) आचार्य अप्पय दीक्षित ने अपने 'चित्रमीमांसा' नामक ग्रन्थ में उत्तम, मध्यम, एवं अधम के रूप में काव्य के वर्गीकरण को स्वीकार किया है —

"तदेवं त्रिविधे गुणीभूतव्यंग्ययोरन्यत्रास्माभिः प्रपंचः कृतः। शब्दचित्रस्य प्रायः नीरसत्वान्नात्यन्तं तत्राद्रियन्ते कवयः न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यते।"[5]

(झ) पण्डितराज जगन्नाथ ने उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम के रूप में काव्य को चार भेदों में विभाजित किया है —

"तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा।"[6]

इस प्रकार विभिन्न काव्याचार्यों द्वारा प्रस्तावित काव्य के वर्गीकरण का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि भामह, दण्डी एवं वामन आदि प्रारम्भिक आचार्यों ने काव्य के बाह्य स्वरूप पर ही विचार किया है, किन्तु आगे चलकर ध्वन्यालोककार ने काव्य के अन्तस्तत्व पर विचार करना प्रारम्भ किया। उनकी यह विचारधारा पण्डितराज जगन्नाथ तक समादृत रही है। ऐसी स्थिति में काव्य के वर्गीकरण की ऐतिहासिक परम्परा का विवेचन करने के उपरान्त उत्तम, मध्यम एवं अधम के रूप में काव्य के तीन प्रकारों का नैश्चित्य हो जाता है।

1- ध्वन्यालोक 3/42 2- (क) इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। काव्यप्रकाश 1/4

(ख) अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्।

(ग) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्॥ काव्यप्रकाश 1/5

3- अलंकारसर्वस्व — पृ० 9-10 4— साहित्यदर्पण 4/1 5— चित्रमीमांसा पृ० 4

6- रसगंगाधर पृ० 9

(1) उत्तमकाव्य

उत्तम काव्य की परिभाषा सर्वप्रथम ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत की है। उनके अनुसार जहाँ वाच्य अर्थ अपने आपको तथा वाचक शब्द अपने आपको और अपने अर्थ को अप्रधान बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वहाँ ध्वनि-काव्य या उत्तमकाव्य होता है —

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥"[1]

उत्तमकाव्य की दूसरी परिभाषा आचार्य मम्मट की है। उनके अनुसार वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ के उत्कृष्ट होने पर उत्तम काव्य होता है —

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।"[2]

आचार्य विश्वनाथ का ध्वनि काव्य तथा पण्डितराज जगन्नाथ का उत्तमोत्तम काव्य भी मम्मटाचार्य के उत्तम काव्य की परिभाषा का अनुकरण करते हैं।[3]

उत्तम काव्य का उदाहरण —

"निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।"[4]

यहाँ कोई नायिका अपनी परिचारिका के दुष्कार्य से रूष्ट होकर उससे कह रही है कि असत्य बोलने वाली अपनी स्वामिनी के दुःख की अवहेलना करने वाली हे दूति, तू बावली में स्नान करने के लिए गयी थी, उस अधम (नायिका का पति) के पास सम्भोग करने के लिए नहीं गयी थी, क्योंकि तेरे स्तनों के अग्रभाग का चन्दन छूट गया है और तेरे अधर की लालिमा नष्ट हो गयी है। इसके अतिरिक्त तेरी आँखें अंजनरहित हो गयी हैं एवं तेरा पतला शरीर रोमांच युक्त दिखायी पड़ रहा है।

1- ध्वन्यालोक — 1/13 2- काव्यप्रकाश — 1/4

3-(क) वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्। — सा0द0 4/1

(ख) शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम्। — रसगंगाधर पृ0 9

4- काव्यप्रकाश, पृ0 30

इस श्लोक में वाच्यार्थ के द्वारा दूती के स्नान करने की स्थिति का चित्रण किया गया है, किन्तु व्यंग्यार्थ के द्वारा यह ध्वनित होता है कि नायिका की परिचा - रिका नायक से संयुक्त होकर उसके पास आयी है। इस प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ के उत्कृष्ट होने के कारण यह श्लोक उत्तम काव्य के उदाहरण के रूप में परिपुष्ट हो जाता है।

(2) मध्यम काव्य :—

ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने मध्यम काव्य को 'गुणीभूतव्यंग्यकाव्य' के नाम से अभिहित किया है। उन्होंने गुणीभूतव्यंग्यकाव्य का लक्षण इस रूप में प्रस्तुत किया है —

"व्यंग्यार्थस्य ...... गुणभावे तु गुणीभूतव्यंग्यता।"[1]

अर्थात् व्यंग्य अर्थ के अप्रधान होने पर गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है।

मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ आदि काव्याचार्यों ने भी मध्यम काव्य को इसी रूप में स्वीकार किया है।[2]

मध्यम काव्य का उदाहरण :—

"ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया।"[3]

अर्थात् ग्रामीण नवयुवक के हाथ में नवीन अशोक की मंजरी को देखकर उस तरुणी के मुख की छाया अत्यन्त मलिन पड़ रही है।

यहाँ पूर्व-निश्चित' सांकेतिक स्थल अशोक के वृक्ष के नीचे नायिका नहीं पहुँच सकी' इस व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ 'नायिका के मुख का मलिन हो जाना' के अ अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण मध्यम काव्य की वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है।

1- ध्वन्यालोक 3/42 2-(क) अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्। - काव्यप्रकाश 1/5
(ख) अपरन्तु गुणीभूतव्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये। सा०द० 4/16
(ग) यत्र व्यंग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्।" रसगंगाधर- 19
3- काव्यप्रकाश, पृ० 3।

(3) अधम काव्य :—

आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार ध्वनिकाव्य एवं गुणीभूत व्यंग्यकाव्य से भिन्न जिसमें व्यंग्यार्थ का अभाव रहता है, वह अधम काव्य या चित्रकाव्य कहलाता है। शब्द एवं अर्थ के भेद से अधम काव्य दो प्रकार का हो जाता है। इनमें से एक को शब्दचित्र एवं दूसरे को अर्थचित्र के नाम से अभिहित करते हैं —

"काव्ये उभे ततोन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते।
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किंचिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्।"[1]

मम्मट एवं पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने भी आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार ही अधम-काव्य या चित्रकाव्य को पारिभाषित एवं विवेचित किया है।[2]

अधम या चित्रकाव्य का उदाहरण :—

(1) शब्दचित्रकाव्य

"स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्॥"[3]

यहाँ शाब्दिक चमत्कार की प्रधानता के कारण शब्दचित्रकाव्य कहा जायेगा।

(2) अर्थचित्रकाव्य

"विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती।"[4]

1- ध्वन्यालोक 3/42-43

2-(क) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।— काव्यप्रकाश, 1/5

(ख) "यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्।" रसगंगाधर पृ0 19

3- काव्यप्रकाश, पृ0 32

4- काव्यप्रकाश, पृ0 33 व्या0 आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि'

इस श्लोक में यद्यपि हयग्रीव की वीरता का वर्णन किया गया है, किन्तु कवि का ध्यान विशेष रूप से उत्प्रेक्षा पर केन्द्रित होने के कारण व्यंग्य रूप वीररस का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। अतः यह चित्रकाव्य में परिगणित किया गया है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने चित्रकाव्य की सत्ता को नहीं स्वीकार किया है। उनका कथन है कि व्यंग्यार्थ-रहित काव्य की कल्पना असम्भव है, किन्तु उनका यह कथन युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार चित्रकाव्य व्यंग्यार्थ से सर्वथा रहित-पूर्ण नहीं होता। उसमें भी व्यंग्यार्थ की समुपस्थिति सम्भव है, किन्तु उसकी प्रतीति अस्पष्ट होती है। चित्रकाव्य में कवि का मुख्य उद्देश्य अलंकारों का चामत्कारिक उपस्थापन मात्र होता है, वैसे इनमें रस आदि भी व्यंजित हो सकते हैं ——

"प्रतीयमानो ह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक्प्रदर्शितः। तत्र यत्र वस्त्वलंकारान्तरं वा व्यंग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्पतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। ...... सत्यं न तादृक्काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किं तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालंकारमर्थालंकारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते। विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्य — वशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादि प्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते।"[1]

इस प्रकार विविध आचार्यों की प्रमुख मान्यता के अनुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम या चित्र के रूप में काव्य का स्वरूप तीन रूपों में निश्चित हो जाता है। आचार्यों द्वारा वैषयिक रसाधिक्य के आधार पर इस नैश्चित्य की संस्थापना की गयी है। वस्तुतः रसानुभूति ही काव्य के आकर्षण का कारण होती है। अतः जिसमें उसकी मात्रा का आधिक्य विद्यमान होता है, वही श्रेष्ठकाव्य का अधिकारी सिद्ध होगा।

(7) काव्य की आत्मा :——

काव्य के स्वरूप, हेतु, परिभाषा, उपादेयता एवं वर्गीकरण आदि विविध विषयों का विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त उसके आत्मतत्व का विवेचन अवशिष्ट रह

1- ध्वन्यालोक — पृ0 526-28 व्याख्याकार आचार्य जगन्नाथ पाठक

जाता है। काव्य के आत्मतत्व के निर्धारण हेतु काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने काव्य के विभिन्न तत्वों की ओर दृष्टिपात किया। इस प्रकार जिस आचार्य की दृष्टि जिस तत्व पर केन्द्रित हुई, उसने उसी को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का अथक प्रयास किया। आचार्य भरत ने 'रस' तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है, अतः वह रस-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। आचार्य भामह द्वारा 'अलंकार' तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है अतः उन्हें अलंकार-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक के रूप में स्मरण किया जाता है। आगे चलकर उद्भट, दण्डी तथा रूद्रट आदि अन्य आचार्यों ने भी आचार्य भामह की मान्यता को अपना अनुमोदन प्रदान किया। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की उद्घोषणा करते हुए आचार्य वामन ने 'रीति' को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। इसके अनन्तर आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' को ही काव्य का आत्मभूत तत्व घोषित करते हुए ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना की। इसी प्रकार काव्य की आत्मा के रूप में विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत उपर्युक्त तत्वों को अस्वीकृत करते हुए आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषित किया। अंततः काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषित उपर्युक्त तत्वों द्वारा काव्य की आत्मा का पूर्ण निदर्शन न होते देख आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' नामक नवीन तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में उद्भावित किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार भारतीय दर्शनशास्त्रियों ने आत्म-तत्व के निरूपण में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक एवं वेदान्त आदि विविध दार्शनिक सम्प्रदायों की उद्भावना की है, उसी प्रकार काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने भी काव्यात्म-तत्व को लेकर रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य आदि विभिन्न सम्प्रदायों को उद्भावित किया है। जिस प्रकार दर्शनशास्त्री आत्मा की निश्चितता में अभी तक एकत्व को नहीं प्राप्त कर सके और न ही प्राप्त होने की आशा है, सम्प्रति वैसी ही स्थिति पर काव्याचार्य भी विद्यमान हैं। सम्प्रति इस सम्बन्ध में सामयिक आचार्य मूकवत् होकर इन्हीं तत्वों की आलोचना-प्रत्यालोचना में संलग्न हैं, किन्तु भविष्य में पुनः किसी ऐसे तत्व की कल्पना उद्भूत हो सकती है। इस प्रकार असहनशीलता के प्रतीक ये सभी प्रतिद्वन्द्वी तत्व आचार्यों के अथक प्रयास के कारण अपना अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ सिद्ध हुए हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न तत्वों के साथ विभिन्न आचार्यों के समर्थन के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। ये विभिन्न सम्प्रदाय कालक्रमानुसार निम्नलिखित हैं ——

(1) रस-सम्प्रदाय — भरत मुनि

(2) अलंकार-सम्प्रदाय — भामह, उद्भट, रूद्रट

(3) रीति - सम्प्रदाय — दण्डी, वामन

(4) ध्वनि - सम्प्रदाय — आनन्दवर्धन

(5) वक्रोक्ति - सम्प्रदाय — कुन्तक

(6) औचित्य- सम्प्रदाय — क्षेमेन्द्र

इनका विस्तृत विवेचन अगले अध्यायों में किया जायेगा।

द्वितीय अध्याय

प्रमुख सांस्कृतिक कथायें का संक्षिप्त परिचय

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥"

— वाल्मीकि रामायण

द्वितीय अध्याय

प्रमुख साम्प्रदायिक आचार्यों का संक्षिप्त परिचय

(1) भरतमुनि

परिचय :——

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय इतिहास में आचार्य भरत सबसे प्राचीन काव्याचार्य माने जाते हैं। इनके जीवन-परिचय का ज्ञान अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका। कुछ भारतीय एवं पाश्चात्य समालोचकों ने इन्हें एक काल्पनिक व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। डा० मनमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र के 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' नामक अपने अंग्रेजी अनुवाद-ग्रन्थ में भरत को एक काल्पनिक व्यक्ति के रूप में प्रकाशित किया है। इसी आधार पर डा० कृष्णकुमार ने लिखा है कि भरत के सम्बन्ध में प्रचलित कथाओं को देखते हुए इस प्रकार की कल्पना अनुचित भी नहीं कही जा सकती। 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता भरत को देवलोक और मनुष्यलोक में आवागमन है। वे ब्रह्मा से नाट्य का उपदेश प्राप्त करते हैं। अपने पुत्रों तथा अप्सराओं की सहायता से वे देवलोक में नाटकों के अभिनय को प्रस्तुत करते हैं। भरत देवताओं की सभा में नाटकों का अभिनय कराया करते थे, इस तथ्य की परिपुष्टि महाकवि कालिदास ने भी की है[1]——

"मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥"
—— विक्रमोर्वशीयम् -- 2/18

किन्तु इस मत का विरोध करते हुए प्रसिद्ध समालोचक एवं टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर ने काव्यप्रकाश की भूमिका में लिखा है कि यह मत वास्तव में ठीक नहीं है। भरत मुनि काल्पनिक व्यक्ति नहीं अपितु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। सारे साहित्यशास्त्र में उनको नाट्यशास्त्र के प्रवर्तक के रूप में स्वीकार किया गया है। मत्स्यपुराण के 24 वें अध्याय के 27 से 32 वें श्लोक तक 6 श्लोकों में भरत का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त भरत के नाट्यशास्त्र में उनके 100 पुत्रों तथा अभिनय करनेवाली अप्सराओं के

1- अलंकारशास्त्र का इतिहास, पृ० 39 - डा० कृष्णकुमार

नाम की सूची दी गयी है। संस्कृत के सभी नाटकों की रचनायें प्रायः भरतशास्त्र के साथ होती हैं और अभिनवगुप्त आदि सभी प्राचीन आचार्यों ने भरतमुनि को नाट्यशास्त्र का प्रणेता माना है। अतः उन्हें काल्पनिक व्यक्ति कहना उचित नहीं है।[1]

इनके आविर्भाव-काल का निर्धारण-कार्य अत्यन्त कठिन है, क्योंकि जब उनकी सत्ता के सम्बन्ध में ही विद्वान् ऐकमत्य नहीं है तो आविर्भाव-काल का निश्चित न होना उचित ही कहा जायेगा। कुछ विद्वान् उनका आविर्भाव काल 500 ई०पू० से लेकर प्रथम शताब्दी तक के बीच में मानते हैं। यह समय निर्धारण औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है।

<u>काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—</u>

आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित काव्यशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ मात्र 'नाट्यशास्त्र' है। यह ग्रन्थ अत्यन्त विशालकाय है। इसमें कुल 36 अध्याय हैं, जिनमें मुख्य रूप से नाट्य-ग्रन्थों से सम्बन्धित विषयों का ही प्रतिपादन किया गया है, किन्तु इसके कुछ अध्यायों में रस की परिभाषा एवं उसका स्वरूप, दस गुण, दस दोष एवं चार अलंकार आदि काव्यशास्त्रीय विषयों का भी सन्निवेश हो गया है। इसी आधार पर काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य भरत का नाम काव्यशास्त्र के प्रवर्तक के रूप में स्मरण किया जाता है। यद्यपि आचार्य भरत से पूर्व भी उक्त काव्यशास्त्रीय तत्वों का उल्लेख वेद तथा पुराण आदि में किया गया है। नाट्यशास्त्र के इस लिखित रूप के अभाव में इन सभी विषयों का ज्ञान एवं विकास पूर्णरूप से न हो पाता। सम्प्रति काव्य की आत्मा के रूप में 'रस ध्वनि' की मान्यता प्राप्त है, जिसके स्वरूप का निर्धारण सर्वप्रथम आचार्य भरत द्वारा ही किया गया है। आगे चलकर अन्य सभी आचार्यों ने भरत को ही आधार मानकर अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की है। भरत के महत्व को भारतीय काव्याचार्यों के अतिरिक्त पाश्चात्य समालोचकों ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकार उनकी महत्ता में और भी अभिवृद्धि हो जाती है।

<u>(2) भामह</u>

<u>परिचय :—</u>

काव्यशास्त्रीय इतिहास में आचार्य भामह भरतमुनि के पश्चात् परिगणित किए जाते हैं। संस्कृत वाङ्मय की प्रमुख विशेषता से विभूषित आचार्य भामह का वास्तविकता की

1- काव्य प्रकाश, भूमिका, पृ0 19 आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि।

"षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलंकृतिः।
पंचाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपंचकं
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वः॥

अर्थात् भामह द्वारा क्रमशः 60 श्लोकों में काव्य के शरीर का, 160श्लोकों में अलंकारों का, 50 श्लोकों में दोषों का, 70 श्लोकों में न्याय का एवं 60 श्लोकों में शब्दशुद्धि का निर्णय किया गया है।

इस प्रकार आचार्य भामह ने काव्य के स्वरूप, अलंकारों एवं दोषों का विस्तृत विवेचन करके काव्यशास्त्रीय मार्ग को प्रशस्त करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान समर्पित किया है। काव्यशास्त्र की परम्परा का समुचित विकास आचार्य भामह से ही प्रारम्भ होता है। आचार्य भामह के इस ग्रन्थ के पूर्व भरतमुनि 'नाट्यशास्त्र' का प्रणयन हो चुका था किन्तु वह काव्यशास्त्र का स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसका प्रधान लक्ष्य नाट्य निरूपक सामग्री के विवेचन का प्रस्तुतीकरण करना था। इसके विपरीत 'काव्यालंकार' एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें मात्र काव्यशास्त्र के विषयों का ही निरूपण किया गया है। आचार्य भामह द्वारा बताये गये काव्य के स्वरूप 'शब्दार्थौ' को वामन से लेकर विश्वनाथ आदि आचार्यों तक पुनरावृत्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आचार्य भामह ने अपने पूर्ववर्ती भरत एवं परवर्ती दण्डी आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित दस गुणों को माधुर्य ओज एवं प्रसादरूप इन तीन गुणों में ही अन्तर्भूत कर दिया। इसके अतिरिक्त अलंकारों को विस्तार प्रदान किया तथा उनके स्वरूप को समुन्नत बनाया। इस प्रकार अपने अपूर्व कार्यों के आधार पर वे महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं।

(3) दण्डी

परिचय :—

काव्यशास्त्रीय परम्परा में आचार्य दण्डी को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इनमें एक सफल आलोचक, सूत्रकार एवं कवि के तीनों रूपों का सम्मिलित समन्वय प्राप्त होता है। इनके जन्मस्थान एवं आविर्भावकाल के सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान नहीं है, किन्तु जैसा कि पीछे निर्णय किया जा चुका है कि ये भामह के परवर्ती हैं और भामह का आविर्भावकाल 6वीं शताब्दी निश्चित किया गया है, उस आधार पर इनका आविर्भावकाल 6वीं शताब्दी के बाद ही सिद्ध होता है। आचार्य दण्डी ने 'अवन्तिसुन्दरी' नामक अपने

राजा जयापीड का शासनकाल 779 से 813 तक माना जाता है। इस प्रकार इस आधार पर इनका आविर्भाव काल 8वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर 9वीं शताब्दी के पूर्व का समय सिद्ध होता है। मिस्टरविन्ट्ज, एस०के०डे तथा पी०वी०काणे आदि समालोचकों ने भट्टोद्भट के समय को 9वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के रूप में स्वीकार किया है।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :——

आचार्य भट्टोद्भट का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के नाम से विख्यात है। इस ग्रन्थ में मात्र अलंकारों के विवेचन का कार्य सम्पादित किया गया है। यह ग्रन्थ छः वर्गों में विभक्त है। इन वर्गों में 69 कारिकाएँ हैं, जिनमें 41 अलंकारों के विवेचन का कार्य सम्पादित है। इन अलंकारों के स्पष्टीकरण हेतु ग्रन्थकार ने स्वरचित 90 उदाहरणों का प्रयोग किया है। अलंकारों की विवेचन-शैली के अनुसार भट्टोद्भट के ऊपर भामह का प्रभाव परिलक्षित होता है क्योंकि इन्होंने अलंकारों का क्रम एवं लक्षण भामह के समान ही प्रस्तुत किया है। कुछ अलंकारों के लक्षण अक्षरशः भामह के ही समान हैं। इस प्रकार यद्यपि उद्भट भामह से पूर्ण रूप से प्रभावित हैं, किन्तु इसके विपरीत उनकी कुछ स्वतंत्र विशेषताएँ भी हैं। उन्होंने भामह द्वारा विवेचित अलंकारों के अतिरिक्त भी कुछ नवीन अलंकारों का अपने उक्त ग्रन्थ में समावेश किया है। इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने उनके आलंकारिक मतों का सादर उल्लेख किया है।

(5) वामन

परिचय :——

काव्यशास्त्रीय इतिहास में आचार्य वामन 'रीतिसम्प्रदाय' के संस्थापक के रूप में स्मरण किए जाते हैं। उन्होंने 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषित करके अपना एक अलग सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो 'रीतिसम्प्रदाय' के नाम से विख्यात है। आचार्य वामन ने अपने जीवन-परिचय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। कल्हण द्वारा विरचित 'राजतरंगिणी' नामक ग्रन्थ से यह संकेत प्राप्त होता है कि ये राजा जयापीड के मन्त्री थे।[1] राजा जयापीड का शासनकाल 779 से 813 ई० तक माना जाता है। ऐसी स्थिति में

1- मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा। बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥

— राजतरंगिणी— 4/497

आचार्य वामन का समय 8वीं तथा 9वीं शताब्दी का मध्यकाल कहा जा सकता है। उद्भट एवं वामन समकालिक सिद्ध होते हैं, क्योंकि दोनों ही एक ही राजा के शासनकाल में विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में वामन का उल्लेख किया है।[1] राजशेखर का समय 9 वीं शताब्दी माना जाता है। अतः इस आधार पर भी आचार्य वामन का समय 8 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही सिद्ध होता है।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—

आचार्य वामन का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' के नाम से विख्यात है। इस ग्रन्थ में सूत्रात्मक शैली में अलंकारों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पाँच अधिकरण वाले इस ग्रन्थ के प्रत्येक अधिकरण में दो या तीन अध्याय हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में 12 अध्याय हैं, जिनमें सूत्रों की संख्या 319 है। इसमें काव्यशास्त्र के प्रमुख विषयों का सर्वांगीण विवेचन करने के पश्चात् 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है।

(6) रुद्रट

परिचय :—

आचार्य रुद्रट के जीवन परिचय के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक ज्ञान नहीं है। इनके नाम के आधार पर कुछ विद्वान् इन्हें कश्मीरी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इनके ग्रन्थ 'काव्यालंकार' के एक श्लोक के अनुसार इनका दूसरा नाम शतानन्द था एवं इनके पिता का नाम भट्टवामुक था। इस श्लोक की रचना काव्यालंकार की 14 वीं, 15वीं कारिकाओं की टीका करते हुए टीकाकार नमिसाधु ने की है।[2] राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में इनका नामोल्लेख किया है। अतः इनका समय 9 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—

आचार्य रुद्रट का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ भामह के समान 'काव्यालंकार' नाम से ही विख्यात है। यह ग्रन्थ 16 अध्यायों में विभक्त है। सम्पूर्ण ग्रन्थ 714 आर्या छन्दों में

1- [illegible] इति वामनीयाः। काव्यमीमांसा पृ0 14

2- अत्र च [illegible] श्लोकं [illegible] यथा —
शतानन्दपराख्येन भट्टवामुकसूनुना। साधितं रुद्रटेनेदं [illegible] धीमतां हितम्॥ — रुद्रट —
काव्यालंकार 5/14-15 पर नमिसाधु की टीका

विरोधियों के मतों का खण्डन करके 'ध्वनि सिद्धान्त' की स्थापना की गयी है। द्वितीय उद्योत में ध्वनि के भेदों का परिगणन करने के साथ रसवदादि अलंकारों तथा माधुर्य आदि गुणों की व्यवस्था प्रतिपादित की गयी है। तृतीय उद्योत में पदवाक्य व्यंजकता, सङ्घटना, औचित्य, गुणीभूतव्यंग्य तथा काव्यालंकार आदि विविध विषयों का विवेचन किया गया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के महत्व का निरूपण निरूपित किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ मौलिकता, सूक्ष्म विवेचन एवं विषय की गम्भीरता के आधार पर अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हो जाता है।इसके द्वारा काव्यशास्त्र के इतिहास में एक नवीन चेतना का सन्निवेश सम्पन्न हुआ है। आचार्य आनन्दवर्धन के उत्तरवर्ती काव्याचार्यों अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने ध्वनि-सिद्धान्त के परिपोषण हेतु अपना अपूर्व योगदान समर्पित किया है।

(8) भट्टनायक

परिचय :—

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य भट्टनायक रस-सिद्धान्त के व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनका निवास स्थान कश्मीर माना जाता है। ये ध्वनि सिद्धान्त के विरोधी आचार्य के रूप में परिलक्षित हैं।अतः इनका आविर्भाव-काल आनन्दवर्धन के पश्चात् ही सिद्ध होता है। इस प्रकार इनका समय 9वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर 10 वीं शताब्दी का मध्यकाल हो सकता है।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित आचार्य भट्टनायक की कोई मौलिक रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। अभिनवगुप्त आदि आचार्यों की रचनाओं में प्राप्त उद्धरणों के आधार पर 'हृदयदर्पण' नामक इनके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का ज्ञान होता है। इस ग्रन्थ में इन्होंने आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धान्त का प्रकृष्ट प्रमाणों द्वारा खण्डन किया है एवं काव्य की आत्मा के रूप में 'रस' तत्व की स्थापित किया है।

ग्रन्थों पर लिखी गयी 'अभिनवभारती' एवं 'लोचन' नाम की टीकायें विद्वत्तापूर्ण तथ्यों से परिपूर्ण है। इसी कारण काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में इनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य-शास्त्रीय परम्परा में आचार्य अभिनवगुप्त अभिव्यक्तिवाद व्याख्याताओं में परिगणित हैं। ये अत्यन्त उत्कृष्टकोटि के विद्वान् थे। अनेक गुरु-जनों से इन्होंने विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। डा० राजकिशोर सिंह के अनुसार कहा जा सकता है कि ——

"व्याकरण में महाभाष्यकार पतंजलि तथा दार्शनिक टीकाकारों में वाचस्पति मिश्र को जो महत्व प्राप्त है, वही काव्यशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त को महत्व प्राप्त है। भरत के प्रसिद्ध ग्रन्थ पर इनकी व्याख्या युगान्तकारी है। यदि भरत एवं आनन्द-वर्धन को इन जैसा टीकाकार उपलब्ध न हुआ होता तो इन दोनों काव्यशास्त्रियों की सत्ता आज प्रश्नवाचक चिह्न के साथ स्वीकार की जाती।"[1]

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :——

आचार्य वाचस्पति गैरोला के अनुसार अभिनवगुप्त ने काव्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' 'ध्वन्यालोकलोचन' (सहृदयालोचन या काव्यालोक - लोचन) और 'काव्यकौतुक-विवरण' नामक तीन टीकाग्रन्थ क्रमशः भरत के नाट्यशास्त्र, आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक एवं अपने गुरु भट्टतौत के 'काव्य कौतुक पर लिखे।[2] इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने यद्यपि किसी मौलिक ग्रन्थ की रचना नहीं की, किन्तु उनकी ये टीकायें किसी मौलिक ग्रन्थ से कम महत्वपूर्ण नहीं है। इन टीकाओं की विषयवस्तु का परिचय इस प्रकार है ——

(1) अभिनवभारती :——

भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर लिखी गयी यह टीका 'नाट्यवेदविवृति' नाम से भी प्रख्यात है। नाट्यशास्त्र की विषयवस्तु को सरलतापूर्वक समझने के लिए इस टीका का उपयोग सर्वथा सहायक सिद्ध होगा। प्राचीन भारत की नाट्यकला से सभी आवश्यक विषयों की व्याख्या में विशेष ध्यान दिया गया है। वस्तुतः उनकी यह टीका उनकी मौलिक कृति के रूप में प्रतीत होती है।

1- काव्यशास्त्र पृ0 308 सम्पादक —— आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

2- संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ0 937 —— वाचस्पति गैरोला।

इस लिए कुछ समालोचक इन्हें कुन्तल या कुन्तलक नाम से भी अभिहित करते हैं। डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने अपने 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' नामक शोध-प्रबन्ध में इन्हें 'कुन्तल' नाम से भी सम्बोधित किया है। इस सम्बन्ध में हमारा मन्तव्य यह है कि इन्हें 'कुन्तक' नाम से अभिहित करना ही अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि अधिकांश समालोचकों में यही मत प्राप्त है।

<u>काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—</u>

आचार्य कुन्तक का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'वक्रोक्ति जीवित' नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभाजित किया गया है। इसके दो उन्मेष अपने सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध हैं। अन्तिम दो उन्मेष अपूर्ण अवस्था में विद्यमान हैं। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में काव्य के प्रयोजन एवं उसका लक्षण तथा प्रतिपाद्य-विषय रूप वक्रोक्ति के विविध रूपों का विवेचन किया गया है।

(13) महिमभट्ट

<u>परिचय :—</u>

आचार्य महिमभट्ट ने आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा विरचित 'ध्वन्यालोक' के चार उद्योतों में निरूपित 'ध्वनिसिद्धान्त' का पूर्णतः खण्डन किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना करने के उद्देश्य का निरूपण देते हुए लिखा है कि —

"अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।।"— व्यक्तिविवेक 1/1

इसके अतिरिक्त उन्होंने कुन्तक को भी अपनी आलोचना का विषय बनाया है। आचार्य मम्मट ने उनके ध्वनि-विरोधी विचारों का प्रत्युत्तर दिया है। अतः इन तथ्यों के अनुसार उनका आविर्भावकाल 11वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही निश्चित होता है। उन्होंने अपने पिता का नाम श्री धैर्य एवं गुरु का नाम श्यामल बताया है।[2]

<u>काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—</u>

आचार्य महिम भट्ट का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'व्यक्ति विवेक' नाम से विख्यात है। व्यक्ति-विवेक का शाब्दिक अर्थ है — व्यंजना की समीक्षा। व्यंजना का तात्पर्य 'ध्वनि'

~~(इस पृष्ठ के सभी प्रविष्टियों के सन्दर्भ अगले पृष्ठ पर देखें।)~~

1. काव्यकांचनकषाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया।। — व्यक्तिविवेक – पृ० 58
2. श्रीधैर्यस्याङ्गभुवा महाकवेः श्यामलस्य शिष्येण।

किया गया है। इसके प्रथम आठ प्रकाशों में शब्द तथा अर्थ के स्वरूप-निवेचन में विभिन्न वैयाकरणों के मतों का विवेचन किया गया है। 9वें अध्याय एवं 10वें प्रकाशों में गुण तथा दोषों का विवेचन किया गया है। इसी प्रकार 11 वे एवं 12 वें प्रकाशों में नाट्यतत्व तथा नाट्यस्वरूप विवेचित है। इनके अतिरिक्त अवशिष्ट 24 प्रकाशों में रस का विशिष्ट विवेचन किया गया है।

(16) मम्मट

परिचय :—

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य मम्मट महत्वपूर्ण आचार्यों की श्रेणी में परिगणित हैं। उन्होंने आचार्य भरत से लेकर अपने समय तक के समस्त पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा विवेचित काव्यशास्त्रीय विचारों का गहन अध्ययन एवं मनन करने के उपरान्त उनका एक नवीनतम रूप अपने ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' के रूप में समुपस्थापित किया। उनके पूर्ववर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने काव्यशास्त्र से संबंधित विषयों के विवेचन में अपूर्णता का प्रतिपादन किया था। उनके पूर्ववर्ती आचार्यों में से कोई आचार्य अलंकारों के विवेचन में ही अपने को महत्वपूर्ण समझने लगा तो कोई रीतियों के विवेचन में ही सब कुछ भूल गया। इसी प्रकार किसी ने रस को ही अपने विवेचन का केन्द्र-बिन्दु बना लिया तो दूसरा ध्वनि तत्व के विवेचन में ही निमग्न हो गया। ऐसी स्थिति में आचार्य मम्मट ने पूर्वाचार्यों के एकांगी दृष्टिकोण को समन्वयात्मक रूप में प्रस्तुत करना अपना परम कर्तव्य समझा। काव्य के आत्मतत्व के रूप में विवेचित ध्वनितत्व के विरोधियों का प्रत्युत्तर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत करने के कारण उनके पश्चात् अन्य किसी काव्याचार्य ने इसका विरोध करने का विशेष प्रयत्न नहीं किया। इसीलिए उन्हें 'ध्वनिप्रस्थापन-परमाचार्य' की उपाधि से विभूषित किया गया है। ध्वनि सिद्धान्त के समर्थक होने के कारण उनकी परिगणना ध्वनिसम्प्रदाय के आचार्यों की कोटि में की जाती है। आचार्य मम्मट की खण्डन-मण्डनात्मक शैली काव्यशास्त्र के जिज्ञासुओं को सर्वदा अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इसीलिए काव्यचिन्तकों ने 'काव्य-प्रकाश' को सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के रूप में और उसके प्रतिपादक आचार्य मम्मट को वाग्देवतावतार के रूप में स्वीकार किया है। उनका समय 11 वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना गया है।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—

आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' विश्व-विश्रुत है। नाट्य सम्बन्धी कुछ विषयों के अतिरिक्त काव्य के समस्त विषयों का विवेचन इसमें

प्राप्त होता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ 10 उल्लासों में विभक्त है। इसके प्रथम उल्लास में काव्य के प्रयोजन, लक्षण, हेतु एवं भेदों का निरूपण किया गया है। द्वितीय उल्लास में शब्द-शक्तियों का विवेचन है। तृतीय उल्लास आर्थी-व्यंजना के विवेचन से युक्त है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि-काव्य का विवेचन किया गया है। पंचम उल्लास गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के विवेचन से परिपूर्ण है। षष्ठ उल्लास चित्रकाव्य या अधम काव्य के लिए आरक्षित है। सप्तम उल्लास को दोषयुक्त बताया गया है। अष्टम उल्लास गुणसम्पन्न है। नवम उल्लास में शब्दालंकारों का विवेचन है। दशम उल्लास अर्थालंकारों के विवेचन से परिपूर्ण है।

(17) रूय्यक

परिचय :—

आचार्य रूय्यक संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में अलंकारों का निरूपण करने वाले आचार्य के रूप में विख्यात हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ में पूर्ववर्ती काव्याचार्यों की आलंकारिक मान्यताओं का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। भरत से लेकर मम्मट तक के काव्याचार्यों की आलंकारिक अनुभूति को पूर्णता प्रदान करना ही उनका प्रमुख लक्ष्य रहा है। काव्यशास्त्र में उनसे पूर्व 118 अलंकारों का नामोल्लेख हो चुका था, किन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थ में इनमें से मात्र 75 अलंकारों को ही स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त 7 अन्य नवीन अलंकारों का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार आचार्य रूय्यक ने कुल मिलाकर 82 अलंकारों को स्वीकार किया है। परवर्ती काव्याचार्यों ने अलंकारों का विवेचन करते समय उनकी मान्यताओं को ही स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त उन्हें ध्वनिसम्प्रदाय के समर्थक आचार्यों में भी परिगणित किया जाता है। 'सहृदयलीला' नामक उनकी कृति के आधार पर उनका दूसरा नाम 'रुचक' था एवं पिता का नाम 'तिलक' था।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—

आचार्य रूय्यक द्वारा विरचित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के रूप में 'अलंकारसर्वस्व' एवं 'साहित्यमीमांसा' का स्मरण किया जाता है।

(1) अलंकारसर्वस्व :— यह ग्रन्थ अलंकार प्रधान है। इसमें ग्रन्थकार ने अपने पूर्ववर्ती काव्याचार्यों के आलंकारिक विचारों का सम्यक् अध्ययन करने के उपरान्त उनकी कमियों को दूर करने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ में 18 सूत्र ऐसे हैं जिनमें काव्य की आत्मा के संदर्भ में विवेचन करने के उपरान्त ध्वनि तत्व का समर्थन किया गया है। इसके विषय के

(19) हेमचन्द्र

परिचय :—

आचार्य हेमचन्द्र संस्कृत एवं प्राकृत रूप दो भाषाओं के पूर्ण ज्ञाता थे। वे जैन धर्मानुयायी एवं गुजरात के राजाओं के गुरु के रूप में प्रख्यात थे। सोमप्रभ द्वारा प्रतिपादित 'कुमारपालप्रतिबोध' मेरुतुंग द्वारा रचित 'प्रबन्धचिन्तामणि' राजशेखर द्वारा विरचित 'प्रबन्धकोश' आदि रचनाओं के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र का जन्म 1088 ई० में अहमदाबाद जिले के धुन्धुक नामक स्थान में हुआ था। जाति से वे मोढ़ वैश्य थे। इनके माता-पिता का नाम क्रमशः 'पाहिनी' एवं 'चाच' था। इनका बचपन का नाम चंगदेव था। इनके गुरु देवचन्द्र ने इन्हें 1093 ई० में दीक्षा देना आरम्भ किया था। इसी समय से हेमचन्द्र के रूप में परिणत हुए। 1109 ई० में इन्हें आचार्य की उपाधि से विभूषित किया गया। अन्ततः 1173 ई० में 84 वर्ष की आयु में इनका स्वर्गवास हो गया। इनकी परिगणना ध्वनिसम्प्रदाय के आचार्यों में की जाती है।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' के रूप में प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। इसके प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन, हेतु, परिभाषा, गुण, दोष तथा अलंकार आदि के लक्षण, शब्दार्थ स्वरूप एवं त्रिविध अर्थों के प्रतिपादन से आपूरित है। द्वितीय अध्याय में रस के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। तृतीय अध्याय में काव्य के दोषों का विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में गुणों का विवेचन है। पंचम अध्याय में शब्दालंकारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। षष्ठ अध्याय में अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। सप्तम अध्याय में ~~नायक-~~ नायिका के भेदों का निरूपण किया गया है। अष्टम अध्याय में काव्य के भेदों का विवेचन करते हुए ग्रन्थ की समाप्ति कर दी जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में काव्यशास्त्र से सम्बन्धित प्रायः सभी विषयों का यथेष्ट विवेचन विद्यमान है। इस विवेचन कार्य में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की रचनाओं का सहयोग प्राप्त करना भी आवश्यक समझा है। इसके साथ-साथ अपनी मौलिक प्रतिभा को प्रदर्शित करने में भी वह कुशल थे। उन्होंने विविध स्थानों पर प्राचीन आचार्यों के मतों का विरोध करते हुए अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। इस संदर्भ में काव्य के प्रयोजन, परिभाषा एवं लक्षणा के विभाजन का कार्य सर्वथा दृष्टव्य है। अलंकारों के विवेचन में भी उनकी

कुछ अपनी विशिष्ट विशेषताएँ हैं। कुछ अलंकारों का विवेचन उन्होंने इतने विस्तार के साथ किया है कि उनमें अन्य आचार्यों द्वारा विवेचित कई अलंकारों का समावेश हो जाता है।

(20) जयदेव

परिचय :—

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य जयदेव अलंकारसम्प्रदाय से सम्बन्धित आचार्यों के रूप में परिगणित किए गये हैं। इनका दूसरा नाम 'पीयूषवर्ष' था।[1] इस तथ्य का समर्थन इनके ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' के टीकाकार आचार्य गागाभट्ट ने किया है।[2] इनके ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' के अनुसार इनके पिता का नाम 'महादेव' तथा माता का नाम 'सुमित्रा' था।[3] मम्मट के काव्यलक्षण[4] की आलोचना में प्रस्तुत किए गये श्लोक[5] के अनुसार इनका मम्मट का परवर्ती होना सिद्ध होता है तथा 14 वीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले विश्वनाथ द्वारा अपने 'साहित्यदर्पण' नामक ग्रन्थ में 'प्रसन्नराघव' नामक इनकी कृति से अवतारित एक श्लोक[6] के अनुसार उनके पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। अतः इनका समय 13 वीं शताब्दी का मध्यकाल सिद्ध होता है। डा0 पी0 वी0 काणे आदि कुछ विद्वान् 'गीतगोविन्द' नामक गीतिकाव्य की रचना करने वाले जयदेव एवं इनका एकत्व स्वीकार करते हैं,[7] किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि 'चन्द्रालोक' में उल्लिखित जयदेव के मत में पर्याप्त पार्थक्य प्रतीत होता है।[8]

1- चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती। —— चन्द्रालोक 1/2

2- जयदेवस्यैव पीयूषवर्ष इति नामान्तरम्॥ —— राकागम टीका —— गागाभट्ट

3- महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ॥ —— चन्द्रालोक 1/16

4- तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि —— काव्यप्रकाश —— 1/प्रथम सूत्र

5- अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥ —— चन्द्रालोक 1/12

6- कदली - कदली करभः-करभः करिराजकरः-करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥ — साहित्यदर्पण, 4/3 पर

7- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ0 362 डा0 पी0वी0काणे

8- श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य। पराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दक-
वित्वमस्तु —— गीतगोविन्द

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में आचार्य जयदेव की रचना 'चन्द्रालोक' नाम से प्रख्यात है। यह प्रसिद्ध आलंकारिक ग्रन्थ अत्यन्त सरल शैली में लिखा गया है। अपनी सरलता के कारण ही यह काव्यशास्त्र के इतिहास में महत्वपूर्ण कृति के रूप में स्मरण की जाती है। यह ग्रन्थ 10 मयूखों में विभाजित किया गया है। इसके प्रथम मयूख में काव्य-परिभाषा, हेतु एवं शब्दभेद पर विचार किया गया है। द्वितीय मयूख में काव्यदोषों का निरूपण किया गया है। तृतीय मयूख में लक्षण नामक काव्यांग का विवेचन प्राप्त होता है। चतुर्थ मयूख काव्यगुणों के विवेचन-हेतु आयोजित किया गया है। पंचम मयूख में अलंकारों का विशद विश्लेषण किया गया है। षष्ठ मयूख में रस, भाव रीति, एवं वृत्तियों पर विचार किया गया है। सप्तम मयूख में व्यंजनावृत्ति का विशद विवेचन है। अष्टम मयूख में गुणीभूत व्यंग्यकाव्य के भेदों का निरूपण किया गया है। नवम मयूख लक्षणा शक्ति के विवेचन-हेतु आयोजित प्रतीत होता है। अन्ततः दशम मयूख में अभिधा नामक शब्द-शक्ति का विवेचन करते हुए ग्रन्थ की परिसमाप्ति की उद्घोषणा कर दी गयी है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों पर विशद विवेचन किया गया है। इसमें प्रधानता अलंकारों के विवेचन की है। इनका प्रतिपादन अत्यन्त सरल शैली में किया गया है। एक ही श्लोक में लक्षण एवं उदाहरण का समन्वय आचार्य जयदेव की प्रशंसनीय योग्यता का परिचायक है। ध्वनि-मार्ग के समर्थक होते हुए भी उन्होंने अपना आलंकारिक स्वरूप बनाये रखने का अथक प्रयास किया है।

(21) विश्वनाथ

परिचय :—

संस्कृत काव्यशास्त्रियों में आचार्य विश्वनाथ अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। 'साहित्यदर्पण' के अनुसार इनके प्रपितामह का नाम 'नारायण' था।[1] एवं 'काव्यप्रकाश दर्पण' नामक काव्यप्रकाश के टीका ग्रन्थ के अनुसार इनके पितामह का नाम भी 'नारायण' था।[2] साहित्यदर्पण के अन्तिम श्लोक के अनुसार इनके पिता का नाम

1- तत्प्रभावात् कामस्यास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीनारायणपादैरुक्तम्।
— साहित्यदर्पण, 3/2 की वृत्ति

2- यदाहुः श्रीकलिंगभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः... अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायणपादाः ॥— काव्यप्रकाश-दर्पण की भूमिका पृ0 2।

चन्द्रशेखर था।[1] ये सभी वंशानुक्रम से ही विद्वान् एवं साहित्य तथा कला-मर्मज्ञ हैं। जम्मू से प्राप्त हुई साहित्यदर्पण की पाण्डुलिपि में विविध कवियों एवं काव्याचार्यों की कृतियों से अवतरित श्लोकों के अनुसार आचार्य विश्वनाथ का समय 14 वीं शताब्दी का मध्य माना जाता है।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—

आचार्य विश्वनाथ का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' नाम से विख्यात है। काव्यशास्त्र का यह अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। यह अत्यन्त विस्तृतकाय है। इसमें काव्य के सभी आवश्यक तत्वों का विशद विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ को 10 परिच्छेदों में विभाजित किया गया है। इसके प्रथम परिच्छेद में काव्य के स्वरूप पर विचार किया गया है। काव्य-स्वरूप की इस वैचारिक परम्परा में मम्मट एवं आनन्दवर्धन आदि काव्याचार्यों की कटु आलोचना के साथ 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को स्वीकार करने का सफल प्रयास किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में काव्यप्रकाश की कमियों का उल्लेख करते हुए अभिधा, लक्षणा, तथा व्यंजना रूप शब्द की शक्तियों का निरूपण किया गया है। तृतीय परिच्छेद में काव्य-प्रकाश एवं अभिनव भारती के रस विषयक विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए रस एवं रसाभास के विवेचन के अतिरिक्त दशरूपक के अनुसार नायक-नायिका के निरूपण का कार्य सम्पन्न किया है। चतुर्थ परिच्छेद में 'ध्वनिकाव्य' एवं 'गुणीभूतव्यंग्य' काव्य के रूप में काव्य के दो प्रकारों का निरूपण करते हुए काव्यप्रकाश की 'चित्रकाव्य' सम्बन्धी मान्यता का खण्डन किया गया है। पंचम परिच्छेद में व्यंजना वृत्ति के स्वरूप का पूर्ण निरूपण किया गया है। षष्ठ परिच्छेद में दशरूपक को आधार मानकर नाट्य सम्बन्धी विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। सप्तम परिच्छेद में काव्य के दोषों का विवेचन विद्यमान है। अष्टम परिच्छेद काव्य के गुणों से परिपूर्ण है। नवम परिच्छेद रीतियों के विवेचन हेतु सुरक्षित किया गया प्रतीत होता है। अन्ततः दशम परिच्छेद में अलंकारों का विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त ग्रन्थ की समाप्ति की उद्घोषणा कर दी गयी है।

---

1. श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुश्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त॥
— साहित्यदर्पण — 10/99

राजा की वंशावली नहीं है, जिसका प्रमाण आचार्य केशव मिश्र के 'अलंकारशेखर' को लिया जा सकता है। इस प्रकार केशव मिश्र का आविर्भाव-काल 16 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—

आचार्य केशव मिश्र का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'अलंकारशेखर' नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ 8 रत्नों एवं 22 मरीचियों में विभक्त किया गया है। विषय वस्तु के सम्बन्ध में इसमें काव्य की परिभाषा, हेतु, रीति, वृत्ति, दोष, गुण, अलंकार एवं रस आदि काव्यशास्त्रीय विषयों तथा अन्य विविध विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इसकी रचना-शैली के सम्बन्ध में कारिका, वृत्ति एवं उदाहरणों का उपयोग किया गया है। कारिकाओं के विषय में उनके रचयिता का कथन है कि इनकी रचना शौद्धोदनि ने की थी और उन्हीं के उपयोग पर ही वे अपने ग्रन्थ की रचना कर सके हैं।[1] शौद्धोदनि कौन है, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने शौद्धोदनि नाम के किसी आचार्य का परिगणन नहीं किया गया है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का आदरता के साथ उल्लेख किया है।

(23) भानुदत्त मिश्र

परिचय :—

आचार्य भानुदत्त मिश्र का परिगणन काव्यशास्त्रीय आचार्यों के रूप में किया गया है। 'रस-मंजरी' नामक काव्य ग्रन्थ के अनुसार इनके पिता का नाम गणेश्वर था, जो मिथिला देश के निवासी थे।[2] इनके आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं प्राप्त होता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय आदि आचार्यों के अनुसार इनका समय 13 वीं

1- अलंकारविद्यासूत्रकारो भगवाञ्छौद्धोदनिः परमकारुणिकः स्वशास्त्रे प्रवर्तयिष्यन् प्रथमं काव्यस्वरूपमाह। — अलंकारशेखर, पृ० 2, केशवमिश्र।

2- तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालंकारचूडामणि-
देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित्कल्लोलकिर्मीरिता।
पद्येन स्वकृतेन तेन कविना श्रीभानुना योजिता
वाग्देवी श्रुतिपारिजातकुसुमस्पर्धाकरी मंजरी॥
— रसमंजरी, अन्तिम श्लोक

विशेष लोकप्रिय हैं। विविध प्रमाणों के आधार पर इनका समय 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर 17 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक निश्चित किया गया है।[1] काव्यशास्त्र के उत्तरवर्ती आचार्यों में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य दीक्षित वंश-परम्परा के अनुसार अत्यन्त विद्वान् एवं प्रतिभावान् थे।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—

आचार्य अप्पयदीक्षित के सम्पूर्ण ग्रन्थों की संख्या 104 बतायी गयी है। जिनमें काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के रूप में वृत्तिवार्तिक, चित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द को मान्यता प्राप्त है।

(1) वृत्तिवार्तिक :—

यह अल्पकाय काव्यग्रन्थ दो परिच्छेदों में विभाजित किया गया है, जिसमें शब्द-शक्तियों के विवेचन का कार्य सम्पन्न हुआ है। शब्द-शक्तियों के रूप में अभिधा एवं लक्षणा को ही स्वीकार किया गया है, व्यंजना के अस्तित्व को अस्वीकृति प्राप्त हुई है। परिच्छेदों के अनुसार प्रथम में अभिधा एवं द्वितीय में लक्षणा के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

(2) चित्रमीमांसा :—

आचार्य दीक्षित द्वारा प्रतिपादित काव्यशास्त्र की द्वितीय रचना 'चित्रमीमांसा' नाम से विख्यात है। इस ग्रन्थ में काव्य को ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्य काव्य एवं चित्रकाव्य के रूप में विभाजित करने के उपरान्त 'चित्रकाव्य' का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है। इस विवेचन कार्य में शब्दचित्र को महत्व नहीं प्राप्त हो सका।[2] अर्थ-चित्रकाव्य के विवेचन हेतु अलंकारों का उल्लेख करना ही इस कार्य का लक्ष्य प्रतीत होता है। अर्थ चित्रकाव्य के विवेचन में उन्होंने सर्वप्रथम उपमा अलंकार को अपने विवेचन का विषय बनाया है। उपमा के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों द्वारा विवेचित लक्षणों की आलोचना करने के उपरान्त उसके स्वरूप एवं भेदों के साथ ही 22 अलंकारों का आधार बतलाया गया

1- अलंकारशास्त्र का इतिहास, पृ० 270-71 डा० कृष्णकुमार

2- शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमस्तीति वक्तव्यमिति अर्थचित्रमीमांसा प्रस्तूयते॥

— चित्रमीमांसा पृ० 3

निवासी थे ऐसा प्रसिद्ध है।[1] उन्होंने अपना सम्पूर्ण यौवन काल मुगल सम्राट शाहजहाँ के दरबार में व्यतीत किया था।[2] शाहजहाँ का शासन काल 1628 ई0 से 1666 ई0 तक माना जाता है। अतः उनका समय 17 वीं शताब्दी का मध्य काल निश्चित किया जा सकता है। उनकी अपूर्व प्रतिभा से प्रभावित होकर शाहजहाँ ने उन्हें 'पण्डितराज' की उपाधि से विभूषित किया था। शाहजहाँ ने अपने पुत्र 'दाराशिकोह' को उनसे शिक्षा ग्रहण करने का निर्देश किया था। संस्कृत के प्रति दाराशिकोह की प्रेम भावना से पण्डितराज अत्यन्त प्रसन्न हुए। अतः उसकी प्रशंसा में 'जगदाभरण' नामक ग्रन्थ की रचना कर डाली। इसी प्रकार अपने मित्र आसफ अली की मृत्यु से दुःखी होकर उसकी स्मृति में 'आसफविलास' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। कवि होने के कारण वह अत्यन्त रसिक थे। उनकी रसिकता के सम्बन्ध में 'लवंगी' नामक यवन युवती के प्रणय की चर्चा बहुप्रसिद्ध है। इसके साथ ही साथ वे व्याकरण, न्याय, तथा वेदान्त आदि विविध विषयों के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'रसगंगाधर' नव्यन्याय की शैली में लिखा गया है। भट्टोजिदीक्षित एवं अप्पयदीक्षित के 'मनोरमा' एवं 'चित्रमीमांसा' नामक ग्रन्थों का खण्डन करने के लिए उन्होंने 'मनोरमाकुचमर्दन' एवं 'चित्रमीमांसाखण्डन' नामक ग्रन्थों की रचना की थी। इस आधार पर उपर्युक्त दोनों आचार्य उनके समकालिक सिद्ध होते हैं। पण्डितराज ने अपने ग्रन्थ की रचना करते समय तार्किक सिद्धान्तों का आश्रय लिया है। अपने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों के विषय-विवेचन की आलोचना करते समय उन्होंने तर्क को अपने सामने रखा है। उनकी इस विशेषता का विशेष परिचय काव्य-लक्षण, हेतु एवं भेद आदि विविध स्थलों पर प्राप्त होता है। रस-विवेचन में उनकी मौलिकता का विशेष परिचय प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उनका कवि-रूप अन्य काव्यशास्त्रियों की अपेक्षा उन्हें महनीय स्थान प्रदान करने में अपना अपूर्व सहयोग प्रदान करता है।

<u>काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ :—</u>

पण्डितराज का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'रसगंगाधर' के नाम से प्रख्यात है। यह ग्रन्थ पाण्डित्य-प्रतिभा की कसौटी कहा जाता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ दो आननों में विभक्त

1- तिलिंगकुलावतंसेन पण्डितजगन्नाथेन ....:—— आसफविलास (प्रारम्भिक भाग से)

2- दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः ॥ — भामिनीविलास

तृतीय अध्याय

रस-सम्प्रदाय

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।"

— तैत्तिरीयोपनिषद्

तृतीय अध्याय

रस- सम्प्रदाय

"रस-सिद्धान्त ही ऐसा सिद्धान्त है, जिसे दार्शनिक चिन्तन से भी सामग्री ग्रहण करने का अवसर मिला और व्यावहारिक सामाजिक जीवन से भी। एक साथ सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना को सफलता के साथ यदि किसी सिद्धान्त में ग्रहण किया जा सका और दोनों में परस्पर संतुलन एवं सामंजस्य की सिद्धि हो सकी तो इसी सिद्धान्त में। इस सिद्धि ने काव्य को लौकिक धरातल से उठाकर स्वयम् प्रकृति-स्थिति तक पहुँचा दिया और दर्शन से अद्वैत की सिद्धि कराकर काव्य और उस के द्वारा जीवन के सत्य का अखण्डत्व और अक्षुण्णत्व बना दिया।"[1]

संस्कृत वाङ्मय के काव्यशास्त्रीय इतिहास में काव्य की आत्मा का निर्धारण करने में विभिन्न तत्वों को लेकर काव्याचार्यों ने विभिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव किया। आविर्भूत सम्प्रदायों में प्राथमिक स्थिति को रस-सम्प्रदाय को लोकमत प्राप्त हुआ है। जन सामान्य में व्याप्त होने के कारण रस-तत्व काव्याचार्यों की प्राथमिक दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु बना। अपनी प्राचीनता एवं प्रयोगिक महत्ता के कारण अन्य साम्प्रदायिक आचार्यों द्वारा भी यह प्रमुख सिद्ध हुआ है।

(1) रस शब्द का अर्थ :—

'रस' शब्द संस्कृत वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। इसका प्रयोग, वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक शास्त्रीय साहित्य तक विभिन्न अर्थों में प्राप्त होता है। सामान्यतया रस की प्रायोगिक स्थिति की प्राप्ति चार अर्थों में होती है —

(क) पदार्थों का रस — अम्ल, तिक्त, एवं कषाय आदि षड्रस।

(ख) आयुर्वेद का रस — इसका तात्पर्य विविध रसायनों से है।

(ग) साहित्य का रस — शृंगार, वीर एवं हास्य आदि नौ रस।

(घ) भक्ति का रस या मोक्ष —।

1- काव्यशास्त्र, पृ0 79, सम्पादक — आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

<u>वैदिक साहित्य में रस :—</u>

वैदिक साहित्य में रस के उपर्युक्त विविध अर्थों की प्राप्ति होती है। यद्यपि रस का शास्त्रीय विवेचन नहीं किया गया है, किन्तु विविध मन्त्रों में जल, दूध, वीर्य, अन्नादि षड्रस , सोमरस एवं माधुर्य आदि के रूप में रस की विविधता सर्वत्र प्राप्त होती है। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के अनुसार शृंगारादि रसों को लेकर बाद में जो एक विशाल साहित्य विभिन्न भारतीय भाषाओं में उठ खड़ा हुआ, उन सभी रसों का मूल वेदमन्त्रों में है। वीर, करुण, हास्य, भयानक, अद्भुत, शान्त, वात्सल्य आदि विभिन्न रसों की भावनाएँ वैदिक ऋचाओं में सन्निहित हैं।[1] इसी प्रकार डा० शर्मा के अनुसार सूक्तों में स्थान-स्थान पर कला और वाणी के स्वरूप पर विशद विचार मिलते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि आर्य-ऋषि रस और सौन्दर्य के मर्म तक पहुँच चुके थे।[2]

"यो वः शिवतमो रसः तस्य भाजयतेह नः "—ऋग्वेद 10/9/2

यहाँ 'रस' शब्द जल अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

"धुक्षे रसस्य मातृषु" — (ऋग्वेद 1/37/5)

यहाँ रस शब्द गोदुग्ध के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

"परिदाय रसं दुहे" — (ऋग्वेद 1/105/2)

यहाँ प्रयुज्यमान 'रस' शब्द पुरुष के सारभूत 'वीर्य' अर्थ का प्रतिपादक सिद्ध हुआ है।

"रसा रजांस्यनुविष्ठिताः ॥— (ऋग्वेद 1/187/4)

यहाँ 'रस ' शब्द का अभिप्राय यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार अन्तरिक्ष में वायु सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार लौकिक पदार्थों में अन्नादि षड्रस सर्वत्र विद्यमान हैं।

"तं गोभिर्वृषणं रसं मदाय देववीतये।सुतं भराय संसृज।"

(ऋग्वेद 9/6/6)

यहाँ 'रस' शब्द तत्कालीन प्रतिष्ठित 'सोमरस' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

"अर्षसि मधुमं रसम्।" (ऋग्वेद 9/67/3)

यहाँ 'रस' शब्द का प्रयोग वाणी के उत्कृष्ट रूप 'माधुर्य' अर्थ में किया गया है।

1- रस-सिद्धान्त का वैदिक आधार — डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

2- रस और रसास्वादन — पृ० 28 डा० हरद्वारीलाल शर्मा।

स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है,[1] किन्तु कुछ विद्वानों ने इस सन्दर्भ में असहमति व्यक्त करते हुए बताया है कि रस-संज्ञक-निर्देश का यह स्थल प्रक्षिप्त है। ऐसी स्थिति में डा० श्री जयमन्त मिश्र का यह कथन सर्वथा उपयुक्त हो जाता है कि यद्यपि रामायण के आदिकाव्य की प्राचीनता पर आपत्ति करने वाले कतिपय पाश्चात्य तथा उन्हीं लीक पर चलने वाले कतिपय भारतीय समालोचकों ने उपर्युक्त कथन की अर्वाचीनता व्यक्त की है तो भी रामायण के वर्णनों के आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि महर्षि ने सभी रसों का विधान इसमें किया है, जैसे 'रामस्तु सीतया सार्धम्' इत्यादि में शृंगार, आगे चल विप्रलम्भ, शूर्पणखा वृत्तान्त में हास्य, दशरथ-निधन-वृत्तान्त में करुण, लक्ष्मण-मेघनाद आदि के वृत्तान्त में वीर, रावणादि के वृत्तान्त में रौद्र, मारीच-वृत्तान्त में भयानक, विराध कबन्धादि वृत्तान्त में बीभत्स, रामरावण युद्ध में अद्भुत और राज्य आदि के वृत्तान्त में शान्त रस। 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इस कथन से शोकमूलक करुण का प्राधान्य है।[2]

महाभारत आधुनिक साहित्य का अत्यन्त विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें प्रत्येक विषय का समावेश प्राप्त होता है। अन्य आचार्यों के अनुसार इसमें रस शब्द के काव्य-शास्त्रीय स्वरूप का विवेचन नहीं किया गया है। वैदिक साहित्य की भांति, जल, सुरा, पेय एवं सोम आदि सामान्यार्थक अर्थों में सन्निवेश किया गया है। पूर्व विवेचन की अपेक्षा ज्ञान एवं स्नेह रूप दो नवीन अर्थों की अभिव्यंजना का वैशिष्ट्य इसके महत्व का कारण कहा जा सकता है।

व्याकरण एवं धातुपाठ में रस :—

रामायण तथा महाभारत के पश्चात् व्याकरण एवं धातुपाठ आदि रस के अर्थ-विकास का साधन सिद्ध होते हैं। पाणिनीय व्याकरण में 'रस' धातु शब्द के अर्थ में तथा आस्वादन और स्नेहन के अर्थ में प्राप्त होता है।[3] व्याकरण में रस शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि यह विविध अर्थों का

1- पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्बद्धं तन्त्रीलयसमन्वितम्॥
रसैः शृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः
वीरादिभिर्रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम्॥ — रामायण, 1/4/8-9

2- काव्यात्ममीमांसा — 14 पृ० डा० श्री जयमन्त मिश्र।

3- रस शब्दे धातु। रस आस्वादनस्नेहयोः चुरादि।

<u>आयुर्वेद में रस :—</u>

आयुर्वेद में रस शब्द का अभिप्राय रसायन तथा पारद के अर्थ में अभिव्यक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त वीर्य एवं जल के अर्थ में भी इसका अभिप्राय ग्रहण किया गया है। प्राचीन आचार्य भद्रकाप्य ने इसका प्रयोग जलीय तथा जिह्वेन्द्रियग्राह्य पदार्थ के रूप में किया है। कुमारशिरस् ने इसे पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि में स्थित गुण माना है। आत्रेय पुनर्वसु ने षड्रस के अर्थ में इसका प्रयोग करते हुए इसकी योनि जल बतायी है। निमि ने षड्रसों के अतिरिक्त क्षार को भी एक रस माना है।[1] प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक संहिता' में रसनेन्द्रिय के विषय को रस कहा गया है।[2] मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय के रूप में इसे छः प्रकार का बताया गया है।[3] आयुर्वेद में रस सम्बन्धी इस तथ्य का भी विवेचन प्राप्त होता है कि भक्ष्य, भोज्य, लेह्य तथा पेय रूप चार प्रकार के पदार्थों को भोज्य रूप देने पर आहाररस की उत्पत्ति होती है। यह रस का रूप श्वेत, शीतल, मधुर, स्निग्ध एवं गतिशील सिद्ध होता है। इसके द्वारा शरीर एवं धातुओं की परिपुष्टि होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत के नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व रस शब्द के विभिन्न अर्थों का विकास होता गया है और यह विकास प्रायः स्थूल से सूक्ष्म की ओर है। वेदों में रस का प्रयोग वनस्पतियों के द्रव्य के लिए हुआ था, तत्पश्चात् यह सोम-रस, आनन्द, चमत्कार तथा तन्मयता का वाचक बना। उपनिषदों में यह अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ ग्रहण कर ब्रह्मानन्द एवं आत्मानन्द का वाचक बना है। वेदों में कहीं-कहीं इसे माधुर्य या काव्य-रस का भी आभास किया गया है, किन्तु वहाँ यह शास्त्रीय रूप में प्रयुक्त न होकर व्यावहारिक रूप में ही उपस्थित हुआ है। वेदों में रस का शास्त्रीय प्रयोग नहीं है। रामायण, महाभारत तथा सूत्र ग्रन्थों से होता हुआ यह काव्यजगत के क्षेत्र में प्रीति एवं भाव का बोधक बन गया। इस प्रकार इसकी यात्रा मूर्त से अमूर्त की ओर होती रही और अन्ततः भरत के नाट्यशास्त्र में यह शास्त्रीय अर्थ का वाचक बना।[4]

1- रससिद्धान्त-स्वरूप-विश्लेषण, पृ0 2 डा0आनन्द प्रकाश दीक्षित

2- "रसनार्थो रसः" चरक संहिता, 1/63

3- स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च। कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः॥
चरक संहिता, 1/64

4- भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त, पृ0 198 प्रो0 राजवंशसहाय 'हीरा'

(2) रस-सम्प्रदाय का उद्भव और विकास

रस-सम्प्रदाय के उद्भव और विकास की परम्परा का समस्त आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सम्पन्न हुआ है। आचार्य राजशेखर द्वारा काव्य-पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते समय रस के आधिकारिक विद्वान् के रूप में नन्दिकेश्वर नामक आचार्य विशेष को प्रतिष्ठित किया गया है —

"रूपकनिरूपणीयं भरतः रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।"[1]

अतः उनकी इस विचारणा के आधार पर कुछ लोग रस-सम्प्रदाय के आदि प्रतिष्ठाता के रूप में नन्दिकेश्वर को ही स्वीकार करते हैं। डा० पी०वी०काणे महोदय ने राजशेखर द्वारा कृत प्रस्तावित उक्त उद्धरण को आधार बनाते हुए लिखा है कि काव्यमीमांसा के उपरोक्त उद्धरण में नन्दिकेश्वर को रसों का प्रतिष्ठाता बताया गया है और यह सम्भव भी है। काव्यमाला में प्रकाशित 'नाट्यशास्त्र' के अन्तिम अध्याय की समाप्ति निम्नलिखित शब्दों के साथ होती है —

"नन्दिभरतसंगीतपुस्तकम्।"

अभिनवभारती (गायकवाड़ संस्करण), द्वितीय खण्ड, भूमिका के पृष्ठ 10 पर सम्पादक ने अभिनवगुप्त प्रणीत टीका, अध्याय 29 में से यह उद्धरण दिया है —

"यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतागमलक्षणेन पठितं तदस्माभिः साक्षान्न दृष्टं तत्प्रयासत लिख्यते संक्षेपतः ------ एवं नन्दिकेश्वरः ------ मतानुसारेणापि त्रिपुष्करविधि-रिति निरूपितः।"

अभिनवगुप्त कहते हैं कि उन्हें नन्दिकेश्वर की कृति नहीं मिली तथापि वह कीर्तिधर की साक्षी पर भरोसा करके नन्दिकेश्वर के आशय का संक्षेप में वर्णन करेंगे। संगीतरत्नाकर (1/15/19) में अनेक देवताओं, मुनियों तथा विद्वानों का इस विषय के लेखक के रूप में उल्लेख है, जैसे — सदाशिव, ब्रह्मा, भरत, कश्यप, मतंग, कोहल, नारद, तुम्बुर, आंजनेय, नन्दिकेश्वर।

इसके अतिरिक्त भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित राजकीय हस्त-लिखित ग्रन्थों की सूची में उल्लिखित प्राध्यापक मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित अभिनयदर्पण,

---

1- काव्यमीमांसा, पृ० 4 राजशेखर

भरतार्णव, अभिनवगुप्त द्वारा रसों की व्याख्या में कश्यपमुनि के मत का उद्धरण, भाव-प्रकाशन, नान्यदेव द्वारा रचित 'भरतभाष्य' आदि विविध तथ्य भरत-पूर्व रस-विचारस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं।[1]

इसी प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने विभिन्न तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि भरत से पूर्व रस-सिद्धान्त का अस्तित्व परिनिष्ठित रूप में असंदिग्ध विद्यमान था। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि भरत से पूर्व रस सिद्धान्त की परम्परा निश्चय ही विद्यमान थी। भरत तक आते आते उसे कम से कम दो शताब्दियाँ अवश्य लगी होंगी। भरत पूर्व युग का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु भरत के ही साक्ष्य पर उनके ही ग्रन्थ से उद्धृत आनुवंश्य श्लोकों के आधार पर कई पीढ़ियों से प्रचलित रस-परम्परा की स्थिति सहज ही स्वीकार की सकती है। इस रस- परम्परा का, नीति-धर्मपरक, रामायण-महाभारत की अपेक्षाकृत प्रधान प्रेमाख्यानों तथा कामसूत्र आदि के साथ घनिष्ठतर संबंध था और सम्भावना यही है कि आदि रूप में कामसूत्र ही इसका आधार स्रोत था। कामसूत्र स्वयं भी निराधार नहीं हो सकता और वर्ण्य-विषय तथा मूल-प्रवृत्ति की दृष्टि से चलते हुए उसका प्रेरणा-स्रोत अथर्ववेद आदि के शृंगारक मन्त्रों में खोजा जा सकता है। इस प्रकार हमारा अनुमान है कि रस परम्परा अथर्ववेद के शृंगारपरक (अभिचार) मन्त्रों से आविर्भूत होकर लौकिक प्रेम कथाओं, कामसूत्रों तथा नाट्यकला से संवर्धन प्राप्त करती हुई, भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों की वाणी में ईसा के जन्म से पूर्व निश्चित रूप से प्रस्फुटित हो चुकी थी।[2]

आचार्य भरत से पूर्व विद्यमान रस की वैचारिक परम्परा के सम्बन्ध में डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी का कथन है कि रस सम्बन्धी विवेचन का आरम्भ चाहे जब और जिसके द्वारा हुआ हो, पर इस विषय पर सबसे प्राचीन और प्रामाणिक कृति भरत की ही उपलब्ध होती है। वैसे काव्यमीमांसा का पौराणिक आख्यान यह बताता है कि रस-संबंधी विवेचन शिव-ब्रह्मपरम्परा से होता हुआ परम्परा के अनुसार नन्दिकेश्वर को मिला और उन्होंने फिर उसे आगे बढ़ाया।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य भरत से पूर्व रस-सिद्धान्त के व्याख्याता के रूप में चर्चित आचार्य नन्दिकेश्वर की मान्यता के प्रबल आधार विद्यमान हैं,

---

1- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पृ०- 2,3 - डॉ॰ पी॰ वी॰ काणे - अनुवादक - डॉ॰ इन्द्रचन्द्र शास्त्री
2- रस-सिद्धान्त, पृ० 15 डॉ० नगेन्द्र
3- रस-विमर्श, पृ० 1 डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

किन्तु ग्रन्थाभाव के कारण उनका यह ग्रन्थ आधार विघटित हुआ आचार्य भरत की ओर खिसक जाता है। ऐसी स्थिति में इस स्वीकारोक्ति के साथ कि आचार्य भरत से पूर्व मौखिक रूप में रस का महत्वपूर्ण स्वरूप विद्यमान था, आचार्य भरत को रस-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक निश्चित कर लिया जाता है। मेरा यह निश्चय लोकमत की मान्यता के अनुरूप सिद्ध होगा।

<u>भरत :—</u>

रस-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' के नाम से विख्यात है। यह उनकी एकमात्र ग्रन्थ है। उन्होंने इस विशालकाय ग्रन्थ में नाट्य सम्बन्धी विविध विषयों का समायोजन सम्पन्न किया है। प्रासंगिक परिप्रेक्ष्य में नाट्यशास्त्रीय विषय-वस्तु का परिकल्पित् स्वरूप की उपस्थिति हो सकती है। इस विषय-वस्तु में रस का विवेचन प्राधान्य रूप में विद्यमान है। यह विवेचन अत्यन्त व्यापक एवं व्यवस्थित रूप में सम्पन्न हुआ है। अतः ऐसा अनुमान कर लिया जाता है कि रस का स्वरूप आचार्य भरत से पूर्व विद्यमान था। रस का विवेचन-कार्य नाट्यशास्त्र के छठें एवं सातवें अध्यायों के क्रमशः 'रसविकल्प' एवं 'भावव्यंजक' नामक शीर्षकों में सम्पन्न किया गया है। ग्रन्थ की विषयवस्तु का विवरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य भरत ने बताया है कि इसमें रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान एवं रंग आदि विविध विषयों का संग्रह किया गया है।[1] विषय-वस्तु के इस विवरण में रस का प्राधान्य प्रतीत होता है क्योंकि उसके अभाव में नाट्य का कोई भी प्रयोजन नहीं प्राप्त हो सकेगा।[2] जिस प्रकार पाकविद्या में कुशल व्यक्ति विविध प्रकार के व्यंजनों का निर्माण करके अन्न का आस्वाद प्राप्त करता है उसी प्रकार विविध प्रकार के भावों एवं अभिनयों के द्वारा सम्पन्न किये गये वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायीभावों का आस्वादन किया करते हुए सामाजिक आनन्द प्राप्त करते हैं।[3]

1- रसा भावा ह्यभिनया धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः ।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगश्च संग्रहः ॥ — नाट्यशास्त्र, 6/10

2- नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। — नाट्यशास्त्र

3- रस इति कः पदार्थः? उच्यते आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः? यथाहि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।

नाट्यशास्त्र, 6/32,33 तथा वृत्ति

नाट्यशास्त्र में आठ रसों की मान्यता का प्रतिपादन करते हुए प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभाव एवं सात्विक भावों की विवेचना की गयी है।[1] आगे चलकर आठ रसों को मूल चार रसोंमें अन्तर्निहित किया गया है।[2] रसों के रंग एवं देवताओं का स्पष्ट विवेचन नाट्यशास्त्र की आधुनिकता का परिपोषण करता है।[3] स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव एवं सात्विक भावों की 49 की रूप संख्या का निर्धारण-कार्य उसका प्रारम्भिक वैशिष्ट्य कहा जायेगा, किन्तु विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति[4] का निर्धारण-कार्य वैशिष्ट्य की चरम सीमा पर समासीन हो जाता है। उत्तरवर्ती सम्भ्रान्त समालोचकों के बुद्धि-वैशिष्ट्य-हेतु यह सर्वथा महत्वपूर्ण तथ्य सिद्ध हुआ है। इस तथ्य के परिप्रेक्ष्य में ही विविध सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हो सका है।

आचार्य भरत ने विविध भावों में स्थायीभाव को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया है। उन्होंने स्थायीभाव के साथ अन्य भावों का सम्बन्ध राजा एवं उसके आश्रित जनों के रूप में प्रदर्शित किया है। जिस प्रकार मनुष्यों में राजा एवं शिष्यों में गुरु का प्रतिष्ठित स्थान होता है उसी प्रकार सभी भावों में स्थायीभाव की प्रतिष्ठा भी सर्वमान्य होती है।[5] उन्होंने सात्विक भावों को 'भाव' की संज्ञा से अभिहित किया है, इसके विपरीत उत्तरवर्ती आचार्यों ने उन्हें अनुभावों में ही अन्तर्निहित माना है।[6]

आचार्य भरत ने रसों के विविध भेदों का निरूपण किया है, जिन्हें उत्तरवर्ती आचार्यों ने यत्किंचित् रूपमें ग्रहण किया है। सम्भोग एवं विप्रलम्भ रूप शृंगार के विवेचित रूप को प्रायः सभी आचार्यों ने निर्विरोध स्वीकार किया है। शृंगार रस के विवेचन में उनका कथन है कि संसार में जो कुछ भी पवित्र, शुद्ध, उज्ज्वल एवं दर्शनीय तत्व प्राप्त होता है, वह शृंगार रस का निरूपणीय विषय सिद्ध हो जाता है। यह रीतका

---

1. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
   बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ — नाट्यशास्त्र, 6/15
2. शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
   वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥— नाट्यशास्त्र, 6/39
3. नाट्यशास्त्र, 6/42–45   4— नाट्यशास्त्र, 6/32
5. यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
   एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥— नाट्यशास्त्र, 7/8
6. वागंगमुखरागेण, सत्वेनाभिनयेन च ।
   कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥
   विभावेनाहृतो योऽर्थस्त्वनुभावेन गम्यते ।
   वागंगसत्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥—नाट्यशास्त्र 7/2, 1

स्थायीभाव से आविर्भूत होता है। इसका रंग उज्ज्वल श्वेतात्मक होता है। उज्ज्वल वेश से संयुक्त व्यक्ति शृंगारिक कहा जाता है। शृंगार रस परस्पर अनुराग-युक्त स्त्री-पुरुषों में ही आविर्भूत होता है। इसके सम्भोग रूप विशेष में ऋतु, माला, सुगन्धित लेप, अलंकार प्रियजन-विषय एवं विशिष्ट गृह आदि उपकरणों की सिद्धि होती है। उपवन में भ्रमण, श्रवण, दर्शन, क्रीड़ा एवं लीला आदि विविध रूपों में इसका अभिनय किया जाता है। इसके उत्कृष्टतम स्वरूप की अभिव्यक्ति नयन-चातुर्य, भ्रूचालन, कटाक्षपात एवं स्पष्ट शारीरिक संचालन आदि विविध अनुभावों द्वारा होती है। इसमें आलस्य, उग्रता एवं जुगुप्सा के अतिरिक्त अवशिष्ट संचारी भावों का समावेश प्राप्य होता है। इसके विपरीत विप्रलम्भ शृंगार का अभिनय करते समय निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा स्वप्न , विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जड़ता एवं मरण आदि अनुभावों का आश्र-य ही उत्कृष्ट सिद्ध होगा।[1]

रस-सम्प्रदाय की ऐतिहासिक परम्परा में हास्य रस के छः भेदों की प्राप्ति होती है। उनका निरूपण उत्तम, मध्यम एवं अधम रूप पात्रों की श्रेणी के आधार पर किया गया है। इस आधार पर उत्तम व्यक्तियों में स्मित तथा हसित, मध्यम व्यक्तियों में विहसित एवं उपहसित तथा अधम व्यक्तियों में अपहसित एवं अतिहसित भेदों की प्राप्ति होती है। आचार्य भरत ने आत्मस्थ एवं परस्थ के रूप में हास्यरस की उक्त संख्या के अतिरिक्त दो भेदों को स्वीकार किया है। हास्य विभावों को देखकर स्वयं हँसनेवाला 'आत्म-स्थ' एवं अपने हास्य द्वारा दूसरे को हँसाने वाला 'परस्थ' कहलाता है।[2]

1- तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभाव-प्रभवः। उज्ज्वलवेषात्मकः यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते। यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृंगारवानित्युच्यते ......। तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालंकारेष्टजन-विषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवन श्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयन-चातुर्यभ्रूक्षेपकटाक्षसंचारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्या-लस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः। विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशंकासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविबोधव्याधि-उन्मादापस्मारजाड्यमरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः॥

— अभिनवभारती, पृ० संख्या 300-308

2- नाट्यशास्त्र,

की व्याख्या दार्शनिक न होकर नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुकूल है तथा उसमें लौकिकता एवं सामाजिकता के बीज विद्यमान हैं। उसका मुख्य कारण है नाटक की दृष्टि से रस का मूल्यांकन करना। कालान्तर में नाट्यशास्त्र के विभिन्न व्याख्याताओं ने विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर रस की व्याख्या उपस्थित की, किन्तु भरत के विवेचन में किसी प्रकार का दार्शनिक पूर्वाग्रह नहीं दिखायी देता। भरत प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने दर्शन को लौकिक धरा-भूमि पर बैठाया एवं उसमें नैतिक तत्वों का संस्पर्श कराया। सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी होने के कारण ही इन्होंने शान्त रस का विवेचन नहीं किया है, क्योंकि रंग-मंच पर उसका अभिनय सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि भरत का विवेचन अधिक वैज्ञानिक, लौकिकतापूर्ण एवं नैतिक धरातल पर आधारित है तथा उसमें आलोचनाशास्त्र के शाश्वतगुण वर्तमान है, जिसे युग की आँधी कभी भी नहीं छिपा सकती है।[1]

आधुनिक समालोचक डा0 पी0वी0काणे महोदय के अनुसार नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित रस-विवेचन पूर्णतया व्यावहारिक भित्ति पर आधारित है। जहाँ एक ओर नाट्यशास्त्र को मनोवैज्ञानिक मान्यता से संयुक्त किया जा सकता है, वहीं दूसरी ओर उसे शरीर पक्ष से भी संयुक्त किया जा सकता है।[2]

डा0नगेन्द्र के अनुसार रस-सिद्धान्त का सर्वप्रथम तथा व्यवस्थित सम्पूर्ण प्रति-पादन नाट्यशास्त्र में मिलता है — भरत का मुख्य प्रतिपाद्य है नाट्य और अभिनवगुप्त की टिप्पणी के अनुसार, भरत के मत से 'तेन रस एव नाट्यम्।'[3]

आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित रस-विवेचन के महत्व का प्रतिपादन करने में डा0 प्रेमस्वरूप गुप्त की निम्नलिखित पंक्तियाँ सर्वथा युक्तियुक्त सिद्ध होंगी।[4]

(1) भरत की रस-निष्पत्ति एक वस्तुवादी व्याख्या है। उसमें पानक-रस के समान नाट्य रस की व्याख्या की गयी है।

(2) भरत की रस-निष्पत्ति रसोत्पत्ति की समर्थक है अर्थात् भिन्न भिन्न द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न पानक-रस के समान भरत विभिन्न सामग्री से उत्पन्न नाट्यरस का स्वरूप अपने निष्पत्ति-विवेचन में प्रस्तुत करते हैं।

1- भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त, पृ0 202-3

3- रस-सिद्धान्त, पृ0 18,　　4- रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ0173

विष्णुधर्मोत्तरपुराण :—

अग्निपुराण की भाँति इस पुराण में रस के स्वरूप का परिनिष्ठित विवेचन प्राप्त होता है। नौ रसों की मान्यता का समर्थन इसी अग्निपुराण का समीपवर्ती विष्णु करता है।[1] अधिकांश आचार्यों ने नाट्य में शान्त रस का निषेध किया है, किन्तु इस पौराणिक ग्रन्थ में आचार्यों ~~[illegible]~~ का यह निषेध पूर्णतया प्रासृप रूप में परिवर्तित हो गया है।[2] आचार्य भरत-प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार इसमें रसों के वर्ण, दैवत, भेद-प्रभेद, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी आदि के विवेचन का विषय बनाया गया है।[3] स्थायीभाव की परिभाषा का प्रतिपादन करते समय 'नाट्यशास्त्र' इसकी दृष्टि का विषय बना था। अतः नाट्यशास्त्र की परिभाषा ही इस पुराण में स्थायीभाव का अभिप्राय व्यक्त करने हेतु प्रस्तुत की गयी है। यहाँ मात्र नाट्यशास्त्र की परिभाषा में आगत 'सर्वेषाम्' पद के स्थान पर 'बहूनाम्' पद को पाठान्तर के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[4] रस-विवेचन कार्य में इस पौराणिक ग्रन्थ का महत्त्व इस आशय से और भी अधिक अभिवृद्धि को प्राप्त हो जाता है कि शान्त रस नाट्य में भी अभिनीत किया जा सकता है।[5]

भामह :—

आचार्य भामह आलंकारिक आचार्यों की कोटि में परिगणित किए गये हैं। अतः उनकी वैचारिक धारणा के अनुसार रस के अस्तित्व का निर्वहन गौण रूप में ही हो सकता है। उनकी मान्य धारणा का प्रतिफल अलंकार है अतः उन्होंने रस के अस्तित्व को

1- शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः रसाः नव समन्विताः॥
— विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 3/15/14

2- शृङ्गारहास्य ---- शान्ताख्या नवनाट्यरसाः स्मृताः। वही, 3/17/61

द्रष्टव्य 3— विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 3/30/2, 3, 28 एवं 3/31/1-28

4- बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणः स्मृताः॥ वही, 3/31/53

5- शान्तस्य तु समुत्पत्तिर्नृप वैराग्यतः स्मृता।
स चाभिनेयो भवति लिंगप्रख्यापनात्॥ — वही, पृ 3/30/9

रसवत्, प्रेयस् एवं ऊर्जस्विन् नामक अलंकारों में ही अन्तर्निहित कर दिया है।[1]

इस प्रकार आचार्य भामह ने यद्यपि अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है, किन्तु वैसी स्थिति पर भी वह रस के व्यामोह को नहीं छोड़ सके। महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन करते समय उन्होंने रस के प्राधान्य को सर्वथा आवश्यक बताया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार महाकाव्य के लिए सर्गबद्धत्व, शब्द तथा अर्थसौष्ठव पञ्चसन्धियों का एकीकरण एवं अलंकारों का सुन्दर प्रयोग आवश्यक है उसी प्रकार उसमें सभी रसों का समावेश भी सर्वथा आवश्यक है।[2]

वस्तुतः आचार्य भामह की रस सम्बन्धी उक्त विरोधी अविरोधी भावना रस के प्रति उनके मन्तव्य की वास्तविकता का निर्धारण करने में सर्वथा असमर्थ है, किन्तु इस सम्बन्ध में मेरा अपना विचार यह है कि आचार्य भामह की दृष्टि में रस एवं अलंकार दोनों काव्य के महत्वपूर्ण तत्व हैं। युगीन परिप्रेक्ष्य के आधार पर अलंकार तत्व ने रस के प्रति उन्हें अनुदार निष्ठुर कर दिया। यही कारण है कि रसवत् अलंकार का विवेचन करते समय उनकी रस सम्बन्धी मान्यता उस विचार को भी रस निष्ठुर करती है।

इस सम्बन्ध में डा0 रामलखन सिंह का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि भामह ने अलंकार के माध्यम से काव्य के कल्पना-पक्ष पर सबसे अधिक बल दिया, फलतः भाव से सम्बन्ध रखने वाले रस-तत्व की उनसे उपेक्षा हो गयी।[3]

इसी प्रकार डा0 ए0 शंकरन का कथन है कि अलंकारों के अन्तर्गत रस का समावेश करने के कारण भामह अलंकारवादी आचार्य ही कहे जा सकते हैं।[4]

1- रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा।
देवी समागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता॥
प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद् विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः॥
काव्यालंकार, 1/6,5,7 भामह

2- युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। (काव्या0 1/21 भामह)

3- रससिद्धान्त का क्रमिक विकास, आलोचना — त्रैमासिक

4- Theory of Ras and Dhvani - Page - 24

<u>दण्डी</u> :—

आचार्य दण्डी भी आलंकारिक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। अतः उनकी दृष्टि भी रस की अपेक्षा अलंकार को अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध करती है। आलंकारिक आचार्य होते हुए भी उन्होंने रस के महत्व को समझने का यत्किंचित् प्रयास अवश्य किया है। डा0 नगेन्द्र के अनुसार दण्डी की दृष्टि भामह की अपेक्षा अधिक उदार थी। सिद्धान्ततः तो भामह तथा अन्य ध्वनि पूर्व आचार्यों की भाँति उन्होंने भी अलंकार में ही काव्य का मूल सौन्दर्य माना है और अलंकार को सम्पूर्ण काव्यसौन्दर्य का पर्याय मानते हुए रस का रसवद् अलंकार के अन्तर्गत ही वर्णन किया है, किन्तु स्वभावतः पदलालित्य-रसिक दण्डी के मन में रस के प्रति अधिक आदर था। भामह ने जहाँ रसवद् अलंकार के प्रसंग में केवल शृंगार रस का एक अस्पष्ट उदाहरण देकर रस विषय को समाप्त कर दिया है, वहाँ दण्डी ने आठ रसों का सविस्तर वर्णन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि समास- शैली के कारण उन्होंने विभिन्न रसों के विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी आदि का पृथक् विवेचन नहीं किया — केवल स्थायी की ही रस परिणति का वर्णन किया है। किन्तु एक तो इसलिए कि स्थायीभाव की रस-परिणति रस-सिद्धान्त का मूल आधार है और दूसरे इसलिए कि उनके उदाहरणों में विभाव, अनुभावआदि के अत्यन्त स्पष्ट चित्रण द्वारा रस-परिपाक प्रस्तुत किया गया है — दण्डी का रस-वर्णन, संक्षिप्त होते हुए भी अपूर्ण नहीं है।[1]

आचार्य दण्डी ने रसवत् अलंकार का विवेचन करते समय नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित शृंगार, वीर, रौद्र, करुण, बीभत्स, हास्य, अद्भुत एवं भयानक रसों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इन उदाहरणों का माधुर्य रस के प्रति उनकी अनुराग युक्त-भावना का प्रदर्शन करता है। आचार्य दण्डी की मान्यता के अनुसार रत्यादि भाव रूप-बाहुल्य के योग से अर्थात् विभावादि का आश्रय प्राप्त कर शृंगारादि रसत्व को प्राप्त करते हैं।[2]

रस एवं गुणों के सम्बन्ध को आचार्य दण्डी ने स्पष्ट रूप में प्रदर्शित किया है। माधुर्य गुण के साथ रस का सम्बन्ध निरूपित करते हुए उन्होंने कहा है कि रसवत् काव्य ही मधुर होता है। अतः रस एवं माधुर्य एक ही पदार्थ हैं। शब्द एवं अर्थ से अभिभूत होने वाली जिस आह्लादकता से सहृदय मन मतवाला हो जाये, वह रस पदवाच्य होगी।[3]

1- रससिद्धान्त, पृ0 20, 21। डा0 नगेन्द्र।

2- प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद् वचः ॥ — काव्यादर्श, 2/281 दण्डी

3- मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥वही, 1/51।

आचार्य दण्डी की मान्यता के अनुसार अलंकार को रस-युक्त होना चाहिए, रस के अभाव में वह महत्वहीन हो जायेगा।[1]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रस-सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास में आलंकारिक आचार्य के रूप में आचार्य दण्डी का महत्वपूर्ण सहयोग रहा है। उनके इस सहयोग का निदर्शन करते हुए प्रो0 राजवंश सहाय 'हीरा' ने लिखा है कि दण्डी के उदाहरणों में रस-प्रक्रिया का पूर्ण वैभव दिखायी पड़ता है जो भरत के विवेचन से साम्य रखता है। सभी रसों एवं भावों के उदाहरण उपस्थित कर भी दण्डी यह समझ नहीं पाते कि वे वस्तुतः रस का ही वर्णन कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि वे युग की सामान्य विचारधारा से इस प्रकार प्रभावित हो चुके थे कि उन्होंने अलंकार के ही अन्तर्गत रसों को अन्तर्भूत कर लिया। दण्डी के विवेचन पर भरत एवं भामह दोनों का संयुक्त प्रभाव है। रस को रसवत् अलंकार के भीतर मानने के कारण यहाँ वे भामह के निकट पहुँचते हैं तो स्थायिभाव का सम्यक् वर्णन करने के कारण भरत की परम्परा को छू लेते हैं। रस का अलंकार के अन्तर्गत वर्णन कर भी वे भरत के विपरीत नहीं सोचते और न भामह की भाँति मात्र विभाव को ही रस मानते हैं। कुल मिलाकर दण्डी का दृष्टिकोण भामह की भाँति रस के प्रति उपेक्षित का नहीं है। वे रस के प्रति उदार दृष्टि रखते हैं इसका मुख्य कारण उनका रस-सिद्धि स्वीकार होना है।[2]

वामन :—

रीति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उनकी रस-सम्बन्धी वैचारिक धारणा दण्डी से प्रभावित प्रतीत होती है। दोनों ही आचार्यों ने अपने अपने ग्रन्थों में रस के स्वरूप को प्रदर्शित किया है। आचार्य दण्डी ने रस का विवेचन अलंकारों के साथ सम्पन्न किया है, इसके विपरीत आचार्य वामन ने उसे गुणों का संगी प्रदान किया है। आचार्य वामन का रस-विश्लेषण-कार्य आचार्य दण्डी की अपेक्षा पर्याप्त सीमित हो गया है। सम्भवतः इसी आधार पर डॉ0 नगेन्द्र ने लिखा है कि रस के प्रति वामन की धारणा

1- कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति। — काव्यादर्श, 1/63

2- 'भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त' पृ0 206-7

को पृथक ही माना जायेगा। दण्डी ने अपेक्षाकृत अधिक रसिकता का परिचय दिया था। वामन के मतसे काव्य की शोभा है रीति, रीति के मूल तत्व हैं गुण और इन गुणों में से एक गुण के शोभाधायक धर्म हैं रस —— अतएव स्वभावतः ही रीतिवाद में रसों का स्थान गौण है।[1]

आचार्य वामन ने गुणों का विवेचन करते समय रस को महत्वपूर्ण तत्व कहकर 'कान्ति' नामक गुण में अन्तर्भुक्त कर दिया है।[2] उन्होंने नित्य एवं अनित्य के रूप में काव्य के दो धर्मों को स्वीकार किया है। उनमें से गुण काव्य के नित्य धर्म एवं अलंकार अनित्य धर्म माने गये हैं। इस प्रकार उन्होंने काव्य के अनित्य धर्म अलंकार में रस का अन्तर्भाव न करके उसके नित्य धर्म गुण में किया है, यह रस के महत्व की पूर्ण स्वीकृति का द्योतक है।

आचार्य वामन ने काव्य के विविध भेदों में से नाटक को सर्वोपरि स्वीकार किया है।[3] अतः नाटक को उत्कृष्ट सिद्ध करने का कार्य रस के महत्व की पुष्टि का उद्घोषक है। रस की अभिव्यक्ति नाटक में सरलता पूर्वक हो जाती है। जिससे सहृदय का अन्तर्मन पूर्णतः रसाप्लावित हो जाता है। अतः नाटक की श्रेष्ठता रस के महत्व की साधक सिद्ध होती है।

आचार्य वामन द्वारा प्रकारान्तर से रस का महत्व स्वीकार किए जाने पर भी उनका रस-विवेचन विशेष महत्वपूर्ण न कहा जा सकेगा। इस सम्बन्ध में उनका महत्व यत्किंचित् रूप में रस को अनित्य धर्म अलंकार से पृथक् करने में ही स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार की धारणा का निदर्शन करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि वामन के पक्ष में एक बात यह कही जा सकती है कि उन्होंने रस को अंग का नहीं, वरन् प्राण का धर्म माना है। गुण काव्य के नित्य धर्म एवं काव्यात्म रीति के प्राणतत्व हैं और रस का सम्बन्ध गुण से है, अतः रस का सम्बन्ध सीधा काव्य की आत्मा से हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि इस तर्क से, केवल रीति का अनिवार्य तत्व होने के नाते, रस उत्तम काव्य

1- रससिद्धान्त, पृ० 25

2- दीप्तरसत्वं कान्तिः।

दीप्ता रसा शृंगारादयो यस्य स दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः॥

— काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 3/2/15 एवं वृत्ति

3- सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। — काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/2/30

का ओजस्वी तत्व सिद्ध होजाता है। परन्तु फिर भी, रीति में से केवल एक गुण का अंग होने के कारण उसकी गौणता का परिहार नहीं हो सकता।[1]

उद्भट :—

आचार्य उद्भट अलंकारवादी आचार्यों की श्रेणी में परिगणित किए जाते हैं। 'भरत की टीका' एवं 'भामह विवरण' नामक उनके अप्राप्य ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि वह भरत एवं भामह दोनों ही अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति श्रद्धास्पद भावना रखते है। इसके अतिरिक्त एक इस तथ्य का भी स्पष्ट निराकरण हो जाताहै कि वह अलंकार के साथ ही साथ रसतत्व के भी उपासक है।

आचार्य उद्भट भामह एवं दण्डी आदि आचार्यों की अपेक्षा रस के विशिष्ट विवेचन में अधिक उदार प्रतीत होते हैं। उनके उक्त पूर्ववर्ती आचार्यों ने अलंकारों के विवेचन में प्रेयस्, रसवत् एवं ऊर्जस्वि नामक तीन अलंकारों को ही ग्रहण किया था, किन्तु उन्होंने 'समाहित' नामक एक नवीन अलंकार की कल्पना की। सर्वप्रथम उन्होंने प्रेयस् अलंकार के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि रत्यादि भावों को प्रकट करने वाले अनुभावों द्वारा जिस काव्य की रचना हो, वह प्रेय अलंकारस्वयुक्त काव्य कहलायेगा।[2] इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब स्थायीभाव रसावस्था तक पहुँचने में असमर्थ सिद्ध हो जाते हैं तो वहाँ रसवादी आचार्यों के भाव के स्थान पर प्रेयस्वत् अलंकार होता है।

रसवत् अलंकार के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा है कि शृंगारादि रसों को स्पष्ट रूप से प्रतीति या परिपुष्ट करने वाला तथा स्व शब्द अर्थात् शृंगार आदि रसों, स्थायीभावों, संचारीभावों, विभावों एवं अनुभावों में परिपुष्ट होनेवाला रसवत् अलंकार कहलाता है।[3]

रसवत् अलंकार के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् आचार्य उद्भट ने रस के महत्व को स्वीकार करते हुए शान्त रस के साथ नाटक में नौ रसों का होना

1- रस-सिद्धान्त, पृ० 25

2- रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥— काव्यालंकारसारसंग्रह, 4/2

3- रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥— वही, पृ 4/3

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य रूद्रट का स्थान रस की विचारधारा परम्परा में बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है। उन्होंने रस को काव्य का सर्वाधिक आवश्यक तत्व सिद्ध किया है। अपने पूर्व सिद्धान्त अलंकार की उत्कृष्टता का ध्यान न देकर उन्होंने जिस ढंग से रस को महनीय स्थान पर प्रतिष्ठित किया है, वह उनकी अपूर्व साहस एवं मेधा का परिचायक है। इस सम्बन्ध में डा० सुशील कुमार डे का निम्नलिखित पंक्तियाँ सर्वथा युक्तियुक्त जैसी प्रतीत होती हैं —

रूद्रट ने रस, भाव एवं अनुभाव आदि के स्वरूप का विवेचन नहीं किया है। रूद्रट की रस मीमांसा भरत से प्रभावित है। उन्होंने रस का विवेचन स्वतंत्र रूप से किया है, जो अलंकार, रीति, अथवा गुण में अन्तर्भावित नहीं किया। रूद्रट का आचार्य ऐसे सन्धिकाल में हुआ था जब अलंकार, गुण एवं रीति सिद्धान्तों की तूती बोलती थी एवं ध्वनिसम्प्रदाय विकास के पथ में अंगड़ाई ले रहा था। ऐसे संधि युग में रूद्रट का रस विवेचन उनकी आधारभूत सूझबूझ का परिचायक था। यद्यपि उनका रस-विवेचन बहुत कुछ भरत का आधार ग्रहण किए हुए है, फिर भी उन्होंने रस निरूपण-प्रवृत्ति एवं रसशक्ति की पुष्टि कर अपनी स्वतंत्र शक्ति का परिचय दिया है। उनका रस विवेचन दृढ़ आधार पर अवस्थित है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि उन्होंने परस्पर विरोधी लगने वाले रस एवं अलंकार सिद्धान्त में समन्वय स्थापित कर दोनों के बीच पड़ी हुई गहरी खाई को सम्यक् रूप से पाटने का प्रयत्न किया है एवं काव्य वैशिष्ट्याधायक तत्वों में दोनों को समान महत्व दिया है। भरत के बाद रूद्रट ने नव रसों को स्वीकार किया था किन्तु सर्वप्रथम रूद्रट ने ही दसवें रस प्रेयान् का वर्णन किया। इसके पहले किसी आचार्य ने इसका उल्लेख नहीं किया था। विद्वानों ने इन्हें मूलतः अलंकारवादी कहा है। और अपने कथन की पुष्टि के लिए अलंकारसर्वस्वकार राजानक रूय्यक के कथन को भी उद्धृत किया है, किन्तु सम्यक् रूप से विचार करने पर रूद्रट रसवादी के अधिक निकट जान पड़ते हैं।[1]

रूद्रभट्ट :—

आचार्य रूद्रभट्ट के अस्तित्व के सम्बन्ध में कुछ आचार्य सहमत नहीं हैं। उनकी मान्यता के अनुसार रूद्रट और रूद्रभट्ट एक ही हैं, किन्तु आधुनिक समालोचक

1- भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त, पृ० 212 से उद्धृत, प्रो० राजवंशसहाय 'हीरा'

भट्टनायक :—

काव्यशास्त्रीय इतिहास में आचार्य भट्टनायक का ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के विविध विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसका मूल रूप अद्यावधि समुपलब्ध नहीं हो सका है, किन्तु इसका वैषयिकस्वरूप परिकीर्णित् रूपमें 'ध्वन्यालोकलोचन' 'अभिनवभारती', 'व्यक्तिविवेक' 'काव्यानुशासन' एवं 'काव्यप्रकाश' आदि विविध ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

रस के स्वरूप को निर्दिष्ट करने वाले उनके विचारों की प्राप्ति मुख्य रूप से ध्वन्यालोकलोचन, अभिनव भारती एवं काव्य प्रकाश में होती है। आचार्य भरत द्वारा प्रस्तावित रससूत्र की व्याख्या उनके महत्व को निर्दिष्ट करने में बहुत ही सहा-यिका सिद्ध हुई है।

आचार्य भट्टनायक ने रस को काव्य का सर्वस्व स्वीकार करते हुए ध्वनि का सर्वथा निषेध किया है। ध्वनिकार द्वारा निर्दिष्ट वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि का अपने विशिष्ट तर्कों द्वारा खण्डन करने के पश्चात् उन्होंने रस को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। इस स्वीकारोक्ति के सम्बन्ध में उनका कथन है कि काव्य में अभिधा-व्यापार से शब्दार्थ एवं उनसे सम्बन्धित अलंकारों का परिज्ञान होता है। इसके पश्चात् भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि के साधारणीकृत हो जाने पर भोगकृति या भोजकत्व रूप व्यापार सहृदय को रसास्वादन में पूर्णतया व्याप्त कर देता है।[1]

भट्टतौत :—

आचार्य भट्टतौत, अभिनवगुप्तपादाचार्य के गुरु माने गये हैं। उनका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यकौतुक' नाम से प्रसिद्ध है। मूल रूप में अभी तक यह भी अप्राप्य कहा जा रहा है। आचार्य भट्टतौत द्वारा प्रस्तावित रस सम्बन्धी विचारों की प्राप्ति मुख्य रूप से लोचन, अभिनवभारती एवं काव्यानुशासन में होती है।

1- अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च।
अभिधा धामतां याति शब्दार्थालंकृती ततः॥
भावना भाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः।
तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः॥
— हृदयदर्पण से उद्धृत अभिनवभारती, पृ० 279

रस के ऐतिहासिक विकास में आचार्य भट्टतौत के महत्व का निदर्शन करते हुए प्रो० राजवंश सहाय 'हीरा' ने लिखा है कि रस-सिद्धान्त के विकास में भट्टतौत की अन्य महत्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने भट्टनायक के 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। उन्होंने बतलाया कि रस की पूर्णता में कवि, नायक एवं सहृदय तीनों का रस एक जैसा हो जाता है। रस की पूर्ण स्थिति में तीनों का ही साधारणीकरण होता है।[1]

अभिनवगुप्त —

रस-सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास में आचार्य अभिनवगुप्त का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने रस के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन करके काव्यशास्त्रीय इतिहास में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी, जिसके परिणामस्वरूप उनके सभी उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया। उनके रस-सम्बन्धी विचारों की प्राप्ति अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोक-लोचन नामक ग्रन्थों में होती है। रस को काव्य की आत्मा के रूप में परिपुष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है वस्तु और अलंकार ध्वनि उसी स्थिति पर काव्य की संज्ञा से अभिहित की जा सकती हैं, जबकि उनका पर्यवसान रस में किया गया हो। ये दोनों वाच्यार्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट होने के कारण, सामान्य रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रचलित मान्यता में अन्तर्निहित कर ली जाती हैं —

"तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः, काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।"[2]

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार रसादि रूप अर्थ स्वप्न में भी रसादिशब्दों से वाच्य नहीं हो सकता है और न ही उसे लौकिक ही कहा जा सकता है क्योंकि वह उचित एवं सुन्दर शब्दों द्वारा समर्पित किए जाने योग्य, सहृदय के हृदय में विद्यमान जो विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा शाश्वत रूप में विद्यमान रत्यादि वासना उद्बुद्ध हो जाती है उसके अनुराग के सुकुमार रूप सहृदय के आनन्द के चर्वणा रूप व्यापार से आस्वाद्य होता है। यह रस काव्य के मात्र ध्वनि रूप व्यापार से ही प्रकट रूप में प्रतीत होता है। अतः रसध्वनि रूप कहा जाता है। इस प्रकार यह रसादि ध्वन्यमान ही कहा

1- भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त, पृ० 22।

2- ध्वन्यालोकलोचन, पृ० 86 व्या०आचार्य जगन्नाथ पाठक।

जायेगा, वाच्य नहीं और यही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा है।[1]

आचार्य अभिनवगुप्त ने रसों की संख्या का निर्धारण करते हुए उन्हें नौ प्रकार का बताया है। उनमें से शान्त रस को उन्होंने महारस के रूप में स्वीकार किया है। शान्त रस के प्रति उनका अनुराग स्पष्ट प्रतीत होता है जिसके प्रमाण में अभिनवभारती के उन विशिष्ट स्थलों का संकेत किया जा सकता है जिनमें आचार्य भरत द्वारा भी शान्त रस की स्वीकारोक्ति की परिपुष्टि की गयी है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य अभिनवगुप्त रस सिद्धान्त की विकासात्मक स्थिति को ऊपर उठाने में बहुत ही सहायक रहे हैं। भरत के रससूत्र की आनन्दात्मक व्याख्या सर्वसामान्य में मान्य है। उन्होंने रस को आनन्दरूप एवं अलौकिक स्वीकार किया है। अतः इस आधार पर उनके दार्शनिक स्वरूप के पूर्ण संकेत प्राप्त हैं। उनके इस स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डा0 नगेन्द्र ने लिखा है कि ध्वनिकार रस के प्रति पक्षपात करते हुए भी वस्तु-अलंकारध्वनि दोनों को मुक्त भाव से ग्रहण करते हैं, वहाँ अभिनव रस के प्रति अपने नितान्त आग्रह के कारण उन दोनों को अनिच्छापूर्वक ही स्वीकार करते हैं। मूल लेखक और भाष्यकार के दृष्टिकोण का यह भेद अन्त तक बना रहता है। वास्तव में अभिनव का दार्शनिक मत है शैवाद्वैत, जिसका मूल आधार है परम-तत्त्व की आनन्दमयी तथा अद्वैत स्थिति। शैवाद्वैत का आधारभूत आनन्दतत्त्व अद्वैत होने के कारण अखण्ड और अनादि है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती अभिव्यक्ति मात्र होती है। इस प्रकार शैवाद्वैत अभिव्यक्तिवाद को आनन्दवाद के साधक सिद्धान्त के रूप में आग्रह के साथ स्वीकार करता है। अभिनवगुप्त ने इसीलिए रस-सिद्धान्त के साधक के रूप में ध्वनि-सिद्धान्त को मनोयोग के साथ ग्रहण किया है। वे मूलतः रसवादी ही हैं, व्यंजना(ध्वनि) भी उन्हें अपनी रसविषयक धारणा की पुष्टि के लिए अनिवार्यतः मान्य है। दोनों सिद्धान्तों के प्रति आचार्य की आस्था का यही स्पष्ट कारण है।[2]

1- रसस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किं तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति। —ध्वन्यालोकलोचन, पृ0 50 व्या0आचार्य जगन्नाथ पाठक

2- रस-सिद्धान्त, पृ0 38

अतः रस व्यंजना का विषय है, अभिधा का नहीं।[1]

आचार्य कुन्तक द्वारा प्रतिपादित काव्य के लक्षण एवं प्रयोजन भी उनकी रस के महत्व की स्वीकारोक्ति में पूर्णतया सहायक सिद्ध होते हैं।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि वक्रोक्ति नामक पृथक् काव्यात्म-तत्व के उद्भावक होते हुए भी आचार्य कुन्तक रस के महत्व से पूर्णतया सहमत हैं। उन्होंने अपनी इस सहमति को व्यक्त करने में कहीं भी असहमति का संकेत नहीं प्रस्तुत किया। वक्रोक्ति के विविध भेदोपभेदों के विवेचन कार्य में उनकी रस के महत्व की स्वीकारोक्ति स्पष्ट शब्दों में दिखाई पड़ती है। हमारे इस कथन की परिपुष्टि में आचार्य बलदेव उपाध्याय की निम्नलिखित पंक्तियाँ सर्वथा युक्ति-युक्त सिद्ध होंगी —

"कुन्तक ने वाक्य-वक्रता (अर्थात् अलंकार) के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मार्गों के प्रसंग में और प्रबन्ध-प्रकरण-वक्रता के अवसर पर रस का विशेष व्यापक विवरण अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। काव्य में रस के उन्मीलन की आवश्यकता उन्हें मान्य है, परन्तु उसे अपनी काव्य-व्युत्पत्ति में स्वतंत्र स्थान न देकर वक्रोक्ति के भीतर ही उपजीव्य तत्व मानते हैं।[3]

महिमभट्ट —

आचार्य महिमभट्ट न्यायदर्शन से प्रभावित हैं। उन्होंने रस एवं ध्वनि आदि सभी तत्वों को अनुमान में अन्तर्निहित करने का प्रयास किया है। अतः वे रस-विरोधी आचार्य सिद्ध होते हैं। 'व्यक्तिविवेक' नामक अपने काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ में रचना का उद्देश्य बताते हुए उन्होंने लिखा है कि ध्वनि के सम्पूर्ण स्वरूप को अनुमान में अन्तर्भाव करने के लिए व्यक्तिविवेक की रचना की जा रही है।[4] इस प्रकार रस का सर्वोत्कृष्ट रूप रस ध्वनि भी अनुमान के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाती है।

1- यत् स्वभावोक्तावलंकार्यतया श्रुतिपथमवतरन्नपि अभिधाव्यापारगोचरं पूर्वमीतत्वेन न्यायेन पुनःपुनःप्रयुक्तत्व यथा स्वभावोक्तिविषयकत्वात् रसादिनिबन्धनं समाश्रयणीयत्वे सति व्यञ्जना विषयमित्यभिधानादि रसादीनामभिधेयत्वमनेन वाच्यतया प्रतिपाद्यते शब्दव्यापारेण।—— वक्रोक्तिजीवित, 3/11 की वृत्ति।

2- शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥—वक्रोक्तिजीवित, 1/10,5

3- भारतीयसाहित्यशास्त्र, भाग-2, पृ0 326

4- अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

आचार्य भोजराज द्वारा प्रतिपादित रस के स्वरूप का उपर्युक्त विवरण देखकर यह कहा जा सकता है कि रस के ऐतिहासिक विकास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, किन्तु इस विवेचन में उनका दृष्टिकोण एकांगी हो जाने के कारण महत्त्व की दृष्टि से वह कुछ नीचे की ओर खिसक गये हैं। शृंगाररस के व्यामोह ने उनकी रस भावना को सर्वथा सीमित कर दिया है। इसीलिए उन्होंने मात्र शृंगार को ही रस के रूप में मान्यता प्रदान की है, जो सर्वथा मान्य नहीं कहा जा सकता है।

<u>क्षेमेन्द्र</u> :——

आचार्य क्षेमेन्द्र काव्यशास्त्रीय इतिहास में 'औचित्य-सम्प्रदाय' के प्रतिष्ठापक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने विविध तार्किक विवेचनों के आधार पर औचित्य को काव्य की आत्मा के रूप में सिद्ध किया है। इस प्रकार औचित्य ही उनके विवेचन का मुख्य आधार है, किन्तु इसके साथ उन्होंने रस को भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने काव्य में रस की स्थिति को सर्वथा आवश्यक बतलाया है। रस के वास्तविक स्वरूप को निरूपित करने के लिए ही उन्हें औचित्य नामक नवीन तत्त्व की कल्पना करनी पड़ी है।[1] रस से समायुक्त काव्य का जीवन रूप औचित्य है। यह जीवन पूर्णतया स्थायी है। इसका पूर्णतया विवेचन करने पर यह सिद्ध होता है कि शृंगार आदि विभिन्न रसों का सादृश्य प्राप्त कर काव्य सामान्य स्वरूप प्राप्त कर लेता है और तत्पश्चात् औचित्य का समावेश उसे असामान्य रूप स्थायी जीवन का स्वामित्व भी प्रदान कर देता है। अतः यह निश्चित हो जाता है कि रस-युक्त काव्य का स्थायी जीवन औचित्य है। उसके अभाव में गुण एवं अलंकार आदि तत्त्व उसे जीवित रखने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हो जायेंगे।[2] काव्य में रस का औचित्यपूर्ण समायोजन सहृदयों के आनन्द का कारण सिद्ध होता है। जिस प्रकार मधुमास अशोक वृक्ष के अंकुरण का कारण सिद्ध होता है, उसी प्रकार औचित्य से परिपूर्ण रस रूप कारण सहृदयों का मन प्रफुल्लित करने में पूर्णतया समर्थ होता है।[3] जिस

4- रसं केचिदाचार्याः 'रतिप्रकर्षः शृंगार' इति वयं तु मन्यामहे रसवदभिमानमयोऽयं प्रकर्ष इति। शृंगारिणो हि रसवन्तो भवन्ति, नाशृंगारिणः ॥—शृंगारप्रकाश, पृ0 394

1- औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
   रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना। — औचित्यविचारचर्चा, 3

2- अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा। औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। वही, 5

3- कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
   मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः ॥ — वही, 16

प्रकार अत्यन्त कुशलता से मिलाये गये मधुर एवं तिक्त आदि पदार्थ विविध व्यंजनों में अपूर्व आस्वाद को उत्पन्न कर देते हैं उसी प्रकार उचित ढंग से संयुक्त किए जाने पर शृंगारादि रस काव्यों में आनन्दानुभूति की अभिवृद्धि कर देते हैं।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम डा० नगेन्द्र के शब्दों में कह सकते हैं कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस को काव्य का प्रमुख तत्व स्वीकार किया है, किन्तु उनकी दृष्टि में उसका आधार औचित्य रहा है। यह मत रस सिद्धान्त के सर्वथा अनुरूप है क्योंकि रस-सिद्धान्त भी रस-परिपाक के लिए औचित्य को अनिवार्य मानता है। रस-सिद्धान्त में भी औचित्य के अभाव में रस रसाभास बन जाता है।इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र भी मूलतः रस-वादी ही हैं। उनकी औचित्य कल्पना का आधार भी अन्ततः रस ही सिद्ध होता है।[2]

मम्मट :—

आचार्य मम्मट द्वारा विरचित 'काव्यप्रकाश' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यशास्त्रियों द्वारा सम्मान की दृष्टि से देखा गया है। इस ग्रन्थ में कवि रचयिता ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की सभी मान्यताओं को कसौटी पर कसने के पश्चात् अन्तर्निहित किया है। ग्रन्थ में उसके रचयिता ने अपनी किसी मौलिक विचारधारा का संयोजन नहीं किया है। उसके महत्व का मूल कारण उसकी स्पष्ट एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या कही जा सकती है। रस , का स्वरूप, संख्या, उसके विविध अंगरूपों उसकी अलौकिकता आदि रस सम्बन्धी विविध विषयों का उसमें संग्रह किया गया है। जिसका आधार आचार्य अभिनवगुप्त की रस-व्याख्या सिद्ध होती है। काव्यप्रकाश के विविध उल्लासों में रस सम्बन्धी विचारों की प्राप्ति होती है, किन्तु मुख्य रूप से उसका चतुर्थ उल्लास रस विवेचन के लिए ही आरक्षित किया गया है। रस की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि लोक में रति आदि स्थायीभाव के कारण, कार्य एवं सहकारी होते हैं। काव्य एवं नाटक में वे विभाव, अनुभाव एवं संचारीभाव के नाम से अभिहित किए जाते हैं। अर्थात् उन्हीं विभावादि के माध्यम से स्थायीभाव 'रस' की संज्ञा प्राप्त कर लेता है।[3]

1- यथा मधुरतिक्तादि रसाः युक्तयोजिताः ।
   विचित्रास्वादतां यान्ति शृंगाराद्यास्तथा मिथः ॥— औचित्यविचारचर्चा, 17

2- रस सिद्धान्त, पृ० 47

3- कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
   रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
   विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
   व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥— काव्यप्रकाश, 4/27, 28

आचार्य मम्मट ने दोषों का निरूपण करते समय रस के वैशिष्ट्य का पूर्ण निदर्शन किया है। उनका कथन है कि मुख्य अर्थ का अपकर्ष करने वाले तत्त्व दोष की संज्ञा से अभिहित किए जायेंगे। इसमें मुख्य अर्थ रस को कहते हैं।[1] इसी प्रकार गुणों की परिभाषा का विवेचन करते समय उन्होंने रस को अंगीरूप में स्वीकार किया है।[2]

रुय्यक :—

आचार्य रुय्यक ने रसादि को काव्य का प्राणरूप स्वीकार किया है। उनका कथन है कि रसादि अलंकार रूप नहीं हो सकते, क्योंकि अलंकार उपस्कारक होता है एवं रसादि प्रधान रूप से उपस्कार्य होते हैं। ऐसी स्थिति में रसादि रूप वाच्य का व्यंग्य अर्थ ही काव्य का जीवित सिद्ध होता है। इस मान्यता को वाक्यार्थवेत्ता सहृदय सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।[3] पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से प्रकाशित रत्यादि-चित्त-वृत्ति विशेष रस कहलाता है।[4]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र :—

संस्कृत काव्यशास्त्रीय इतिहास में दोनों आचार्यों द्वारा सम्मिलित प्रयास से लिखा गया ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' पर्याप्त महत्त्व प्राप्त कर चुका है। इसमें रस का विवेचन नाट्य को दृष्टि में रखकर किया गया है। रसों की सुखदुःखात्मकता एवं बहुत से नये रसों एवं संचारी भावों की कल्पना इसकी अपनी पृथक् विशेषता है। इसी प्रकार शान्त रस को नाटक के अनुकूल सिद्ध कर देना भी उसके महत्त्व का प्रतिपादक सिद्ध होता है। रस

1- मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः — काव्यप्रकाश, 7/1

2- ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ — काव्यप्रकाश, 8/66

3- रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः । अलंकाराणामुपस्कारकत्वात् रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्माद् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमिति। एष एव च पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः ॥ —— अलंकारसर्वस्व, पृ० 10

4- विभावानुभावव्यभिचारिभिः प्रकाशितो रत्यादिचित्तवृत्तिविशेषो रस : ॥
—— अलंकारसर्वस्व, पृ० 208

भानुदत्त :—

काव्यशास्त्रीय इतिहास में 'रसमंजरी' एवं 'रसतरंगिणी' नामक काव्य-ग्रन्थों के रचयिता आचार्य भानुदत्त प्रतिष्ठित आचार्यों में परिगणित किए गये हैं। उन्होंने उक्त दोनों ग्रन्थों की रचना का आधार रस को ही बनाया है। अतः रस के सांगोपांग विवेचन में किसी प्रकार का अभाव नहीं रह गया है। शान्त रस को नाटक से अतिरिक्त काव्य में भी प्रतिष्ठित करना उनकी अपनी व्यक्तिगत विशेषता है।[1] रस के भेदोपभेदों का विवेचन करते समय वे नवीनता के परिप्रेक्ष्य में पड़कर युक्तिमत्ता की ओर पहुँच गये हैं, जिससे उन्हें आधुनिक समालोचक डा0 आनन्द प्रकाश दीक्षित की इस उक्ति का शिकार बनना पड़ा है कि भानुदत्त द्वारा कल्पित नवीन रस या उनके भेदों को युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।[2]

विश्वनाथ :—

आचार्य विश्वनाथ द्वारा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में मात्र 'साहित्य-दर्पण' नामक रचना प्रतिपादित की गयी है। रस के पूर्णतया स्पष्ट एवं विस्तृत स्वरूप का विवेचन आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उनका यह विवेचन अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक रूप में सम्पन्न हुआ है। रस की परिभाषा के सम्बन्ध में उनका कथन है कि विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला सहृदयों के हृदय में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायीभाव 'रस' के रूप में परिणत हो जाता है।[3]

रसास्वाद की तात्त्विक प्रक्रिया का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जब सहृदय काव्य या नाटक में अलौकिक विभावादि से अपना संयोजन सम्पन्न करते हैं तो उनका मन सत्त्वप्रधान हो जाता है। उस स्थिति में सहृदय के हृदय में विद्यमान रजोगुण एवं तमोगुण सतोगुण की प्रधानता से अस्तित्वहीन हो जाते हैं। इस प्रकार सतोगुण के प्रकृष्ट उत्कर्ष प्राप्त कर लेने पर अखण्ड प्रकाशमान ज्ञान रूप आनन्द रस कहलाता है। यह

1- नाट्यविन्मे पर निर्विरुवायिभावक शान्तोऽपि नवमो रसो भवति।—रसतरंगिणी, 163

2- रस-सिद्धान्त, स्वरूप-विश्लेषण, पृ0 87

3- विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥—साहित्यदर्पण, 3/1

4- सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥— वही, 3/2

है, उसी प्रकार आत्मचैतन्य की विभावादि से परिपुष्ट रत्यादि को प्रकाशित करता हुआ स्वयं भी प्रकाशित होता है।

आचार्यप्रवर पण्डितराज ने रस के प्रकृष्ट महत्व को सहर्ष स्वीकार करते हुए भी उसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक ध्वनि-भेद में समाविष्ट किया है। अतः उनकी मान्यता के अनुसार रस का स्थान ध्वनि की अपेक्षा गौण हो जाता है। अपने रस-विवेचन में उन्होंने अभिनवगुप्त एवं मम्मट आदि आचार्यों की मान्यताओं को आधार माना है एवं पुनः उन्हीं अपनी नवीनतम मान्यता को मान्य बनाया है। इसके साथ ही साथ उन्होंने वैदिक एवं दार्शनिक आधारों को भी आत्मसात् करने का प्रयास किया है। इस आधार पर उनका विवेचन कुछ दुरूह हो गया है, किन्तु फिर भी विषय का स्पष्टीकरण पुनः उसे सरलता की ओर उन्मुख कर देता है। पण्डितराज के रस विवेचन सम्बन्धी वैशिष्ट्य का विवेचन करते हुए डा0 प्रेमस्वरूप गुप्त ने लिखा है कि पण्डितराज का रस विवेचन आद्योपान्त मौलिक हो उठा है। उन्होंने इस मौलिकता का कहीं भी दावा नहीं किया। अभिनव एवं मम्मट के महत्व को अक्षुण्ण रखते हुए उन्हीं की मान्यताओं को और भी सुदृढ़ भूमि पर लाकर प्रतिष्ठित कर देना, उन्हीं की स्थापनाओं को परम दार्शनिकता प्रदान करना और सब यह इस रूप में कि अपना अहं कहीं उद्वेलित प्रतीत न हो, प्राचीन आचार्यों के प्रति पण्डितराज की श्रद्धा व्यक्त करता है। किन्तु उनका कार्य किसी मौलिक आचार्य से कम नहीं, रस के समस्त इतिहास में दार्शनिक व्याख्याओं की दृष्टि से अभिनव के अनन्तर पण्डितराज जगन्नाथ का नाम ही दृष्टि में पड़ता है।[1]

समालोचना :—

रस के ऐतिहासिक विकास का उपर्युक्त समग्र सिंहावलोकन देखने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि रस को विकसित स्वरूप प्रदान करने में विविध आचार्यों का प्रशंसनीय सहयोग रहा है। आचार्यों की इस सहयोगात्मक स्थिति में निर्दिष्ट करते हुए डा0 आनन्द प्रकाश दीक्षित ने लिखा है कि भरत के परवर्ती काल में रस-निरूपण को विस्तृति और विशदता प्राप्त हुई। इस उपलब्धि में केवल रसवादी विद्वानों का योग नहीं रहा अथवा केवल नाट्य का विचार करने वाले या केवल साहित्यशास्त्रियों की प्रेरणा नहीं मिली, अपितु भरत के पश्चात् काव्य शरीर और आत्मा की कल्पना करने वाले जो अनेकानेक साहित्यिक

1- रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ0 220

सम्प्रदाय उपस्थित हुए अथवा प्राचीन सिद्धान्तों का अनुशीलन करने वाले जो सम्प्रदाय प्रकशित हुए उनसे भी इस विषय में विशेष एवं महत्वपूर्ण सहयोग मिला। रस सिद्धान्त को परोक्ष अथवा अपरोक्ष दोनों रूपों में सभी सम्प्रदायों से जो सहायता मिली है उनमें अलंकारवादियों में 'भामह', दण्डी, उद्भट तथा रुय्यक का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। वक्रोक्ति वादी कुन्तक, औचित्यवादी क्षेमेन्द्र तथा ध्वनिवादी आनन्दवर्धन एवं पण्डितराज ने रस - विवेचन की दृष्टि से सुनिश्चित और प्रौढ़ बनाने का प्रशंसनीय कार्य किया है। नाट्यशास्त्रों की रचना करने वाले धनंजय, शारदातनय, शिंगभूपाल तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने पुराने विचारों को सुस्पष्टताऔर सुनियोजन के साथ व्यक्त करने का प्रयत्न करने के साथ-साथ नवीन विचार सम्पत्ति से रसशास्त्र को समृद्ध बनाया है। काव्य शास्त्र को ही उपजीव्य बनाकर शास्त्र लिखने वाले भोज और भानुदत्त आदि ने नयी स्थापनाओं से नवीन दृष्टिदान किया है। रससूत्र की व्याख्या करने वाले लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त एवं पण्डितराज ने अथवा ध्वनि के विरोधी महिम भट्ट प्रभृति ने भारतीय दर्शनों की मिट्टी लगाकर उस पौधे को पुष्ट होने और विराट् होकर सब पर छा जाने का सामर्थ्य प्रदान किया है और लोकभूमि का सहारा लेकर भी अलौकिक ब्रह्मानन्द की समानता में उपस्थित होने वाले रस को महनीय और काम्य बना दिया है। इसी प्रकार भगवद्भक्ति के रस में डूबे हुए सरस-हृदय गोस्वामी वर्ग ने प्रेम और माधुर्य के साथ भक्ति के हृदयावेग का पुट देकर रस को सर्वथा एक नवीन पटभूमि प्रदान कर दी है, जिससे रसों की संख्या में विशेष वृद्धि होने का अवसर मिला है। अतएव ही इस कार्य के लिए श्री जीवगोस्वामी रूप गोस्वामी, तथा मधुसूदन सरस्वती का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। इतना ही नहीं, संगीतकला ने भी रस-सिद्धान्त को अपनाकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ायी है और इसीलिए 'संगीतसुधाकर' के रचयिता शारंगदेव का नाम भी रस-विवेचन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ गया है। यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि 'अग्निपुराण' तथा 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' जैसे पुराणों ने भी रुचि से रस-विवेचन को अपना विषय बनाया है। इस सम्बन्ध में नवीन दृष्टि के लिए भोज के साथ 'अग्निपुराण' का नाम तो कभी नहीं भुलाया जायेगा। इसके अतिरिक्त इस दिशा में विश्वनाथ कविराज का योग तो इसलिए महत्वपूर्ण है ही कि उन्होंने रसात्मक वाक्य को काव्य की संज्ञा दी, साथ ही आचार्य मम्मट का महत्व भी इसलिए स्वीकार किया जाता है कि उन्होंने काव्य के सभी उपकरणों का बहुत ही सन्तुलित और सरल किन्तु मननीय विवेचन किया और रस के विभिन्न पक्षों पर अति संक्षेप में वर्णन करते हुए भी स्पष्ट तथा समुचित वर्णन किया। इन समस्त लेखकों के अतिरिक्त एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे लेखकों की है

जिन्होंने सरल रूप में रस सिद्धान्त को समझाने के लिए स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की अथवा काव्यांगों का वर्णन करते हुए रस का भी वर्णन किया है। रस-साहित्यशास्त्र का यह विकास एक दूसरी दिशा में भी हुआ और वह दिशा है — नायिका भेद-निरूपण। शृंगार रस की प्रधानता का प्रतिपादन करते हुए अथवा नाट्यशास्त्र की रचना करते हुए कुछ विवेचकों ने नायिका भेद का सविस्तार वर्णन भी किया है और उसके स्वतंत्र ग्रन्थ भी रचे गये हैं। भानुदत्त ने जिस प्रकार रसों की संख्या तथा नवीन रसों की उद्भावना के स सम्बन्ध में नवीन दृष्टि का परिचय दिया है, उसी प्रकार उन्होंने 'रसमंजरी' लिखकर नायिका भेद के क्षेत्र में भी पर्याप्त उल्लेखनीय नवीनता को स्थान दिया है। इस प्रकार रस-सिद्धान्त का व्यापक विस्तार दिखायी देता है जो विवेचकों की संख्या की दृष्टि से तो व्यापक कहा ही जा सकता है, साथ ही वाल्मीकि और भरतमुनि जैसे कवि तथा आचार्यों से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक एक दीर्घकाल तक चली आने वाली निरन्तर विकासमान और प्रबल धारा के रूप में दिखायी देता है।[1]

(3) रस की परिभाषा एवं उसका स्वरूप

रस की परिभाषा के रूप में सर्वप्रथम आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में रस-सूत्र को लिपिबद्ध किया है। उसके अनुसार विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।[1] यह रस-सूत्र सम्पूर्ण रस-विवेचन का आधार सिद्ध हुआ है। आचार्य भरत के उत्तरवर्ती आचार्यों ने रस के संबंध में जिन विचारों का प्रतिपादन कि ए है, वे सर्वथा इस रस-सूत्र पर ही आधारित हैं। रस-सूत्र के स्पष्टीकरण में आचार्य भरत का कथन है कि जिस प्रकार विविध प्रकार के व्यंजनों तथा औषधि आदि के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इसी प्रकार जैसे गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों एवं औषधि आदि विविध पदार्थों के समन्वयात्मक रूप से षाडव आदि रसों की उत्पत्ति सम्भव होती है, वैसे ही अनेक भावों के उपगत होने पर स्थायीभाव द्वारा रसत्व की स्थिति प्राप्त कर लेना सम्भव होता है। जिन पदार्थ को रस की संज्ञा से अभिहित किया जाता है? आस्वादन के आधार पर। रस का आस्वादन किस प्रकार किया जाता है? जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों से सुसंस्कृत अन्न को खाकर रसास्वादन करते हुए सुमनस व्यक्ति हर्ष को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों तथा अभिनयों द्वारा व्यक्त किए गये वाचिक आंगिक तथा सात्विक अभि-

---

1- विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः ।।- नाट्यशास्त्र,

नयों से युक्त स्थायीभाव का सहृदय प्रेक्षक रस का आस्वाद करते हुए आनन्द प्राप्त करते हैं।[1]

इस प्रकार आचार्य भरत की रस-परिभाषा के अनुसार यह निश्चित होता है कि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से संयुक्त एवं वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से व्यंजित होकर स्थायीभाव रस के स्वरूप को आविर्भूत करता है। इस तथ्य का और गहराई से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि रस एक प्रकार की भावमूलक कला-त्मक स्थिति है जो कवि द्वारा उपस्थापित विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के आधा-र पर नाट्यसामग्री द्वारा रंगमंच पर उपस्थित हो जाती है। उदाहरणार्थ तपोवन के वृक्षों से सुसज्जित रंगमंच पर दुष्यन्त और शकुन्तला का अभिनय करने वाले नट तथा नटी जब वाचिक, आंगिक एवं सात्विक अभिनयों के द्वारा अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव आदि की अभिव्यक्ति करते हुए रतिस्थायी भाव के उत्कृष्ट स्वरूप को उपस्थित करते हैं तो एक रमणीय, भावमूलक स्थिति का प्रादुर्भाव हो जाता है, जिसके द्वारा सहृदय प्रेक्षक के चित्त में हर्ष आदि भावों की जागृति होती है। यह रमणीय भावमूलक स्थिति ही आचार्य भरतके अनुसार 'रस' सिद्ध होती है।

आचार्य भरत के पश्चात् रस की परिभाषा का उत्कृष्ट रूप अभिनवगुप्त पादाचार्य द्वारा विरचित अभिनवभारती में प्राप्त होता है किन्तु दार्शनिक आधारभूमि पर आधृत होने के कारण यह सर्वसामान्य द्वारा ग्राह्य नहीं है।[2] उनके पश्चात् भरत एवं

1- यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरौष-धिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नाना-भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।
अत्राह — रस इति कः पदार्थः। उच्यते आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः। यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षा-दींश्चाधिगच्छन्ति।

— नाट्यशास्त्र, 6/32, 33 तथा वृत्ति

2- अभिनवभारती, पृ0 427-28 व्याख्याकार — आचार्य विश्वेश्वर

नाम से भी अभिहित किया जाता है। यह वासना रूप संस्कार ही उचित वातावरण प्राप्त करने पर स्थायीभाव का रूप धारण कर लेते हैं। काव्य-शास्त्र में स्थायीभावों का निरूपण-कार्य वैज्ञानिक आधार पर सम्पन्न हुआ है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार सभी प्राणियों में प्रेम आदि की विविध प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। इनका स्वरूप भिन्न - भिन्न रूपों में प्राप्त होता है। आचार्य भरत नेसर्वप्रथम इन विविध प्रवृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्हें आठ प्रकार की बतलाया है।इन प्रवृत्तियों की आधारभूमि पर ही उन्होंने आठ प्रकार के स्थायीभावों की कल्पना की।[1] उन्होंने विभाव, अनुभाव एवं सात्विक भाव आदि विविध भावों की अपेक्षा स्थायीभाव को अत्यधिक महत्व प्रदान करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार समान शारीरिक अवयवों से युक्त हुए व्यक्ति कुल,शील, विद्या,कर्म, तथा शिल्प आदि गुणों के कारण राजा का पद प्राप्त कर लेते हैं तथा अन्य व्यक्तियों का विस्तृत वर्ग उनकी सेवा करता है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव प्रभावित होकर स्थायीभाव की सेवा में संलग्न रहते हैं।[2] इसी भावना को दूसरे रूप में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार मनुष्यों में राजा एवं शिष्यों में गुरु का वैशिष्ट्य निश्चित होता है, उसी प्रकार विभाव, अनुभावादि सभी भावों में स्थायीभाव का वैशिष्ट्य प्रतीत होता है।[3] दशरूपककार आचार्य धनंजय के अनुसार जिस प्रकार समुद्र में प्रक्षिप्त किया हुआ कोई भी पदार्थ लवणत्व नमक के रूप में स्थित हो जाता है उस पदार्थ का समुद्र में कोई भी प्रभाव परिलक्षित नहीं होता, उसी प्रकार विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भावों से अप्रभावित होता हुआ स्थायीभाव उन्हें अपने अनुरूप स्थित कर लेता है।[4]

1- रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥ —नाट्यशास्त्र, 6/17

2- यथा हि समानलक्षणास्तुल्यपाणिपादोदरशरीराः समानाङ्गप्रत्यङ्गा अपि पुरुषाः कुलशील विद्याकर्मशिल्पविचक्षणत्वाद्राजत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेषामेवानुचरा भवन्ति तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्ति। नाट्यशास्त्र, 4।4

3- यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह॥—नाट्यशास्त्र, 7/8

4- विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥ —दशरूपक, 4/34

स्वेद परिश्रम से भी आ सकता है, धुएं में आंखें लगने से भी ऐसा हो सकता है और शोक या हर्ष में भी आंसू आते हैं। इसी प्रकार धूप में खड़े रहने से भी स्वेद आ सकता है। भय और शारीरिक अस्वस्थता के कारण भी। अतः पूरी परिस्थिति का ज्ञान और सहृदय के भावों से उसका सम्बन्ध हुए बिना अनुभावों को रस नहीं कहा जा सकता।[1]

कुछ अन्य आचार्यों के अनुसार व्यभिचारीभावों को रस माना जा सकता है। उनका कथन है कि व्यभिचारी भाव विभाव अथवा अनुभाव की भांति बाह्य नहीं है। उनकी स्थिति आन्तर है। अतएव उन्हीं को रस मानना चाहिए। पात्र के भावों को प्रतीत कर सकने पर ही रस प्रतीति सम्भव होती है। सामान्यतया अनुकर्ता अनेक प्रकार से अपनी कुशलता प्रकट करके दर्शकों का मन रमाने की चेष्टा कर सकता है, किन्तु यदि वह उन भावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो पाता तो रस-प्रतीति की सम्भावना नहीं की जा सकती है। दर्शक उन भावों को देखकर तथा उन पर गहराई से विचार करता हुआ, आनन्द की प्राप्ति में निमग्न हो जाता है। अतः व्यभिचारी भाव ही रस हैं, किन्तु डा० [illegible]हित के अनुसार व्यभिचारी भावों को रस मानने की धारणा सर्वथा अनुपयुक्त है। स्वरूप के विचार से व्यभिचारीभाव अस्थायी माने गये हैं। यदि उन्हें रस मान लिया जायेगा तो रस को भी अस्थिर मानना होगा, जो प्रामाणिक नहीं है। दूसरे, वह एक दूसरे से बाधित होते रहते हैं, किन्तु रस को आचार्यों ने अबाधित-प्रतीति माना है। इस दृष्टि से भी व्यभिचारीभावों को रस नहीं माना जा सकता। तीसरे, बिना किसी आलम्बन आदि के केवल व्यभिचारी की व्यंजना होना सम्भव नहीं है। वर्णित न होते हुए भी उसका संकेत अवश्य मिल जाता है। अतः एक मात्र व्यभिचारीभावों केवल को रस मानना अनुचित है।[2]

भरत आदि आचार्यों ने विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के साथ स्थायी भाव के सम्मिलन को रस माना है। उनकी मान्यता के अनुसार पृथक् रूप में उक्त भावों में कोई भी भाव रस की संज्ञा प्राप्त करने में असमर्थ सिद्ध होगा। उनका कथन है कि जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों, औषधियों एवं द्रव्य आदि के संयोग से रस का आविर्भाव होता है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी रूप विविध भावों का सान्निध्य प्राप्त कर स्थायीभाव रस को अभिव्यक्त करते हैं।[3] इसके विपरीत कुछ आचार्यों ने विभाव, अनुभाव

1- रस-सिद्धान्त, स्वरूप-विश्लेषण, पृ० 51-52
2- वही, पृ० 52
3- यथा नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। — नाट्यशास्त्र, पृ० 71

एवं व्यभिचारीभावों के सम्मिलित स्वरूप को रस की संज्ञा प्रदान करने का प्रयास किया है, जो सर्वथानुपयुक्त प्रतीत होता है। यह प्रयास निराधार रूप से प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि रस की अभिव्यक्ति का मूलाधार सामाजिक या सहृदय सिद्ध होता है। उसके अन्तःकरण में ही रस का आविर्भाव विद्यमान रहता है, जो वासना या चित्तवृत्ति के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। वासना की जागृत स्थिति रस के रूप में परिवर्तित हो जाती है। सामाजिक के अन्तःकरण में स्थायी रूप से स्थित रहने के कारण वासना स्थायिभाव की संज्ञा प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार विभावादि का साहचर्य प्राप्त करने पर स्थायीभाव ही रस की संज्ञा प्राप्त करने में समर्थ होता है। उसके अभाव में विभावादि का सम्मिलित रूप रसानुभूति की स्थिति प्राप्त कर सकने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता।

रस के आविर्भाव में विभावादि एवं स्थायीभावों की स्थिति का विवेचन करते हुए प्रो० रामवीर सहाय 'हीरा' ने लिखा है कि रस की अभिव्यक्ति विभाव, अनुभाव और संचारीभावों के द्वारा व्यक्त स्थायीभाव से होती है। व्यक्त का अभिप्राय दूसरे रूप में परिवर्तन होने से है। सामाजिक या सहृदयों के अन्तःकरण में रति आदि स्थायीभाव या मनोविकार वासना रूप से पहले से ही विद्यमान रहते हैं, जब उनके साथ विभाव, अनुभाव एवं संचारीभावों का संयोग होता है, तब वे रूपान्तरित होकर रस के रूप में प्रकट होते हैं। जिस प्रकार मिट्टी के नवीन घट में विद्यमान गंध की पूर्वस्थिति का पता नहीं चलता किन्तु ज्यों ही उस पर जल के छींटे पड़ते हैं उसकी गंध प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार सहृदयों के हृदय में पूर्वानुभूत, रति शोक, क्रोध, आदि मनोविकार अव्यक्तावस्था में रहते हैं, किन्तु काव्य के पढ़ने अथवा नाटक या सिनेमा के देखने से उनके मन का भाव जग जाता है और उन्हें आनन्दानुभूति होने लगती है। इस प्रकार रस का मूल स्थायीभाव है जो अन्य भावों के संयोग से रस रूप में व्यक्त होता है। विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों को लौकिक व्यवहार में कारण, कार्य और सहकारी कारण कहा जाता है। विभाव जो रति आदि चित्तवृत्तियों के उत्पादक हैं, उन्हें रस का कारण कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है- प्रथम वह है, जिससे ये चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं जिसे आलम्बन कहते हैं, एवं दूसरे की अभिधा उद्दीपन है जिससे रति आदि भाव उद्दीपन या तीव्र होते हैं। रति आदि भावों के उत्पन्न होने पश्चात् बाह्यरूप आंगिक चेष्टाओं के रूप में व्यक्त होता है, जिन्हें अनुभाव कहते हैं। इन्हें रस का कार्य कहा जाता है। इसके अतिरिक्त रति आदि मनोविकारों को सहायता देने वाली अन्य चित्तवृत्तियाँ भी होती हैं, जो क्षणिक होती हैं। इन्हें संचारीभाव कहा जाता है। ये अल्पकाल के लिए उत्पन्न होकर स्थायीभावों को पुष्टि देती हैं, उनको बढ़ाने

में सहायक होती है। संचरण का भाव ही इनकी विशेषता है। इन्हें रस का सहकारी कारण माना जाता है।[1]

(4) रस-निष्पत्ति-विषयक भरत-सूत्र की व्याख्या

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के रूप में रस-निष्पत्ति-विषयक सूत्र को लिपिबद्ध किया है। इसका संक्षिप्त अर्थ यह है कि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में आगत संयोग तथा 'निष्पत्ति' शब्द भ्रामक सिद्ध हुए हैं। अतः विभिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी मनोभावनाओं के अनुसार इनका विवेचन किया है। इनका विवेचन करने वाले आचार्यों में भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त का परिगणन किया गया है। इनका उक्त विवेचनात्मक कार्य सिद्धान्तों के रूप में प्रख्यात हो चुका है, जिन्हें क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद एवं अभिव्यक्तिवाद के नाम से अभिहित किया गया है।

भट्टलोल्लट :—

भरत सूत्र का विवेचन करने वाले प्रथम आचार्य भट्टलोल्लट हैं। उनका पर्यन्तकाल नवीं शताब्दी का पूर्व भाग माना जाता है। उनका स्वरचित ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सका। उनके रस-सम्बन्धी विचारों की प्राप्ति, अभिनवभारती, ध्वन्यालोक-लोचन एवं काव्यप्रकाश नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से होती है।

(1) रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में अभिनवभारती के अनुसार आचार्य लोल्लट का कथन है कि विभावादि के साथ स्थायीभाव का जो संयोग होता है, उससे रस की निष्पत्ति होती है। उनमें से विभाव स्थायीभाव रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण होते हैं। पर अनुभाव रसजन्य नहीं माने जा सकते, क्योंकि उनकी गणना रस के कारणों में नहीं मानकर भावों में ही की जाती है। व्यभिचारीभाव चित्तवृत्ति स्वरूप होने के कारण यद्यपि रूप भी सब स्थायीभाव के साथ अनुकूल नहीं हो सकते, किन्तु यहाँ उनके वासनारूप में अभिप्रेत हैं। दृष्टान्त में व्यंजन आदि में से कुछ स्थायीभाव की तरह वासनात्मक और कुछ व्यभिचारी भावों की तरह उद्बुद्ध होते हैं। इस प्रकार विभाव तथा अनुभावादि से उपचित होकर

1— भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त, पृ0 251-252

स्वरूप के अनुसन्धान से नट में भी प्रतीत होने वाला वह स्थायीभाव रस के रूप में परिणत हो जाता है।[1]

उपर्युक्त व्याख्याओं के आधार पर आचार्य लोल्लट की रस-निष्पत्ति विषयक मान्यता का स्वरूप इस रूप में प्राप्त होता है कि विभावों का स्थायीभावों के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव सम्बन्ध है, अनुभावों का अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध है तथा व्यभि-चारी भावों का पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव एवं संचारीभावों द्वारा परिपुष्ट स्थायीभाव ही 'रस' है। रस एवं भाव दोनों ही मुख्य रूप से अनुकार्य अर्थात् राम या दुष्यन्त आदि मूल पात्रों में रहते हैं, किन्तु अनुसन्धान के आधार पर अनु-कर्ता या नट को भी रसानुभूति होती है। जब कोई नट या अभिनेता राम या दुष्यन्त आदि मूल पात्रों का स्वरूप धारण करके उनका अभिनय करता है तो उस समय दर्शक या सामाजिक उसमें ममत्व का आरोप करके अभिनेता को ही राम या दुष्यन्त आदि समझ लेते हैं। इस प्रकार राम या दुष्यन्त आदि में अवस्थित रत्यादि स्थायीभाव सामाजिक को नट या अभिनेता में प्रतीत होकर उसे चमत्कृत करते हैं और सामाजिक का यही चमत्कृत रूप 'रस' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। अतः जिस प्रकार सीपी में रजत का अभाव होने पर भी उसके चाकचिक्य की समता के आधार पर द्रष्टा को रजत की भ्रान्ति हो जाती है और वह उस भ्रान्ति की आशा से प्रफुल्लित हो जाता है, उसी प्रकार राम या दुष्यन्त आदि मूल पात्रों में रहने वाले रत्यादि भावों के नट या अभिनेता में न रहने पर भी उन-की सामाजिकों को उनमें प्रतीति होती है तथा उस भ्रान्ति के आधार पर ही वे रसानुभूति से आनन्दित होते हैं। विभावादि के द्वारा स्थायीभावों की उत्पत्ति मानी गयी है। अतः विभावों का स्थायीभाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। कटाक्ष आदि अनु-भावों के द्वारा उत्पन्न भावों को अनुमान माना गया है। अतः अनुभाव तथा स्थायीभाव के मध्य अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। ठीक इसी प्रकार स्थायीभावों को व्यभिचारी भावों द्वारा परिपुष्ट होने के कारण आधार पर उनके मध्य पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध है।

1- विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो, मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि रस इति भट्टलोल्लट प्रभृतयः ॥— काव्यप्रकाश, पृ० ८७

लोल्लट का उत्पत्तिवाद दो कारणों से उचित नहीं कहा गया है। प्रथम, न्यायसिद्धान्त के कार्यकारणवाद के अनुसार कारण को कार्य का नियतपूर्ववर्ती माना जाता है, किन्तु रस को विद्वानों ने आत्मस्वरूप घोषित करके उसमें उसके विभावादि के पौर्वापर्य सम्बन्ध को अस्वीकार कर दिया है। दूसरे, रस को 'विभावादि जीवितावधि' कहकर यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि विभावादि कारणों के नष्ट होने के साथ ही रस की सत्ता भी समाप्त हो जाती है। इसके विपरीत व्यावहारिक जगत् में देखा जाता है कि निमित्त कारण का नाश कार्य को प्रभावित नहीं करता। उदाहरणतः मिट्टी से घट का निर्माण एक कार्य विशेष है। इस कार्य का निमित्त कारण है — कुम्भकार। घट बनाने के अनन्तर यदि कुम्भकार मर जाय तो कार्य रूप घट पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः लोल्लट के उत्पत्तिवाद की, नैयायिक दृष्टि से तार्किकता नहीं सिद्ध होती।

दूसरे समानाधिकरण सिद्धान्त के अनुसार जिसमें कार्य उत्पन्न होता है, उसी में कारण विद्यमान होना चाहिए, किन्तु भट्टलोल्लट अनुकार्य में रस मानते हुए भी आस्वाद का अधिकारी प्रेक्षक को स्वीकार करते हैं। प्रेक्षक और अनुकार्य सर्वथा पृथक् हैं। ऐसी दशा में कारण को अनुकार्यगत तथा कार्य को प्रेक्षकगत मानने से समानाधिकरण की सिद्धि नहीं होती। इस सम्बन्ध में रज्जु तथा सर्प का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यह कहना उचित न होगा कि जिस प्रकार उक्त उदाहरण में कारण रूप रज्जु तथा कार्य रूप भय दोनों एक स्थानवर्ती नहीं है, उसी प्रकार रसवाद में भी कारण तथा कार्य का एकस्थानवर्ती नहीं होना बाधक नहीं है क्योंकि रज्जु तथा सर्प के उदाहरण में मनुष्य का अपना मिथ्याज्ञान ही कारण स्वरूप है और उसी में व्यवस्थित है, जिसमें भय रूपी कार्य है। मिथ्याज्ञान ही भय का कारण है, रज्जु अथवा सर्प नहीं। रस के सम्बन्ध में इस प्रकार का उदाहरण होना उचित न होगा, क्योंकि भयानक दृश्य को देखकर प्रेक्षक लौकिक दुःखात्मक भय की अनुभूति नहीं होती, अपितु आनन्द ही आता है।[1]

आचार्य लोल्लट एवं स्थायीभाव की उपचितावस्था को रस मानने पर उत्कर्षापकर्षत्व से अभिप्रेत का कथन है कि स्थायीभाव की उपचितावस्था को रस और अनुपचितावस्था को भाव मानने पर उसकी मन्द, मन्दतर, मन्दतम तथा मध्यमादि स्थितियों की कल्पना करनी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त यदि उपचित स्थायीभाव के रस होने की मान्यता

1- रस सिद्धान्त, स्वरूप-विश्लेषण — पृ० 57-58

का मूल सौन्दर्य उसकी कथावस्तु या मूल विषय में ही निहित है।

(ग) उन्होंने रस की व्यक्तिपरक व्याख्या का सूत्रपात कर व्यक्ति की सत्ता को महत्व दिया।

(घ) अभिनेता अथवा नट में रसानुभूति का अनुसंधान कर नाट्यकला में नया मोड़ उपस्थित किया।

आचार्य लोल्लट की रससूत्र की व्याख्या के वैशिष्ट्य का विवेचन करते हुए डा0 आनन्द प्रकाश दीक्षित ने अपने 'रस सिद्धान्त' नामक निबन्ध में लिखा है कि लोल्लट के सिद्धान्त की शक्ति वस्तुतः इस बात में दीख पड़ती है कि उन्होंने नट या अभिनेता द्वारा की गयी रसानुभूति की ओर लक्ष्य करके एक नवीन दृष्टि का उन्मेष किया। इस नवीन विचार को उन्होंने 'अनुसंधानवृत्ति' से समझाने का एक कलात्मक प्रयास किया। यदि वे अनुकार्यगत भाव एवं सामाजिकगत रस के अन्तर को भी स्पष्ट कर पाते तो निश्चय ही उनके द्वारा कलात्मक स्थिति का पूर्ण रूप अंकित हो गया होता।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रथम व्याख्याता होने के कारण आचार्य लोल्लट को विविध समालोचकों की विविध समालोचनाओं का विषय अवश्य बनना पड़ा है, किन्तु प्रारम्भिक स्थिति के आधार पर उनका रस-सूत्र सम्बन्धी विवेचन-कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। उनकी व्याख्या की आधारभूमि पर ही उत्तरवर्ती आचार्यों का उचित विवेचन सिद्ध हो सका है। विविध भावों से उपचित होकर स्थायीभाव ही रस के रूप में उत्पन्न होता है —— लोल्लट की इस मान्यता को मान्य आचार्यों ने सहर्ष स्वीकार किया है। इसमें उत्पत्ति के स्थान पर अभिव्यक्ति रूप सामान्य परिवर्तन प्राप्त होता है। उनकी व्याख्या में आलोचना का विषय सामाजिक के साथ रस के सम्बन्ध का अभाव एवं मूल ऐतिहासिक पात्रों को अनुकार्य की मान्यता देना है। इसीलिए यह व्याख्या विशेष लोकप्रिय न हो सकी।

दार्शनिक स्वरूप :——

काव्यशास्त्रीय इतिहास में आचार्य लोल्लट मीमांसक के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं प्राप्त हो सका है, किन्तु किंचित् मान्य साक्ष्यों के आधार पर यह परम्परा चल पड़ी है। काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य वामन

1- मानक भारतीय काव्यशास्त्र, पृ0 229 सम्पादक डा0 जयभानु सिंह

झलकीकर ने सर्वप्रथम उन्हें भट्टमतोपजीवी मीमांसक कहा है।[1] इसी आधार पर आगे चलकर डा० पी०वी०काणे ने अभिनवभारती के एक उद्धरण को आधार मानकर उन्हें पूर्व-मीमांसक सिद्ध किया है।[2] काव्यप्रकाश के आधुनिक प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर का कथन है कि इस व्याख्या को टीकाकारों ने मीमांसा-सिद्धान्त के अनुसार की गयी व्याख्या बतलाया है। 'मीमांसा' से यहाँ 'उत्तरमीमांसा' अर्थात् वेदान्त का ग्रहण करना चाहिए। वेदान्त में जगत् की आध्यासिक प्रतीति मानी गयी है। जैसे रज्जु में सर्प की आध्यासिक या आरोपित प्रतीति के समय सर्प के विद्यमान न होने पर भी सर्प की प्रतीति और उससे भयादि कार्यों की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार अभिनयादि के समय रामादिगत सीता-विषयिणी अनुरागादि रूप रति आदि के विद्यमान न होने पर भी, नट में विद्यमान रूप से उसकी प्रतीति और उसके द्वारा सहृदयों में चमत्कारानुभूति आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसी सादृश्य के कारण इस सिद्धान्त को 'मीमांसा' अर्थात् 'उत्तरमीमांसा' या 'वेदान्त' का अनुयायी सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस व्याख्या के करने वाले भट्टलोल्लट मीमांसक पण्डित थे।[3] डा० कान्ति चन्द्र पाण्डेय के अनुसार शैवाचार्य वसुगुप्त द्वारा विरचित 'स्पन्द-कारिका' पर आचार्य भट्टलोल्लट ने वृत्ति लिखी है। इसके अतिरिक्त भट्टलोल्लट का उद्देश्य प्रेक्षक की दृष्टि से रसास्वाद का विचार करना नहीं था। उन्होंने तो ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त के अनुसार 'अनुसंधान' शब्द को प्रयुक्त किया था। उसका अर्थ था योजना। इसप्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर आचार्य लोल्लट शैव दर्शन से प्रभावित सिद्ध होते हैं।[4] डा० सारचन्द्र शास्त्री ने स्थायीभाव की 'उत्पत्ति' के आधार पर लोल्लट के रस विवेचन को आरम्भवाद से सम्बन्धित बताया है।[5]

आचार्य लोल्लट के रससूत्र की व्याख्या का दार्शनिक स्वरूप निर्धारित करने वाले उपर्युक्त आचार्यों की मीमांसा सम्बन्धी मान्यता का खण्डन करते हुए डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने लिखा है कि विद्वानों ने भट्टलोल्लट को मीमांसक के रूप में देखा है, किन्तु स्पष्ट रूप से यह बताने की चेष्टा नहीं की कि मीमांसा दर्शन के आधार पर उनके

1- काव्यप्रकाश, पृ० 225 व्याख्याकार- आचार्य वामन झलकीकर।

2- History of Sanskrit Poetics - Page-49

3- काव्यप्रकाश, पृ० 101-2 व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि।

4- History of Indian Aesthetics - Page-28

5- रस-सिद्धान्त का दार्शनिक तथा नैतिक विवेचन, पृ० 37

मत का स्वरूप कैसा होना चाहिए। मीमांसा वेदवादी दर्शन है और वेद की प्रामाणिकता के लिए वेदातिरिक्त वह किसी बाह्य प्रमाण की खोज में विश्वास नहीं रखता। अतएव इसे स्वतः प्रामाण्यवाद भी कहा जा सकता है। मीमांसकों का एक वर्ग अख्यातिवाद का पोषक है। उसका मत है कि किसी वस्तु के ज्ञान का प्रमाण वह वस्तु स्वयं है तथा किसी काल-विशेष में होने वाला किसी वस्तु का बोध उस काल में उस वस्तु का सत्य ज्ञान ही है। भले ही अन्य किसी समय हमें प्रतीत हो कि अमुक वस्तु वह नहीं है जो हमने समझी थी। किंतु जिस समय उस वस्तु के सम्बन्ध में हमें जो बोध हो रहा है उस समय किसी विरोध का ज्ञान न होने के कारण वह ज्ञान ही हमारे लिए सत्य है। उदाहरणतः रस्सी को पड़ी देख-कर उसे सर्प समझने की दशा में दो प्रकार का ज्ञान काम करता है। एक है प्रत्यक्ष ज्ञान, जिसके कारण हम सामने पड़ी हुई किसी लम्बी टेढ़ी वस्तु को देख रहे हैं। दूसरा है, तत्सदृश सर्प का पूर्वानुभूत स्मृति-ज्ञान। फलस्वरूप उस समय एक सम्मिलित ज्ञान होता है और यह विवेक नहीं रहता कि ये दो पृथक् वस्तुएँ हैं अथवा दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध है। हम एक वस्तु को तत्सदृश कोई अन्य वस्तु समझकर उस पहली वस्तु पर दूसरी वस्तु [illegible] का आरोप कर लेते हैं और उसी का व्यवहार करने लगते हैं, जैसा हमें दूसरी वस्तु के प्रति करना चाहिए। इस अवस्था के लिए, दार्शनिक शब्दावली में 'संसर्ग - ग्रह' की आवश्यकता नहीं केवल 'असंसर्गग्रह' ही पर्याप्त है। असंसर्गग्रह अर्थात् भिन्न तत्व के बोध न होने के कारण बोध के लिए तत्कालीन ज्ञान सत्य ही है। मीमांसक की दृष्टि में भ्रम की कहीं सत्ता ही नहीं है। यही कारण है कि भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में इसकी चर्चा भी नहीं आयी।[1]

इसी प्रकार डा० नगेन्द्र ने लेख तथा [illegible] सम्बन्धी मान्यताओं को निराधार सिद्ध करते हुए बताया है कि उपलब्ध सामग्री के आधार पर लोल्लट के रस-विवेचन की दार्शनिक भूमिका का निर्णय सम्भव नहीं है।[2] इसी निष्कर्ष पर डा० प्रेमस्वरूप गुप्त भी विद्यमान प्रतीत होते हैं।[3]

1- रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ० 62

2- रस-सिद्धान्त, पृ० 149-50

3- रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० 126

<u>श्री शंकुक :—</u>

आचार्य शंकुक भरतसूत्र के द्वितीय व्याख्याता हैं। उनका रस-सिद्धान्त 'अनुमितिवाद' के नाम से विख्यात है। आचार्य लोल्लट की भाँति ग्रन्थ के अभाव में उनके विचारों की प्राप्ति, अभिनवभारती, ध्वन्यालोकलोचन एवं काव्यप्रकाश में होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार रस की उत्पत्ति न होकर उसका अनुमान किया जाता है। इसमें निष्पत्ति शब्द का अर्थ अनुमिति एवं संयोग शब्द से अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध निश्चित होता है। आचार्य शंकुक ने सामाजिक के साथ रस का सम्बन्ध प्रतीत करते हुए उसी में उसकी स्थिति को निश्चित किया है। सामाजिक नट को ही दुष्यन्त आदि मानकर उनकी अभिन्नता का अनुभव कर लेता है। सामाजिक का यही अनुमान से प्रादुर्भूत होने वाला ज्ञान रसानुभूति का कारण सिद्ध होता है।

(1) अभिनवभारती के अनुसार रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य श्री शंकुक का कथन है कि विभाव रूप कारण, अनुभाव रूप कार्य तथा सहचारी रूप व्यभिचारीभावों से प्रयत्न पूर्वक अर्जित होने के कारण कृत्रिम होने पर भी वैसा न प्रतीत होने वाले कारण, कार्य तथा सहचारी रूप विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों के द्वारा अनुकर्ता अर्थात् नट में स्थित होने के कारण अनुमान के बल से प्रतीत होने वाला मुख्य रूप से रामादि अनुकार्यों में रहने वाले रत्यादि स्थायीभावों का अनुकरण रूप रस होता है। विभावों का काव्य के द्वारा, अनुभावों का शिक्षा के द्वारा तथा व्यभिचारीभावों का अपने कृत्रिम अनुभावों के द्वारा प्रस्तुतीकरण होता है। स्थायीभाव की उपस्थिति काव्य द्वारा भी असम्भव सिद्ध हो जाती है। रति तथा शोक आदि शब्द अभिधा शक्ति द्वारा रत्यादि भावों को बोधित करते हैं। वाचिक अभिनय के रूप में उन्हें बोधित नहीं करते हैं। जिस प्रकार अंगों द्वारा प्रस्तुत किया गया अभिनय अंग न होकर आंगिक कहलाता है, उसी प्रकार वाणी द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला अभिनय वाणी न होकर वाचिक कहलाता है।[1]

1- तस्मात् हेतुभिर्विभावाख्यैः, कार्यैरनुभावात्मभिः, सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः, अनुकर्तृस्थत्वेन लिंगबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादि-गतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः। विभावा हि काव्यबला-दनुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः। 'रतिः शोकः' इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन, न तु वाचिका-भिनयरूपतयाऽवगमयन्ति। नहि वाचैव वाचिकम्। अपि तु तया निवृत्तम्। इत्येवमादि।

— अभिनवभारती, पृ० 272

वहाँ न तो नट के सुखी होने की प्रतीति होती है और न यह राम ही है इस प्रकार की ही प्रतीति होती है, उसके सुखी न होने की भी प्रतीति नहीं होती तथा यह राम है अथवा नहीं, इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति भी नहीं होती, अपितु सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य रूप समस्त प्रतीतियों से विलक्षण चित्रतुरगन्याय से जो सुखी राम है, वह यह है, इस प्रकार की प्रतीति होती है।[1]

(2) ध्वन्यालोक-लोचन में आचार्य अभिनवगुप्त ने शंकुक की रस विषयक मान्यता को अस्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार रससूत्र की व्याख्या में आचार्य श्री शंकुक का कथन है कि जिस प्रकार दीवाल पर हरिताल इत्यादि के द्वारा अश्व का चित्र निर्मित कर दिया जाता है और उस चित्र में अश्व की पूर्ण प्रतीति होने लगती है, उसी प्रकार अभिनय इत्यादि सामग्री के साहाय्य से अनुकरण करने वाले अभिनेता में स्थायीभाव की अनुभूति होने लगती है। यह एक ऐसी प्रतीति होती है, जिसकी तुलना लोक में होने वाली किसी भी प्रतीति से नहीं की जा सकती। इस प्रकार इस प्रतीति में एक प्रकार का आस्वाद प्रकट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वह आस्वादन रस कहलाता है। यह रसन या आस्वादन नाट्य में होता है। अतः इसे नाट्यरस कहते हैं।[2]

(3) काव्यप्रकाश में प्राप्त होने वाले श्रीशंकुक के रस सम्बन्धी विचारों के अनुसार काव्यों के अनुशीलन से तथा शिक्षा के अभ्यास से सिद्ध किए हुए अपने अनुभाव आदि कार्यों से नट द्वारा ही प्रकाशित किए जाने वाले कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न समझे जाने वाले, ~~नट द्वारा ही प्रकाशित किए जाने वाले, कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न समझे जाने~~ वाले विभावादि शब्द से अभिहित किए जाने वाले, कारण, कार्य तथा सहकारियों के साथ 'संयोग' अर्थात् गम्यगमकभाव रूप सम्बन्ध से, अनुमीयमान होने पर भी वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी रूप से सम्भाव्यमान रत्यादि भाव वहाँ न रहते हुए भी सामाजिक के संस्कारों से आस्वाद किया

1- न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति। न चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्याद् वा न वायमिति। नापि तत्सदृश इति। किन्तु सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन, यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति।

—— अभिनवभारती, पृ० 273

2- अन्ये तु अनुकर्तरि यः स्थायिभावोऽभिनयादि-सामग्र्यादि-कृतो भित्तावेव हरितालादि-ना अश्ववत्, स एव लोकातीततया आस्वादापरसंज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्यात् रसा नाट्यरसाः॥—ध्वन्यालोक लोचन, पृ० 196 व्या० आचार्य जगन्नाथ पाठक।

होने पर ही की जा सकती थी। अतः जिस प्रकार चित्र में अश्व को देखकर चित्र के वस्तुतः अश्व न होने पर भी यह अश्व है इस प्रकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अभिनय में दुष्यन्त के उपस्थित न होने पर भी दुष्यन्त का अभिनय करने वाले अभिनेता में सामाजिक को दुष्यन्त की प्रतीति होती है।

इस प्रकार जिस अभिनेता में विलक्षण प्रतीति के द्वारा सामाजिक को कृत्रिम दुष्यन्त की प्रतीति होती है, उसके विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव भी कृत्रिम ही होंगे, किन्तु शिक्षा और अभ्यास की कुशलता के द्वारा अभिनेता दुष्यन्त के भावों का इस प्रकार प्रस्तुतीकरण करता है कि उसके विभाव, अनुभाव तथाव्यभिचारीभावों की कृत्रिमता भी वास्तविकता में परिवर्तित हो जातीहै। इसी परिस्थिति अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के वास्तविक रूप धारण कर लेने पर सामाजिक अभिनेता में रत्यादि स्थायीभावों का अनुमान कर लेता है। दुष्यन्त का अभिनय करने वाले अभिनेता में सामाजिक की अनुमिति इस प्रकार होगी —— दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयकरतिमान् शकुन्तलाद्यालम्बनविभावादिसम्बन्धित्वात् शकुन्तलाविषयककटाक्षादिमत्वाच्च यो नैवं स नैवं यथाऽहम्। अर्थात् यह दुष्यन्त शकुन्तला विषयक रतिवाला है क्योंकि शकुन्तला रूप विभावादि से युक्त है तथा शकुन्तला विषयक कटाक्षादि अनुभावों से युक्त है, जो ऐसे विभाव अथवा अनुभावों से युक्त नहीं है, वह ऐसा अनुरागवाला भी नहीं होता जैसे हम सामाजिक।

रत्यादि भावों की यह अनुमिति लोकोक्त अन्य अनुमितियों से विलक्षण होती है, क्योंकि सामान्य अनुमिति प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित है, इसके विपरीत यहअनुमिति परोक्षात्मक है। इसके अनुसार रत्यादि स्थायीभावों के उन अभिनेताओं में न विद्यमान होने पर भी सामाजिक अपने हृदय में निहित वासना के द्वारा उन भावों का अभिनेता में अनुमान करते हुए रसास्वादन करता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी स्थान पर वास्तविक धूम के न विद्यमान होने पर भी धूल आदि को वास्तविक धूम समझकर उसके द्वारा अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है उसी प्रकार अभिनेता आदि में भी वास्तविक रत्यादि भावों के न विद्यमान होने पर भी उसके अभिनय की कुशलता से कृत्रिम विभावों द्वारा रत्यादि स्थायीभावों का अनुमान सामाजिक कर लेता है। यह अनुमिति अपने सौन्दर्य के बल से सामाजिकों द्वारा आस्वाद्यमान होकर चमत्कार को उत्पन्न करतीहुई रस की स्थिति को प्राप्त होतीहै।

<u>आलोचना :——</u> आचार्य लोल्लट की भाँति श्री शंकुक का रस सम्बन्धी मत भी परवर्तियों द्वारा सहज रूप में नहीं स्वीकार किया गया। आलोचकों ने इसे भी अपनी आलोचना का

विषय बनाया है। इस मत में कृत्रिम विभावादि के द्वारा रस के अनुमान की स्वीकारोक्ति आलोचना का प्रमुख विषय सिद्ध हुआ है। वस्तुतः कृत्रिम विभावादि के द्वारा अनुमान की सिद्धि सर्वथा निराधार प्रतीत होती है। यद्यपि आचार्य प्रभाकर भट्ट ने भी शंकुक की मान्यता का समर्थन करते हुए यह बताया है कि शंकुक ने विभावादि की कृत्रिमता रूप समस्या का समाधान करने के लिए ही अभिनेता के अभिनय-कौशल के साफल्य पर ही अनुमान की परिपुष्टि की थी। जिस प्रकार पर्याप्त दूरी पर विद्यमान उठती हुई धूल को देखकर उसे धूम समझकर उस स्थान पर अग्नि के विद्यमान होने की कल्पना कर ली जाती है, उसी प्रकार कृत्रिम विभावादि के द्वारा सामाजिक रत्यादि स्थायीभावों की कल्पना या अनुमान कर लेता है।[1] किन्तु डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने आचार्य प्रभाकर भट्ट की इस मान्यता को सर्वथा अमान्य घोषित करते हुए लिखा है कि उनके उदाहरण में धूल, अर्थात् साधन का अनुमान कर्ता से बहुत दूर है। इतनी दूर है कि उसे धूल तथा धूम में अन्तर ही नहीं ज्ञात होता। किन्तु, नाट्य में दर्शक के लिए रंगमंच प्रत्यक्ष और समीप है, जिससे इस प्रकार के अनुमान की आवश्यकता नहीं। यदि धूल भी हमारे उतनी ही समीप हो, तो ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो उसे जानकर भी धूम मान बैठेगा। नाट्य में तो दर्शक पूर्व से ही जानता है कि उसके पात्र वास्तविक नहीं, नट का अवास्तविक रूप है। जानते हुए भी उसे जो आनन्द आता है, निश्चय ही उसका अनुमानातिरिक्त कोई कारण होना चाहिए।[2]

श्री शंकुक की रस सम्बन्धी मान्यता की आलोचना काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण ही चामत्कारिक स्थिति का उत्पादक सिद्ध होता है, अनुमिति इत्यादि नहीं। यदि अनुमिति भी चमत्कारोत्पादक सिद्ध होती तो सुरादि का अनुमान कर लेने मात्र से आनन्दानुभूति हो जाया करती, किन्तु ऐसी स्थिति सम्पन्न होते हुए नहीं देखी गयी। इसके अतिरिक्त अभिनेता में स्थायीभाव की उपस्थिति न होने पर भी मात्र उसके अभाव की अनिश्चित स्थिति के आधार पर उसका अनुमान करने से चामत्कारिक प्रतीति सम्बन्धी मान्यता भी सर्वथा युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होती। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कारोत्पादक सिद्ध होता है,

---

1- नन्वेवं कृत्रिमत्वेन तेषां व्याप्यत्वाभावात् कथमनुमापकत्वमिति चेन्न। उपाधिविशेषमहिम्ना, रजसि- धार्मिकेन ज्ञातोपलक्षितोऽनुमानात्मकत्वात्। धूमत्वेन ज्ञायमानाद् धूलीपटलाद् वह्न्यनुमानवत्।-
—रसप्रदीप, पृ० 23

2- रस-सिद्धान्त : स्वरूप - विश्लेषण, पृ० 69

~~अनुकरण का अर्थ [illegible]~~

अनुकरण की सिद्धि नहीं होगी। अनुकरण का अर्थ सदृशकरण किया जाय तो बिना मूल पात्र को देखे यह सम्भव नहीं है। यदि अनुकरण का अर्थ यथानुकरण के हैं तब तो नट ही नर्तकियों की रामादि का अनुभव कर सकता है एवं रामादि के स्थायीभाव का अनुकरण भी कर सकता है। ऐसी स्थिति में लौकिक भावानुभूति भी रस हो सकतीहै।इसी प्रकार वस्तु-स्थिति एवं भरत के अनुसार भी स्थायीभाव की अनुक्रियमाणता असिद्ध है। भरत के नाट्य-शास्त्र में स्थायीभाव के अनुकरण का कहीं भी संकेत नहीं है। शंकुक के मत से रस की अनुमिति का होना भी उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि आनन्द या विषय प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित होता है न कि अनुमान पर। अनुमान के द्वारा आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी व्यक्ति में उत्पन्न रस के स्वाद को अन्य व्यक्ति अनुमान के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकता। किसी भी वस्तु का अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष की भाँति ज्ञान नहीं होता और न आनन्द की प्राप्ति ही होती है। इसी प्रकार रति आदि भावों के सौन्दर्य की प्रतीति अनुमान द्वारा नहीं होपाती। अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष है, साक्षात्कारा-त्मक नहीं। अतएव अनुमिति के आधार पर रसास्वादन का उपपादन नहीं किया जा सकता शंकुक के सिद्धान्त का यही मूल दोष है।[1]

डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने भट्टलोल्लट के साथ ही शंकुक के अनुमिति-वाद की आलोचना का अत्यन्त सौष्ठव स्वरूप उपस्थित कियाहै। उनका कथन है कि भट्टलो-ल्लट तथा शंकुक की व्याख्याओं में दो प्रधान दोष हैं। यदि एक ओर उनकी व्याख्यायें पर-गतत्व दोष से दूषित हैं तो दूसरी ओर उन्हें आत्मगतत्व दोष से भी मुक्ति नहीं मिल सकती। दोनों आचार्य रस को अनुकार्यगत मानकर चले हैं। उनके सिद्धान्त से यह भी स्प-ष्ट नहीं होता कि विषय अथवा अवस्थीयभावों के प्रति हमारी रति कैसे उत्पन्न हो सकती है। रस को अनुकार्यगत मानने पर नट तथा प्रेक्षक से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में यह कल्पना करना कि वह रस को अनुकार्यगत जानकर भी उसका आरोप या अनुमान करने की इच्छा करेगा, व्यर्थ हीहै। नट की परगत भावों के प्रदर्शन में न तो सफल हो सकता है और न उसकी ओर रुचि ही होगी। परिणाम स्वरूप नट तथा सामा-जिक दोनों ही तटस्थ रहने की चेष्टा करेंगे। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान ही लिया

१- भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि,सिद्धान्त, पृ० 269-70

कि नट को काव्यानुशीलनादि के कारण अथवा आर्थिक लाभलोभ से उस ओर रुचि होगी तो भी सामाजिक को उस दृश्य से किसी प्रकार की रुचि हो, इसका कोई कारण नहीं दीख पड़ता। सामाजिक स्वाभाविक रूप में उन सबसे तटस्थ रहने का ही प्रयत्न करेगा। तटस्थता औदासीन्य का द्योतक है। उदासीन व्यक्ति से आस्वाद की आशा भी नहीं की जा सकती। अतः लोल्लटादि का मत दोषपूर्ण है।

तटस्थ्य के अतिरिक्त दूसरा दूषण आत्मगतत्व नाम से बताया गया है। आत्मगतत्व का तात्पर्य यह है कि रस की उत्पत्ति सामाजिक में ही माने तो यह भी सम्भव नहीं है। रस की निष्पत्ति के हेतु विभावादि की अनिवार्यता में किसी को सन्देह नहीं है। रस को सामाजिकगत मानने पर यदि हम उस दृश्य की कल्पना करें जहाँ जनकसुता सीता अथवा पार्वती का राम अथवा शिव के प्रति प्रेम प्रदर्शित किया गया है, उनके रति भाव का उद्दीपन कराया गया है, वहाँ सामाजिक उन्हें अपने विभाव के रूप में कैसे ग्रहण कर सकेगा? सीतादि रामादि के प्रति विभाव हो सकती हैं, किन्तु सामाजिक के प्रति नहीं हैं। इसके उत्तर में यह कहना उचित न होगा कि सामाजिक को अपनी ही प्रिया का ध्यान आ जायेगा, क्योंकि पार्वती आदि के उक्त दृश्यों को देखकर न केवल उन सामाजिकों को रसास्वाद होता है जो विवाहित हैं, अपितु उन्हें भी होता है, जो अविवाहित हैं, जिनकी कोई पत्नी कभी न थी और न है। इसके अतिरिक्त इन सिद्धान्तों से लोकपर्यवसायी नाटकों अथवा काव्यों से आनन्द मिलने के कारण पर कोई प्रकाश न पड़ सका।[1]

<u>वैशिष्ट्य :—</u>

रस के स्वरूप का विवेचन करने वाले आचार्यों में श्री शंकुक महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। अपने पूर्ववर्ती आचार्य भट्टलोल्लट द्वारा निरूपित रस के स्वरूप को अनुपयुक्त समझकर उन्होंने 'अनुमितिवाद' नामक अपने नवीन रससिद्धान्त की कल्पना की यद्यपि उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा यह सिद्धान्त सर्वथा मान्यता नहीं प्राप्त कर सका, किन्तु रस के स्वरूप को स्पष्ट करने में इसका अपूर्व योगदान रहा है। आचार्य श्री शंकुक के महत्व का विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है —

(1) लोल्लट ने रस को अनुकार्य की प्रत्यक्ष रूप अनुभूति मानकर नाट्यगत भाव और प्रत्यक्ष भाव जैसी भ्रांति उत्पन्न कर दी थी शंकुक ने उसका निराकरण किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि नाट्यगत भाव की प्रत्यक्ष अनुभूति न होकर उसका अनुकरण

1- रससिद्धान्त : स्वरूपविश्लेषण, पृ0 76-77

अर्थात् कल्पनात्मक अनुभूति है। रस के मनोविज्ञान का यह एक महत्वपूर्ण तत्व है और रस के स्वरूप-निर्धारण में इसका महत्व असंदिग्ध है।

(2) अनुकार्य के वास्तविक रूप को भी शंकुक ने ही स्पष्ट किया। लोल्लट ने अनुकार्य के प्रसंग में मूल पात्र और कवि-निबद्ध पात्र के बीच भ्रान्ति उत्पन्न कर दी थी — शंकुक ने स्पष्ट कहा कि नाट्य में अनुकार्य का अर्थ है कवि-निबद्ध पात्र।

(3) सामान्य प्रतीति से कला-प्रतीति की विलक्षणता की स्थापना भी शंकुक की सूक्ष्म चिन्तन की परिचायिका है। विवादास्पद होने पर भी कलाकृति का यह अत्यन्त प्रौढ़ एवं बहुमान्य सिद्धान्त है और आज भी इसके समर्थकों की संख्या कम नहीं है।

(4) रस की घटना में शंकुक का प्रेक्षक लोल्लट के प्रेक्षक की अपेक्षा अधिक सक्रिय रूप से भाग लेता है — वह नाट्य में उपस्थित विभावादि लिंगों के द्वारा नट द्वारा अनुक्रियमाण स्थायीभाव — रस की अनुमिति करता है। लोल्लट ने प्रेक्षक को सर्वथा छोड़ दिया है — उसके मत उपलब्ध अंशों में उसका कोई उल्लेख नहीं है। जब समस्त नाट्य प्रपंच का विधान ही प्रेक्षक के लिए होता है तो उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है? शंकुक ने इस स्वतःसिद्ध तथ्य की प्रतीति करते हुए प्रेक्षक के पक्ष को ग्रहण किया है और रस के सम्बन्ध में उसकी सत्ता को उचित मान्यता प्रदान की है। इस प्रकार रस की व्यक्तिपरक धारणा के विकास में शंकुक का योगदान स्पष्ट है।

(5) रस-विवेचन को निश्चित दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय सर्वप्रथम शंकुक को ही प्राप्त है — उनके उपरान्त रस के स्वरूप-विवेचन में दार्शनिक चिन्तन का निश्चयपूर्वक प्रवेश हो गया, जिससे यद्यपि कुछ क्षति तो हुई पर विचार का स्तर सहसा ऊँचा उठ गया।[1]

आचार्य श्री शंकुक के वैशिष्ट्य का निर्देश करते हुए डा0 आनन्दप्रकाश दीक्षित ने लिखा है कि शंकुक भट्टलोल्लट से कुछ आगे ही बढ़े हैं। यद्यपि वे अनुकार्य की रसानुभूति को बिलकुल भी स्वीकार नहीं करते और न कवि को ही मान्यता देते हैं, किन्तु चित्रतुरग-न्याय की स्वीकृति इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने कवि कल्पना स्वीकार की। जिस प्रकार कोई भी चित्र बिना चित्रकार की कल्पना के सजीव रूप में उपस्थित नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना कवि-कल्पना के ऐतिहासिक पात्रों में भी प्राणस्पन्दन नहीं भरा जा सकता।

1- रस-सिद्धान्त, पृ0 158-59

कवि की कल्पना तथा स्मृति का योग तो स्वीकार करना ही होगा। शंकुक की प्रधान त्रुटि यही थी कि उन्होंने अनुकर्ता की कल्पना और स्मृति को लक्षित नहीं किया। साथ ही प्रेक्षक को भी अनुमान के सहारे छोड़ दिया। यहाँ तक कि उसमें रसानुभूति की कल्पना तक न की।[1]

<u>दार्शनिक - स्वरूप :—</u>

आचार्य श्री शंकुक का दार्शनिक स्वरूप स्पष्ट रूप में विद्यमान है। चित्रतुरगन्याय तथा लिंगी के द्वारा लिंग का अनुमान आदि उदाहरण इस तथ्य की पूर्णतया परिपुष्टि करते हैं कि उनका रस-सिद्धान्त अनुमान न्यायदर्शन पर आधारित है। इसी परिप्रेक्ष्य में उनका रस सम्बन्धी अभिमत अनुमितिवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। उन्होंने न्यायदर्शन के आधार पर ही रस-निष्पत्ति एवं उसके स्वरूप का विवेचन करते समय अनुभूति एवं अनुमिति नामक दो मौलिक व्यापारों का उल्लेख किया है। अभिनेता द्वारा विभावादि के अनुकरण की पूर्णता एवं निपुणता के कारण ही प्रेक्षक को नट में अनुकार्य के स्थायी-भाव का अनुमान होता है। रत्यादि स्थायीभाव रामादि अनुकार्यों में विद्यमान रहते हैं तथा विभावादि के द्वारा अनुमित होकर वे रस की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार अनुमान रूप न्यायिक आधार पर आचार्य शंकुक ने रससूत्र के 'संयोग' पद का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध एवं 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति किया है। डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' में कतिपय युक्तियों के द्वारा आचार्य शंकुक को वैदिक न्याय की अपेक्षा बौद्ध न्याय का समर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु डा० नगेन्द्र ने उनके इस प्रयास को सर्वथा निरर्थक सिद्ध करते हुए यह निर्णय दिया है कि श्रीशंकुक को न्यायवादी मानना ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है, वैदिक एवं अवैदिक का प्रश्न सर्वथा अनुपयुक्त है।[2]

<u>भट्टनायक :—</u>

आचार्य भट्टनायक रससूत्र के तृतीय व्याख्याता हैं। उनका रस-सिद्धान्त 'भुक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद एवं अभिव्यक्तिवाद नामक रस-सिद्धान्तों का पूर्णतः खण्डन किया है तथा अपने भुक्तिवाद नामक नवीन सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया है। उनके सिद्धान्त के अनुसार रससूत्र के

1- रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ० 75-76

2- रस-सिद्धान्त, पृ० 160

ओज के प्रकाशमय एवं आनन्दमय ब्रह्मास्वाद के सदृश भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है।[1]

आचार्य भट्टनायक की रससूत्र सम्बन्धी उपर्युक्त व्याख्याओं के अनुसार हम कह सकते हैं कि रस की अवस्थिति न तो तटस्थ अर्थात् अनुकार्य रामादि अथवा अनुकर्ता अभिनेता या नट में होती है और न आत्मगत अर्थात् सामाजिक में ही होती है। यदि रस को रामादि अनुकार्यगत अथवा अनुकर्ता अभिनेतागत मान लें तो उसका सामाजिक के हृदय के साथ सामंजस्य न हो सकेगा, क्योंकि सामाजिक के लिए तटस्थ होने से वे निष्प्रयोजन सिद्ध होंगे। यदि रस को आत्मगत अर्थात् सामाजिकगत मान लें तो यह भी औचित्यपूर्ण न कहा जा सकेगा, क्योंकि रस की निष्पत्ति सीता आदि विभावों के द्वारा होती है। सीता आदि रामादि के प्रति तो विभाव हो सकते हैं, किन्तु सामाजिक के प्रति नहीं। इसके अतिरिक्त सीता आदि के प्रति पूज्यनीय बुद्धि होने से सामाजिक उन्हें शृंगारादि रसों के लिए किसी भी प्रकार विभावादि के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक एवं अभिनवगुप्त आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद एवं अभिव्यक्तिवाद नामक रस-सिद्धान्त सर्वथा युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होते, क्योंकि रामादि विभावों के वास्तविक न होने के कारण न तो रस की उत्पत्ति हो सकती है और न अनुमिति। कल्पित विभावादिकों के द्वारा अभिनेता में रत्यादि भावों की अनुमिति असम्भव ही कही जायेगी, क्योंकि अनुमिति उस वस्तु की ही होती है जो प्रत्यक्षादि द्वारा पूर्व अनुभूत हो। काव्य या नाटक में रामादि के प्रत्यक्षीकरण न होने के कारण रस की अनुमिति नहीं हो सकती। इसी प्रकार रस की अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि अभिव्यक्ति उस वस्तु की होती है जो पूर्वसिद्ध है। रस तो एक प्रकार की अनुभूति है जो अनुभव के पूर्व या पश्चात् नहीं रहती। अतः रस को उत्पत्ति, अनुमिति, अथवा अभिव्यक्ति का विषय नहीं माना जा सकता।

काव्यत्व का व्यापार है। यह व्यापार अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व के रूप में तीन प्रकार का माना है। इनमें अभिधा काव्यार्थ विषयक, भावकत्व रसादि वि-

---

1- न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते, अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण, भाव्यमानः, स्थायी सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।

— काव्यप्रकाश, पृ0 90 वामनी टीका।

सकेगा। दूसरे, लक्षणा का ग्रहण एक क्रम से होता है। उसके लिए अभिधा आवश्यक है और उसका बोध भी उतना ही आवश्यक है। इस प्रकार लक्षणा से भाव समझने में एक क्रमिक विकास का सहारा लेना पड़ जायेगा, जिसमें पौर्वापर्य बना रहेगा। व्यंजना के साधन तथा बोध में इस प्रकार की कठिनाई नहीं होती यहाँ बुद्धि उस अर्थ में उस अर्थ पर ठह-कर नहीं पड़ती और न सविराम ही काम करती है। वरन् यहाँ तो सहज भाव से का-व्यार्थ के समक्ष में धीरे-धीरे सब कुछ मन में बैठने लगता है और बोध भी स्वतः चालित क्रिया के समान हो जाता है। बोध में एकाग्रता का संकेत मिलता है, जो लक्षणा के कठिन मार्ग पर चलते ही हवा हो जायेगी। ऐसी दशा में लक्षणा के स्थान पर भावकत्व भोजकत्व स्वीकार करना ही श्रेयस्कर होगा। एक बात और यदि लक्षणा का व्यापार विभावादि के साधारणीकरण तक मान भी लिया जाय तो भी प्रश्न यह है कि स्थायीभाव के साधारणी-करण में लक्षणा किस प्रकार काम दे सकेगी? लक्षणा अभिधा पर आश्रित रहती है, किन्तु अभिधा मानसिक भावों को समझाने में सर्वथा अनुपयोगी है। अतः यहाँ यह किस प्रकार अपना काम सम्पन्न कर सकेगी? इस प्रश्न का उत्तर अभिधावादी लोग न दे सकेंगे। अतः भावकत्व को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना होगा।[1]

डा० दीक्षित की उक्त स्वीकारोक्ति के बावजूद कुछ आचार्यों का कथन है कि भट्टनायक ने स्वयं अभिधा के अतिरिक्त दो शक्तियाँ स्वीकार की हैं। ये शक्तियाँ लक्षणा व्यंजना आदि से पृथक् स्वरूपवाली कही जा सकती हैं, किन्तु उन्हें लक्षणा तथा व्यंजना का स्वरूप ही कहा जायेगा। उन्हें भावकत्व तथा भोजकत्व रूप नये नाम देना सर्वथा अनाव-श्यक है। स्थायीभावों को प्रस्तुत करने का काम यदि लक्षणा द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता तो व्यंजना द्वारा यह कार्य अनायास ही सम्पन्न हो सकेगा। अतः स्थायीभाव को समझाने का कार्य व्यंजना द्वारा सर्वथा सम्भव हो जाने पर भावकत्व तथा भोजकत्व की मान्यताएँ का निरर्थक सिद्ध हो जाती है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित भोग की स्वीकृति तथा रस-प्रतीति की अस्वीकृति को सर्वथा अनुचित बतलाया है। उनका कथन है कि प्रतीति के दो अर्थ लिए जा सकते हैं। यदि उसे अनुमान के रूप में ग्रहण किया जाता है तो प्रती-ति को अमान्य ठहराना अनुचित न कहा जायेगा, किन्तु यदि प्रतीति को ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त समझा जाय तो उसे अस्वीकार न किया जा सकेगा क्योंकि संसार में प्रतीति के अति-

---

1- रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ० 88-92

आधार है और भट्टनायक ने इसका समाधान प्रस्तुत करके आलोचनाशास्त्र के इतिहास में अपूर्व सिद्धि प्राप्त की।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि रस-व्याख्या के रूप में आचार्य भट्टनायक को अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है। अभिनवगुप्त आदि कतिपय आचार्यों ने यत्किंचित् [illegible] रूप में उन्हें अपनी आलोचना का विषय भी बनाया है, किन्तु आगे चलकर उन्होंने उनकी साधारणीकरण सम्बन्धी मान्यता को आत्मसात् भी किया है। [illegible] अतः इस स्वीकारोक्ति के पीछे उनका आलोच्य रूप पूर्णतया प्रच्छन्न हो जाता है। आचार्य भट्टनायक के वैशिष्ट्य का पूर्ण स्वरूप प्रदर्शित करते हुए डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने 'रस-सिद्धान्त' नामक अपने एक निबन्ध में लिखा है कि भट्टनायक की मौलिकता और उनके गम्भीर चिन्तन को स्वीकार करना ही पड़ता है। उनके द्वारा प्रतिपादित अलौकिक विश्रान्ति और साधारणीकरण आदि पर ही आगे परिष्कार होकर उनकी प्रतिष्ठा होती रही है। भट्टनायक से ही इसको परब्रह्मास्वादसहोदर कहने की अखण्ड परम्परा भी चली आ रही है। आचार्य लोल्लट और शंकुक की अपेक्षा भट्टनायक बहुत आगे बढ़े हुए हैं। उन्होंने नाट्य के अतिरिक्त श्रव्यकाव्य क्षेत्र में भी इसका विचार किया है। उनके साधारणीकरण सिद्धान्त के द्वारा करुण रस की आस्वादनीयता को समझाने में अभूतपूर्व सफलता मिली है। रस को लौकिक अनुभवों से विलक्षण मानने और सुखदुःखात्मकता से भिन्नता प्रतिपादित करने में भट्टनायक को सफलता ही नहीं मिली उनकी परिपाटी ही आगे चल पड़ी।[2]

<u>दार्शनिक स्वरूप :—</u>

आचार्य भट्टनायक के रस-विवेचन का दार्शनिक स्वरूप सांख्य दर्शन पर आधारित माना गया है। इसकी परिपुष्टि में 'अलौकिक' एवं 'भोग' शब्दों को प्रस्तुत किया गया है। आचार्य विश्वेश्वर ज्ञानी ने अभिनवभारती की पंक्तियों को आधार मानकर कहा है कि भट्टनायक ने 'भोग' शब्द की व्याख्या सांख्यदर्शन के आधार पर की है।[3] सांख्य दर्शन में प्रकृति तथा पुरुष की सत्ता मानकर प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। प्रकृति के ये त्रिगुण सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के रूप में क्रमशः प्रीति, अप्रीति, तथा विषाद

1- रस-सिद्धान्त, पृ० 170 2- भारतीय काव्यशास्त्र, पृ० 240 डॉ० [illegible]

3- सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति(वि)लक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन। अभिनवभारती, पृ० 279

Bhattanayak, it seems in his exposition of Aesthetic injoyment (Bhoga) mainly follows the teaching of the Sankhya Philosophy.

—— The Philosophy of Aesthetic Pleasur

की रसविषयक व्याख्याओं का पूर्णतया निरीक्षण किया है, उसके पश्चात् नीरक्षीर विवेक के अनुसार आवश्यक तथ्यों को ग्रहण करते और उसे स्वतन्त्र स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने अपने रस सम्बन्धी विचारों को अभिनव भारती तथा ध्वन्यालोक लोचन में अत्यन्त विस्तृत रूप में सन्निहित किया है। उसके पश्चात् उनके उत्तरवर्ती आचार्य मम्मट ने उनकी रस-व्याख्या को सूक्ष्म रूप में अपने स्वरचित ग्रन्थ काव्यप्रकाश में भी प्रस्तुत किया है।

(1) अभिनवभारती में प्राप्त होने वाली आचार्य अभिनवगुप्त की रस-व्याख्या के अनुसार वह व्यंजना-प्रधान प्रतीयमान अर्थ रस है। काव्य के अधिकारी सहृदय व्यक्ति को सामान्य वाक्यार्थ-ज्ञानमात्र से रसात्मक अनुभूति होती है। विमल प्रतिभाशाली हृदय से संयुक्त जो व्यक्ति काव्यार्थ ज्ञान का अधिकारी कहलाता है। उसे अभिज्ञानशाकुन्तल के 'ग्रीवा 'ग्रीवाभंगाभिरामं' कुमारसम्भव के 'उमापि नीलालक' तथा 'हरस्तु किंचित्' इत्यादि श्लोक वाक्यों से वाक्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर प्रत्येक वाक्य में ग्रहण किए जाने वाले कालादि के विभाग की उपेक्षा करने वाली मानसी तथा साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है। उस प्रतीति में जो मृगशावक आदि विषय रूप का भान होता है, उसके विशिष्ट रूप में न विद्यमान होने के कारण 'यह भी डरा हुआ है' इस ज्ञान तथा भय या डर के प्रतिपादक दुष्यन्त आदि के वास्तविक न होने से भय ही देश-काल आदि से पूर्णतया अप्रतीत है, इसीलिए 'मैं डरा हूँ या यह डरा है अथवा यह शत्रु मित्र अथवा मध्यस्थ है इत्यादि सुख-दुःख आदि के प्रतिपादक अन्य ज्ञानों को नियम से उत्पन्न करने वाले विघ्नबहुल ज्ञानों से विलक्षण, निर्विघ्न प्रतीति से साक्षात् हृदय में प्रविष्ट होता हुआ-सा नेत्रों के समक्ष चक्कर काटता हुआ सा 'भयानक रस' कहलाता है। जैसे भय में सामाजिक की आत्मा न विशेष रूप से उपेक्षित होती है और न उल्लिखित ही होती है। इसी प्रकार अन्य रस भी होते हैं।

ऐसी स्थिति में उन विभावादि का परिमित रूप में साधारणीकरण नहीं होता है, परन्तु धूम तथा अग्नि के व्याप्तिग्रह अथवा कंप तथा भय आदि के व्याप्तिग्रह के समान अत्यन्त विस्तृत रूप में प्रतिपादित होता है। इसमें साक्षात्कारात्मक रूप से परिपोषित नटादि सामग्री होती है। जिसमें वास्तविक रूप में विद्यमान तथा देश, काल एवं प्रमाता आदि के नियामक हेतुओं के बन्धन से पूर्ण रूप से मुक्त कर देने पर वह साधारणीकरण व्यापार सर्वथा परिपुष्ट हो जाता है। इसीलिए सामाजिकों के समुदाय की प्रतीति का स्वरूप समान होता है, यह समान रूपता रस के लिए सर्वथा परिपोषक सिद्ध होती है। अनादि संस्कारों से चित्रित हृदय वाले समस्त सामाजिकों की वासना का एक रूप होने

(8) रस को अमेय मानकर व्यंजना का विषय स्वीकार किया गया है, क्योंकि भाव की अनुभूति अभिधा, लक्षणा अथवा तात्पर्य व्यापार आदि का विषय नहीं हो सकती। अतः रसानुभूति विभावादि के द्वारा अभिव्यंजित होती है।

आलोचना :—

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित 'अभिव्यक्तिवाद' सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी आलोचकों की तीव्र दृष्टि से बच न सका। इस सम्बन्ध में डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित का कथन है कि अभिव्यक्तिवाद भी अन्य मतों के समान आलोचना से न बच सका। उस पर भी कई प्रकार के आक्षेप किए गये। यथा — यह कहा गया कि रस की अभिव्यक्ति स्वीकार करने का तात्पर्य था — रस की पूर्वस्थिति स्वीकार कर लेना। जो वस्तु पहले विद्यमान नहीं है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। अतएव रस अभिव्यक्त होता है, यह कहना उचित नहीं है।

इस अभिव्यक्तिवाद के उत्तर में अभिनवगुप्त ने लोचन में लिखा है कि 'रसाः प्रतीयन्त इति ओदनं पचतीतिवद्व्यवहारः' रस उसी रूप में अभिव्यक्त होता है जिस प्रकार चावल भात के रूप में आ जाता है। जिस प्रकार चावल को ही पकने पर 'भात' कह दिया जाता है, उसी प्रकार स्थायीभाव की भी 'रस' रूप में अभिव्यक्ति स्वीकार की जाती है। यदि पके चावल को भात मानने में कोई आपत्ति नहीं है तो स्थायीभाव को रस की संज्ञा से अभिहित किए जाने पर भी कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए।[1]

अभिव्यक्तिवाद की आलोचना का विस्तृत स्वरूप 'व्यक्तिविवेक' में प्राप्त होता है। व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट ने अनुमितिवाद की परिपुष्टि करते हुए अभिव्यक्ति वाद का पूर्ण रूप से विरोध किया है। उन्होंने अभिव्यक्ति को तीन रूपों में कल्पित किया है। प्रथम, कारण में ही कार्य को सन्निहित मानकर समय आने पर उसकी अभिव्यक्ति मानी जा सकती है, जैसे दूध से दही की अभिव्यक्ति का होना। द्वितीय, कार्य के विद्यमान होते हुए भी कारण के अभाव में अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रच्छन्न हो सकता है। जैसे — अन्धकार में घट रूप कार्य के विद्यमान होते हुए भी दीपक रूप कारण के अभाव में उसकी अभिव्यक्ति प्रच्छन्न रूप में सिद्ध होती है। तृतीय, अभिव्यक्ति का तृतीय स्वरूप धूम तथा अग्नि के उदाहरण से बोधगम्य हो सकता है। तदनुसार किसी पूर्वानुभूति

1- रस सिद्धान्त : विवेचन, पृ० 95

पड़ता रहा यहाँ कि आधुनिक युग के विचारक काफी समय तक रस सिद्धान्त की अवहेलना करते रहे।

(3) रस का स्वरूप एकान्त आत्मपरक मान लेने पर युग का वस्तुपरक पक्ष दब जाता है और काव्य की सत्ता गौण हो जाती है। वास्तव में अभिनव ने कवि के आत्म तत्व के आधार पर काव्य की भी आत्मपरक व्याख्या की है, परन्तु परवर्ती चलकर प्रायः उपेक्षित हो गयी जिससे सन्तुलन बिगड़ गया। आत्यन्तिक रूप में रस की सत्ता व्यक्ति-निष्ठ तो माननी ही पड़ेगी, किन्तु व्यक्ति में कवि को भी अन्तर्भुक्त करना होगा, केवल सहृदय को प्रमाण मान लेने पर काव्य के मूल्यांकन की पद्धति ही असन्तुलित हो जायेगी।

(4) अभिनव की प्रतिभा जैसी प्रखर एवं पारदर्शिनी है, उसकी अपेक्षा में उन की शैली अत्यन्त शिथिल है और प्रायः वाग्जाल से आक्रान्त हो जाती है। अन्ततः रसलोक की पुष्टि का जब अभिनवगुप्त साध्य करते हैं तो एक ओर जहाँ उनकी मेधा दार्शनिक तर्कों का खण्डन-मण्डन विवेचन प्रस्तुत करती है, वहाँ दूसरी ओर शैली की शिथिलता कभी-कभी वाङ्मय तत्वों को उलझा देती है।

वैशिष्ट्य :—

आचार्य अभिनव गुप्त द्वारा प्रतिपादित रसपरम्परा अभिव्यक्ति-वाद सिद्धान्त काव्यशास्त्रीय इतिहास में अपूर्व महत्त्व को प्राप्त करने में सर्वथा सफल सिद्ध हुआ। यद्यपि कुछ आचार्यों ने इसे अपनी आलोचना का विषय भी बनाया है, किन्तु आलोचना का स्वरूप नगण्य प्रतीत होता है। रस-निष्पत्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने में वे भट्ट-लोल्लट, श्री शंकुक तथा भट्टनायक ~~द्वारा प्रस्तावित साधारणीकरण के स्वरूप आदि~~ आचार्यों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक सिद्ध हुए हैं। उन्होंने आचार्य भट्टनायक द्वारा प्रस्तावित रस-विवेचन के स्वरूप को आधार मानकर अभिव्यक्तिवाद नामक नवीन रस सिद्धान्त को अभिव्यक्त किया है। आचार्य भट्टनायक ने इस सम्बन्ध में भावकत्व तथा भोजकत्व नामक नवीन काव्य-शक्तियों के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करना ही अपना साध्य बनाया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने सामाजिक की रसास्वाद सम्बन्धी स्थिति को भी अस्पष्ट रूप में छोड़ दिया था। आचार्य अभिनवगुप्त ने उक्त त्रुटियों के स्वरूप को परिमार्जित रूप देकर रस सिद्धान्त का स्वरूप स्थापित कर दिया। इससे प्रभावित होकर मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि विशिष्ट आचार्यों ने आगे चलकर इसे पूर्ण स्वीकृति प्रदान की। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का यह कथन सर्वथा युक्ति युक्त प्रतीत होता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में अन्ततः अभिनव का

मत ही मान्य हुआ। शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनन्दवाद के पुष्ट आधार पर उन्होंने निज आत्मास्वाद रूप रस की प्रकल्पना की ही उसने रस सिद्धान्त को पूर्णतया आवेष्टित कर लिया। परिणाम यह हुआ कि भरत का मूल सिद्धान्त भी उसमें आच्छन्न हो गया और परवर्ती आचार्य भरत को भूलकर या भरत के नाम से, अभिनव के मत को ही उद्धृत करते रहे।[1] इसी प्रकार डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने 'रससिद्धान्त' नामक अपने एक निबन्ध में लिखा है कि वासनागत संस्कार, चित्त और उसका भाव, साधारणीकरण की व्याख्या कता, आनन्द प्राप्ति में विभावादि का योग आदि कई बातों पर अभिनवगुप्त ने मौलिक ढंग से विचार करके और उन्हें दर्शन के क्षेत्र में ले जाकर नवीन और संगत सिद्धान्त की स्थापना की है। उसने आगे बढ़कर सामाजिक से रस का सम्बन्ध घटित करके सूत्र को सरल ही नहीं बना दिया बल्कि रस की स्थायीभाव से भिन्नता के साथ ही लौकिक प्रतीति से भिन्नता प्रतिपादित कर दी और उसकी आनन्दमयता की एक आध्यात्मिक व्याख्या भी प्रस्तुत की। उन्होंने वासनागत स्थायीभाव की रसात्मक अभिव्यक्ति का सिद्धान्त स्वीकार करके अनुभूति पर बल दिया अनुमानादि की ज्ञान विधि मात्र से रस को बचा लिया। साथ ही उन्होंने इन्हीं संस्कारों के बल पर मानव मात्र की सार्वभौम एकता का भी व्याख्यान कर दिखाया। इस सिद्धान्त के बल पर ही उन्होंने व्यंजना की भी महत्वपूर्ण प्रतिष्ठा की। अभिनवगुप्त के पश्चात् इस दिशा में ध्यान आकर्षित करने वाला व्यक्तित्व केवल पण्डितराज जगन्नाथ का ही है। उन्होंने रस गंगाधर में रसनिष्पत्ति विषयक ग्यारह मत दिए हैं, किन्तु उनमें प्रमुखता अभिनवगुप्त के मत को ही मिली है।[2]

इस प्रकार अभिनवगुप्त के अभिव्यक्ति सिद्धान्त के प्रति की गयी आपत्तियों की निस्सारता तथा साहित्य के क्षेत्र में उसकी अक्षुण्णतम मान्यता इस बात की प्रमाण है कि अभिनवगुप्त का सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। अभिनव गुप्त के द्वारा दी गयी व्याख्या में ही रस सूत्र का भाव पूर्णतया खिल सका। लोल्लट और शंकुक अथवा भट्टनायक
और अभिनव में कई समानताएँ भी पायी जाती हैं, लोल्लटादि के आचार्य अभिनव के
सदृश सूत्र की व्याख्या न कर सके। अभिनव गुप्त ने आगे बढ़कर सामाजिक से रस का सम्बन्ध घटित करके सूत्र को सरल बना दिया है। अभिनवगुप्त ने स्थायी को वासना रूप कहकर उसे नित्य स्वीकार कर लिया, किन्तु लोल्लट उसे अनुभव मात्र ही मानते रहे। लोल्लट

1- रस सिद्धान्त, पृ० 173

2- भारतीय काव्यशास्त्र पृ० 243-44 सम्पादक डा० उदयभानु सिंह

ने जिस स्थायीभाव को नट में अनुमेय माना, वह उनके अनुसार वस्तुतः नट में अवस्थित नहीं था। इसके विपरीत अभिनव ने जो प्रेक्षकगत मान कर अनुभूतिगम्य तथा एक तत्त्व मान लिया। उनके सामने यह प्रश्न ही नहीं उठ सका कि अन्य के स्थायीभाव से प्रेक्षक को आनन्द क्यों हो? इस प्रकार वे उस दोष से बच गये जिससे शंकुक न बच सके। शंकुक के मत में सबसे बड़ी उपहसनीय बात यह रह गयी कि वे स्थायीभाव के अनुमान मात्र से आनन्द मानने लगे। उनके लिए यह स्थायीभाव ही रस रह गया, जबकि अभिनव ने इस बात को स्पष्ट रूप से बता दिया है कि रस स्थायीभाव मात्र से विलक्षण होता है।—
स्थायि-विलक्षणो रसः। तात्पर्य यह है कि अभिनव तथा शंकुक के प्रतिपादन में आकाश-पाताल का अन्तर है। दोनों की कोई समता नहीं है। शंकुक अँधेरे में टटोलते हुए व्यक्ति के समान हैं जबकि अभिनव की व्याख्या एक सक्षम और सुशिक्षित व्यक्ति की व्याख्या ज्ञात होती है।

शंकुक के दोषों से बचने के लिए पर्याप्त प्रयत्न करते हुए भट्टनायक ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, किन्तु उनके प्रति-पादन में भी कुछ ऐसी बातें रह गयीं जिनका परिमार्जन आगे चलकर अभिनवगुप्त द्वारा हुआ। भट्टनायक ने काव्य की तीन शक्तियों की चर्चा तो की किन्तु प्रेक्षक या पाठक के हृद्गत स्थायीभावों तक उनकी दृष्टि ही न जा सकी। अभिनव ने उन्हें ही वासना रूप से अवस्थित बतलाकर आस्वाद की समस्या को सुलझा दिया। भट्टनायक के अभिधा के अतिरिक्त जिन दो शक्तियों का सहारा लिया वे भी अन्य प्रमाणाभाव के कारण व्यर्थ सिद्ध हुईं। भट्टनायक को भोग के लिए उक्त नवीन शक्तियों की आवश्यकता प्रतीत हुई किन्तु अभिनव ने भोग को सुख-दुःखात्मक, अतः तिरस्कार्य मानकर रस को निर्विघ्न परबोध, विश्रान्ति आदि की कोटि तक पहुँचाया। उन्हें सहृदय के हृदय की वीतविघ्नता एक आवश्यक स्थिति ज्ञात हुई। अतः भट्टनायक की शक्तियाँ भी अभिनव के तर्क के सामने परास्त हो गयीं और उनका मत भी पिछड़ा रह गया।[1]

दार्शनिक स्वरूप :—

आचार्य अभिनव गुप्त के रस विवेचन का आधार शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनन्दवाद सिद्ध होता है। इसी आधार पर उन्होंने रस का स्वरूप आनन्दात्मक बताया

1- रसनिष्पत्ति : स्वरूप विवेचन, पृ० ९८-९९

वस्तुतः सामान्य रूप से आचार्य प्रवर पण्डितराज जगन्नाथ ने साधारणी-करण के स्वरूप को अस्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में प्रमाण के रूप में उनकी यह क-थना प्रस्तुत की जा सकती है कि यद्यपि विभावादि के साधारणीकरण का कथन प्राचीन आचार्यों ने किया है, फिर भी उसका किसी दोष विशेष की कल्पना किए बिना सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि काव्य में शकुन्तलादि के बोधक शब्दों के द्वारा पुनः कान्ता आदि के रूप में उनका बोध कैसे सम्भव हो सकेगा?[1] इस प्रकार पण्डितराज के अनुसार यद्यपि साधारणीकरण की मान्यता असम्भव सिद्ध हो जाती है, किन्तु गहराई से इस विषय पर चिन्तन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने एक दोष की कल्पना द्वारा साधारणीकरण को अस्पष्ट रूप में स्वीकृति प्रदान की है। इस सम्बन्ध में उनकी दोषकल्पना रूप नवीन मान्यता समालोचकों के मध्य सर्वथा मान्य नहीं हो सकी। उनकी साधारणीकरण सम्बन्धी स्वीकारोक्ति आचार्य विश्वनाथ की भावना को परिपुष्ट करती है। इस सम्बन्ध में डा०नगेन्द्र का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि बात वह भी वही है जो विश्वनाथ ने कही है, किन्तु उस पर दर्शन का वर्क चढ़ा हुआ है। पण्डितराज के दार्शनिक विधान में साधारणीकरण के लिए स्थान नहीं है —— वहाँ तो 'भ्रम' है : भावना-दोष है। किन्तु दर्शन के आव-रण को हटाकर देखें तो ये भी आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य और समानुभूति की ही बात कर रहे हैं। कवि की भावनावश कल्पना से सामाजिक की सहृदयता (भावना-कल्पना) उद्बुद्ध हो जाती है और वह आश्रय के साथ तादात्म्य का अनुभव करता हुआ समान भाव की अनुभूति करता है। लौकिक अलौकिक का व्यवधान वहाँ नहीं रहता। दुष्यन्त के साथ तादात्म्य होने से जिस प्रकार वह (कल्पित) रति का अनुभव करता है, उसी प्रकार हनु-मान की भावना से आक्रान्त होने के कारण वह समुद्रलंघन के उत्साह का भी अनायास ही (कल्पित) अनुभव कर लेता है।[2]

रस-सम्प्रदाय के इतिहास में साधारणीकरण सिद्धान्त का महत्व सर्व साधा-रण द्वारा मान्य घोषित किया गया है। इसके अभाव में रस का स्वरूप अव्यवस्थित ही दिखायी पड़ता। साधारणीकरण की स्थिति में देश-काल की सीमा नष्ट हो जाती है और

1- यदपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तं तथापि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वा-दिबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषविशेषकल्पनं विना दुरूपपादम्।--रसगं०।05

2- रस-सिद्धान्त, पृ० 201

ध्वनिप्रस्थापक आचार्य परवर्ती आचार्यों द्वारा सर्वथा मान्य सिद्ध हुई है। उन्होंने रस को ब्रह्मानन्द के समान आनन्द प्रदान करने वाला अलौकिक माना है, किन्तु रस की इस अलौकिकता के सम्बन्ध में कुछ समालोचक सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव रूप लौकिक पदार्थों से रस रूप अलौकिक पदार्थ की सृष्टि कैसे हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं —

(1) अलौकिक विभावादिकों के कारण रस अलौकिक है :—

विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारीभाव सामान्यतया लौकिक ही होते हैं, किन्तु जब ये लौकिक विभावादि काव्य तथा नाटक में वर्णित होते हैं तो उनमें अलौकिक विभावन व्यापार का समावेश हो जाता है। ऐसी स्थिति में विभावादि के अलौकिक हो जाने के कारण उनसे अभिव्यक्त होने वाला रस भी अलौकिक हो जाता है। उदाहरणार्थ — ऐतिहासिक दुष्यन्त तथा शकुन्तला की रति उनकी साधारण रति थी। किन्तु जब उनकी रति का काव्य तथा नाटक में वर्णन किया जाता है तब वह अलौकिक हो जाती है। इसका कारण यह है कि यदि हम उनकी रतिक्रीड़ा को प्रत्यक्ष देखते तो हममें क्रोध तथा लज्जा आदि लौकिक भावों का समावेश होकर हो जाता किन्तु काव्य तथा नाटक में वर्णित उनके रत्यादि भाव अलौकिकता में परिणीत होकर आनन्दमय हो जाते हैं। यह कार्य अलौकिक विभावन व्यापार द्वारा ही सम्भव होता है। ऐसी स्थिति में ही हम स्वत्व तथा परत्व की भावना से परिमुक्त होकर अलौकिक आनन्दानुभूति में निमग्न हो जाते हैं।

(2) समस्त प्रेक्षक - समुदाय को मात्र आनन्दप्रदाता होने के कारण रस अलौकिक है :—

लोक में लौकिक पदार्थों से उत्पन्न होने वाले शोक तथा हर्ष के द्वारा दुःख तथा आनन्द दोनों की अनुभूति होती है। कहीं ऐसा नहीं होता कि किसी की मृत्यु के कारण किसी को आनन्दानुभूति हो, किन्तु काव्य तथा नाटक में शोक तथा दुःख से परिपूर्ण ऐसी घटनाओं के वर्णन में भी आनन्दानुभूति होती है। इसके प्रमाण में हम कह सकते हैं कि यदि ऐसा न होता तो 'रामचरित मानस' अथवा 'उत्तररामचरित' आदि ग्रन्थ प्रसिद्धि को न प्राप्त कर पाते, क्योंकि उनमें दुःखात्मक घटनाओं का ही बाहुल्य है। इसके विपरीत हम ग्रन्थों की दुःखात्मक घटनाओं को पढ़ते-सुनते अथवा देखते समय सामाजिक आनन्दानुभूति में नित्य निमग्न देखे जाते हैं। अतः इस आधार पर भी रस की अलौकिकता सर्वथा परिपुष्ट हो जाती है।

मूक व्यक्ति के ज्ञान को प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा रस का अनुभव सर्वथा असम्भव हो जाता है, क्योंकि रस का ज्ञान विभावादि के परामर्श या सम्बन्ध की प्रधानता पर आधारित होता है। रस की प्रतीति के साथ विभावादि की प्रतीति भी होती है। अतः उसे निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं कहा जा सकता। जिस ज्ञान से किसी वस्तु के स्वरूप के अतिरिक्त उसके नाम तथा जाति आदि की भी प्रतीति होती है, वह सविकल्पक ज्ञान कहलाता है। घट, पट आदि पदार्थों को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इनके स्वरूप का ज्ञान होते ही इनके नाम तथा जाति आदि की प्रतीति भी स्पष्ट रूप से हो जाती है। इसके विपरीत रस सविकल्पक ज्ञान से सर्वथा भिन्न सिद्ध होता है, क्योंकि स्वसंवेदन रूप होने के कारण उसके नाम तथा जाति आदि का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप दोनों प्रकार के ज्ञानों से पृथक् रूप के आधार पर रस की अलौकिकता सिद्ध हो जाती है। इस सम्बन्ध में डा० हरिदत्त शास्त्री का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि रसानुभूति निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों ज्ञानों से भिन्न है, अतः उभयाभाव स्वरूप है। इसी प्रकार वह उभयात्मक भी है क्योंकि दो विरुद्ध वस्तुओं में से एक का अभाव द्वितीय का भाव रूप होता है। अतएव जब वह निर्विकल्पक नहीं तो सविकल्पक होगा तथा जब वह सविकल्पक नहीं तो निर्विकल्पक होगा। इस प्रकार रसानुभूति का उभयाभाव रूप विरोध को सूचित नहीं करता अपितु रस की अलौकिकता को दिखलाता है, जैसा कि कार्य और ज्ञाप्य के विषय में कहा गया है। बात यह है कि लौकिक वस्तु में विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते और रस में विरुद्ध धर्म युगपत् रहते हैं जो कि अनुभव सिद्ध है। इससे यही प्रकट होता है कि यह रस कोई अलौकिक वस्तु है।[1]

(6) नित्य तथा अनित्य से विलक्षण होने के कारण रस अलौकिक है।—

लोक में नित्य पदार्थ का कभी भी अभाव नहीं हो सकता, कुछ समय के लिए तिरोहित भले ही हो जाय, किन्तु रसानुभूति के पूर्व और पश्चात् रस का अस्तित्व सर्वथा अनिश्चित होता है अतः रस को नित्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जैसे मेघों से आच्छादित सूर्य कुछ समय के लिए नहीं दिखायी देता है किन्तु मेघावरण के हट जाने पर वह पुनः अपने प्रकाशित रूप में दिखायी पड़ने लगता है। इस स्थिति में सूर्य के विनाश अथवा उत्पत्ति की कल्पना सर्वथा अप्रासंगिक सिद्ध होगी। इसी प्रकार विभावादि रूप

1- काव्यप्रकाश, पृ० 121 व्याख्याकार डा० हरिदत्त शास्त्री

विभावत्व के समावेश पर रस की स्थिति का भी परिज्ञान होता है। विभावादि के सद्भाव का सद्भाव होने पर रस के स्वरूप की प्रतीति होती है। तथा उनके अभाव में उसका भी अभाव प्रतीत होता है। अतः रस की न तो उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश होता है। इस प्रकार उत्पत्ति तथा विनाश के अभाव में रस को अनित्य नहीं कहा जा सकता है। अतः नित्य तथा अनित्य से विलक्षण होने के कारण रस की अलौकिकता सिद्ध हो जाती है।

(7) भूत, भविष्य तथा वर्तमान रूप त्रैकालिक स्थिति से विलक्षण होने के कारण रस अलौकिक है :—

लौकिक पदार्थ भूत, भविष्य तथा वर्तमान रूप त्रैकालिक परिधि में अन्तर्निहित होते हैं किन्तु रस इस कालिक परिधि से सर्वथा पृथक् प्रतीत होता है। यदि उसे भूतकालिक परिधि में अन्तर्निहित किया जायेगा तो उसकी भूतकालिक साक्षात्कारात्मक स्थिति सर्वथा असिद्ध हो जायेगी। यदि उसे भविष्यत्कालिक परिधि में अन्तर्निहित किया जायेगा तो उसकी वर्तमान प्रतीति व्यर्थ हो जायेगी। इसी प्रकार उसे वर्तमानकालिक परिधि में भी अन्तर्निहित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वर्तमान वस्तु या तो कार्य रूप होती है या ज्ञाप्य रूप होती है, किन्तु रस कार्य तथा ज्ञाप्य से सर्वथा विलक्षण होता है। इस प्रकार भूत, भविष्य तथा वर्तमान रूप त्रैकालिक स्थिति से विलक्षण होने के कारण रस की अलौकिकता सर्वथा सिद्ध हो जाती है।

(8) परोक्ष तथा अपरोक्ष से पृथक् होने के कारण रस अलौकिक है :—

रसानुभूति परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप दोनों स्थितियों से सर्वथा पृथक् होती है। साक्षात् अनुभूति का विषय होने के कारण इस को परोक्ष नहीं कहा जा सकता तथा शाब्दिक प्रत्यक्षित्व के आधार पर उसे अपरोक्ष भी नहीं कहा जा सकता है। रस का स्वरूप दिखायी नहीं पड़ता, यह विभावादि के सान्निध्य से अभिव्यंजित होता है। इस प्रकार परोक्ष तथा अपरोक्ष से सर्वथा पार्थक्य प्राप्त होने के आधार पर रस की अलौकिकता सर्वथा सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार लौकिक पदार्थों से सर्वथा पृथक् होने के कारण रस की अलौकिकता सर्वथा सिद्ध हो जाती है। इसके द्वारा लौकिक आनन्दानुभूति से सर्वथा विलक्षण आनन्दानुभूति होती है। इस तथ्य की परिपुष्टि-हेतु काव्यप्रकाश में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिपिबद्ध की गयी हैं :—

* स च न कार्यः। विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत्।

आचार्य भरत के पश्चात् रस की संख्या में अभिवृद्धि का श्रीगणेश आचार्य उद्भट द्वारा किया गया है। उन्होंने शान्त रस की स्पष्ट स्वीकारोक्ति के साथ रसों की संख्या 9 भी निर्धारित की है।[1] आचार्य रुद्रट ने प्रेयान् नामक नवीन रस की कल्पना द्वारा इस संख्या को बढ़ाकर दस कर दिया।[2] आगे चलकर दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने शान्त रस की सत्ता को भी सन्देहास्पद सिद्ध करते हुए आचार्य रुद्रट के प्रेयान् रस को सर्वथा निरस्त कर दिया।[3] आचार्य अभिनवगुप्त ने शान्त रस को पूर्ण स्वीकृति प्रदान करते हुए 'स्नेह' 'लौल्य' तथा 'भक्ति' नामक तीन अन्य नवीन रसों की उद्भावना की।[4] आचार्य भोजराज ने प्रसिद्ध नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, उदात्त तथा उद्धत नामक तीन नवीन रसों की कल्पना की है।[5] उनके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इनके अतिरिक्त स्वातन्त्र्य, आनन्द, प्रश्रय, पारवश्य, वात्सल्य, चिन्ता, अनुराग तथा संभोग आदि अन्य विविध रसों की कल्पना दृष्टिगोचर होती है।[6] इस प्रकार आचार्य भोजराज रसों की परिकल्पना में सर्वोपरि सिद्ध हुए हैं। आगे चलकर आचार्य-द्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने व्यसन, दुःख तथा सुख नामक तीन मौलिक रसों की उद्भावना प्रस्तुत की।[7] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने वत्सल नामक नवीन रस को समुपस्थापित किया।[8] आचार्य भानुदत्त ने पारम्परिक रूप में प्रचलित नौ रसों के अतिरिक्त वात्सल्य, लौल्य, भक्ति, कार्पण्य तथा माया रूप नवीन रसों को मान्यता प्रदान की।[9] इनमें से कार्पण्य तथा माया रस सर्वथा

1- शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥— काव्यालंकार सार संग्रह, 4/4

2- शृङ्गारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः ।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे ॥— काव्यालंकार, 12/3 रुद्रट

3- शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ।
प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ॥
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥— दशरूपक, 4/35,83

4- अभिनवभारती, पृ0 64।

5- ——— प्रेयानिति शान्तोदात्तोद्धता रसाः । — सरस्वतीकण्ठाभरण, 5/164

6- सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ0 719

7- सम्भवन्ति त्वपरेऽपि यथा गर्धस्थायी लौल्यः, आर्द्रतास्थायी स्नेहः, आसक्तिस्थायी व्यसनम्, अरतिस्थायि दुःखम्, सन्तोषस्थायि सुखमित्यादि। — नाट्यदर्पण, पृ0 163

कारण है। वीर आदि रस तो मिश्र रसप्रकाश हैं।[1] आचार्य कर्णपूर ने भोजराज की मान्यता का समर्थन करते हुए लिखा है कि प्रेम-रस में सभी रसों का अन्तर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार समुद्र में लहरें उन्मग्न तथा निमग्न होती रहती हैं, उसी प्रकार प्रेम-रस में सभी रस उन्मग्न तथा निमग्न होते रहते हैं।[2]

(3) करुण ही प्रकृति रस है :—

करुण रस के प्रतिष्ठापक कविवर भवभूति की मान्यता के अनुसार करुण रस ही एक प्रकृति रस है एवं अन्य समस्त रस उसकी विकृति हैं। जिस प्रकार एक ही जल आवर्त, बुद्बुद् तथा तरंग आदि अनेक प्रकार के विकृत रूपों को प्राप्त करता हुआ भी प्रकृति रूप में सर्वत्र एक ही जल है, उसी प्रकार एक ही करुण रस शृंगार आदि विविध विकृत रसों को प्राप्त करता हुआ प्रकृति रूप में सर्वत्र एक करुणरस ही है।[3]

(4) शान्त ही प्रकृति रस है :—

अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने शान्त-रस को प्रकृति रस के रूप में स्वीकृत किया है, अन्य रसों को उसका विकृति रूप स्वीकार किया है। उनका कथन है कि सांसारिक विषयों से विरक्त होने पर ही कोई व्यक्ति काव्य रस का आस्वाद प्राप्त कर सकता है। अतः सभी रसों का आस्वाद शान्त रूप ही निश्चित होता है।[4] इसलिए अन्य प्रकृति रूप शान्त रस की विकृति होते हैं। प्रकृति से प्रादुर्भूत विकार पुनः प्रकृति में ही लीन हो जाता है। अपने-अपने निमित्त को प्राप्त कर शान्त रस से सभी भाव आविर्भूत होते हैं और निमित्त के विनष्ट हो जाने पर पुनः शान्त में ही लीन हो जाते हैं।[5]

1- वीरादयो मिश्ररसप्रकाशाः शृंगार एवैकः चतुर्वर्गैकफलत्वं रसः इति।—शृंगारप्रकाश

2- उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्डरसत्वतः।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ।— अलंकारकौस्तुभ, पृ0 146

3- एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्॥
आवर्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समस्तम्॥—
उत्तररामचरित, 3/47

4- तत्सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादः विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या।—अभिनवभारती, पृ0 340

5- भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥— अभिनवभारती।

(5) अद्भुत ही प्रकृति-रस है :—

विश्वनाथ आदि आचार्यों ने अद्भुत को प्रकृति-रस के रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि चित्त-विस्तार रूप चमत्कार ही किसी पर्याय रूप में विस्मय कहाते हैं, रसों का सारभूत है, जिसकी प्रतीति सभी को होती है। अतः शृंगारादि अन्य सभी रस अद्भुत के चमत्कार से चमत्कृत होकर उसकी विकृति सिद्ध होते हैं।[1]

इस प्रकार रसों के प्रकृति-विकृति स्वरूप उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि विविध आचार्यों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार रसों का प्रकृति विकृति भाव रूप स्वीकार किया है। आचार्यों की उक्त स्वीकारोक्ति के अनुसार केवल करुण अथवा केवल शान्त को ही प्रकृति रस स्वीकार करने की स्थिति सर्वथा अनुपयुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि करुण या शान्त में जिस प्रकार की दुःखात्मक चित्तवृत्ति होती है, वीर, अद्भुत बीभत्स तथा भयानक आदि रसों में उसका अभाव होता है। करुण या शान्त के प्रकृति रस की परिपुष्टि हेतु उक्त विकृत रसों की भी उस प्रकार की चित्तवृत्ति होनी चाहिए, किन्तु वह नहीं होती। अतः उनका प्रकृति रूप भी तर्कहीन सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अद्भुत को ही एक प्रकृति रस नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि रति तथा शोक आदि भावों की स्थिति में उसकी प्रतीति नहीं होती। शृंगार को भी प्रकृति रस नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस प्रकार की द्रुति शृंगार में होती है, रौद्र, वीर तथा बीभत्स आदि में उसका वह स्वरूप नहीं प्राप्त होता।

अन्ततः इस सम्बन्ध में हम डा० चन्द्रकान्त मिश्र के शब्दों में कह सकते हैं कि मानव हृदय की असीम वासनाओं को आठ या नौ श्रेणियों में विभक्त कर आठ या नौ स्थायीभावों के आधार पर भरतमुनि ने आठ या नौ रसों का उल्लेख किया है। इनमें चित्त के विकास, विस्तार-विक्षोभ और विक्षेप के आधार पर उन्होंने शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स को मौलिक तथा हास्य, करुण, अद्भुत, एवं भयानक को क्रमशः तज्जन्य माना है। इन मानसिक अवस्थाओं के आधार पर चार ही मौलिक रस माने जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त केवल एक ही रस कहने में मुनि का अभिप्राय यह है कि रस रस-रूप में एक ही है।

1- चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। तत्प्राणत्वं च अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे — रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥ —साहित्यदर्पण

निराधार सिद्ध हो जायेगी। हमारी इस वैचारिक मान्यता की परिपुष्टि-हेतु लौकिक परि-
वेश में दृष्टिपात करना होगा। यदि किसी भी रस की अनुभूति दुःखात्मक मानी जायेगी तो
जनसामान्य द्वारा उसके आस्वाद की सम्भावना का प्रयास किया जायेगा, क्योंकि लोक में दुःखा-
त्मक स्थिति से मुक्ति-प्राप्त करने के लिए हर सम्भव प्रयास किया जाता है। अतः दुःखात्मक
रसानुभूति-हेतु जनसामान्य किसी भी स्थिति में तैयार नहीं हो सकता। रसों के दुःखात्मक स्व-
रूप के सम्बन्ध में मान्य आचार्यों की यह मान्यता सर्वथा युक्ति-युक्त प्रतीत होती है कि
करुण आदि रसों के विभावादि लौकिक अवस्था में दुःखानुभूति के प्रतिपादक सिद्ध हो सकेंगे।
किन्तु काव्य में प्रयुक्त होने पर वे अलौकिक होकर सुखानुभूति के प्रतिपादक सिद्ध हो जाते
है। अतः रसों की सुखात्मक अनुभूति ही सर्वथा स्वीकरणीय सिद्ध हो जाती है।

समालोचना :—

इस प्रकार 'रस' शब्द का अर्थ, रस का ऐतिहासिक विकास, रस की परि-
भाषा एवं उसका स्वरूप, रसनिष्पत्ति-विषयक भरत-सूत्र की व्याख्या, साधारणीकरण, रस
की अलौकिकता, रसों की संख्या एवं उनका स्वरूप, रसों का पारस्परिक विरोध एवं उसका
परिहार, रसों की प्रीति-विप्रीति भाव एवं रसों की सुख-दुःखरूपता आदि विविध बिन्दुओं
के आधार पर रस-सम्प्रदाय की मौलिक विवेचना करने के उपरान्त उसके महत्व का पूर्ण परि-
ज्ञान प्राप्त हो जाता है। प्रारम्भिक स्थिति पर सिद्धान्त होने पर भी अन्य सम्प्रदायों की
अपेक्षा इसका अपना पृथक् वैशिष्ट्य सर्वथा मान्य सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में डा०नगेन्द्र
का यह कथन सर्वथा युक्ति युक्ति-प्रतीत होता है कि रस सिद्धान्त अपने व्यापक एवं विका-
सशील रूप में काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है, जिसके आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल
के सर्जनात्मक साहित्य का, सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का, उचित मूल्यांकन किया जा
सकता है। जीवन के समस्त रूपों तथा विविध मूल्यों के साथ रस सिद्धान्त सम्पूर्ण सार्थकता से,
जिसमें विभिन्न भावों के अन्तर्विरोध समाहित हो जाते हैं। रस सिद्धान्त मानववाद
के दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित है। यह मानव की उसकी देह और आत्मा शक्ति और सीमा
तथा समस्त सामर्थ्य के साथ स्वीकार करता है। क्योंकि मानव के अतीत वर्तमान तथा
वर्तमान भविष्य के साथ इसका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जिस प्रकार मानववाद मानव जीवननिष्ठ सत्य
मानकर जीवन के विकास के साथ निरन्तर विकासशील है, उसी प्रकार मानव-चेतना को
चरम सत्य मानकर रस-सिद्धान्त भी निरन्तर विकासशील है। जैसे-जैसे जीवन की परिस्थिति
बदलती जाती है वैसे वैसे मानववाद की प्रकल्पना में भी परिवर्तन होता जाता है। ठीक उसी

प्रकार जैसे-जैसे साहित्य की गतिविधियों में परिवर्तन होता जाता है वैसे-वैसे रस का स्व-रूप भी व्यापक होता जाता है। जीवन की निरन्तर विकासशील धारणाओं और आवश्यकताओं का आकलन जिस प्रकार मानववाद में ही हो सकता है, उसी प्रकार साहित्य की विकास-शील चेतना का परितोष भी रस सिद्धान्त के द्वारा ही हो सकता है। जीवन की भूमिका में जब तक मानवता से महत्तर सत्य का आविर्भाव नहीं होता और साहित्य की भूमिका में जब तक मानव संवेदना से अधिक रमणीय सत्य की उद्भावना नहीं होती, तब तक रस-सिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की कल्पना भी नहीं की जा सकती।[1]

1- साहित्यकार, पृ0 47 सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

चतुर्थ अध्याय

अलंकार-सम्प्रदाय

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्'

—— भामह

चतुर्थ अध्याय

अलंकारसम्प्रदाय

"अलंकारों के प्रयोग ने कवि को एक ही साथ कई दिशाओं में सक्रिय किया। उनके प्रयोग के लिए उसे जीवन और जगत् का प्रत्यक्ष द्रष्टा बनना पड़ा और खुली आँखों से उसने जो कुछ देखा उसके प्रभाव और स्वरूप को आँकने के लिए उसे समान अवस्थाओं की खोज करनी पड़ी। संयोजन के इस काम में उसने अपनी बुद्धि को सचेत रखने के साथ ही अपनी भावुकता तथा कल्पना को, विशेषतः कल्पना को, भी जाग्रत रखा। अलंकारों की इसी उपयोगिता को दृष्टि में रखकर काव्यशास्त्री ने उसे काव्यस्वरूप के निर्धारण में प्रमुखता प्रदान की और इस प्रकार काव्य-रचना में सौन्दर्य, चमत्कार, वैचित्र्यकता, भावुकता और वास्तविकता के मिश्रण पर जोर दिया। वस्तुतः अलंकारवादी ने सौन्दर्य को ही काव्य का मूल तत्व मान कर उसके भिन्न प्रयोगों की स्वीकृति दी है।"[1]

—— डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित

आचार्य भरत ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करके उसके प्रति अत्यन्त औपचारिक भावना को प्रदर्शित किया था। उनकी इस भावना को उत्तरवर्ती आचार्यों ने पर्याप्त समय तक मान्यता भी प्रदान की थी, जिसके परिणाम स्वरूप रस को एक साम्प्रदायिक स्वरूप प्राप्त हो गया था। इसी समय भामह आदि आचार्यों को 'अलंकार' नामक एक नवीन तत्व दृष्टिगत हुआ। उनकी मान्यता के अनुसार यह रस से किसी भी स्थिति में न्यून नहीं कहा जा सकता था। अतः उन्होंने उसे काव्य का सर्वस्व स्वीकार करते हुए आत्म रूप महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार को अंगी रूप स्वीकार करते हुए रसादि को उसका अंग बना दिया। उनकी मान्यता के अनुसार रसादि काव्य में अलंकारों के उपकारक रूप में स्थित होते हैं। आचार्य भामह का कथन है कि जिस प्रकार सौन्दर्य के विद्यमान होने पर भी कोई स्त्री आभूषणों के अभाव में सुन्दर सुहावनी नहीं कही जा सकती, उसीप्रकार काव्य की शोभा भी अलंकारों के अभाव में निरर्थक हो जाती है।[2] उन्होंने रस तथा भावादि को पूर्णरूप से अलंकारों में समाविष्ट करके अलंकारों को अंगी तथा रसादि को उसका अंग

1- काव्यालोक, पृ0 65 सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

2- न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। — काव्यालंकार, 1/13

इस प्रकार आचार्य दण्डी ने अलंकारों के स्वरूप-वैशिष्ट्य का विवेचन करने में अत्यन्त आदर का परिचय दिया है। उनका अपूर्व सम्मान प्राप्त कर लेने से अलंकार के स्वरूप में और निखार आ गया।

प्रसिद्ध समालोचक डा० सुशील कुमार दे महोदय के अनुसार आचार्य दण्डी को कुछ विद्वान् अलंकारसम्प्रदाय का आचार्य न मानकर रीतिगुण सम्प्रदाय का आचार्य मानना पसन्द करते हैं।[1] इसके विपरीत डा० राघवन ने दे महोदय की इस मान्यता को निराधार सिद्ध करते हुए आचार्य दण्डी को अलंकारसम्प्रदाय का ही आचार्य निर्धारित किया है।[2] इस तथ्य के स्पष्टीकरण में डा० भोलाशंकर व्यास का कथन है कि यद्यपि डा० राघवन ने यह भी कहा है कि दण्डी ने गुण व रीति की कल्पना में भी कम जोर नहीं लगाया है, फिर भी दण्डी को अलंकार-सम्प्रदाय का ही आचार्य मानना ठीक होगा। अलंकारों के विचारों में दण्डी का जोर भामह से किसी भी अवस्था में कम नहीं है। दण्डी का 'काव्यादर्श' भामह के 'काव्यालंकार' की भाँति संस्कृत साहित्य शास्त्र के विकास में विशेष स्थान रखता है।[3]

<u>वामन :—</u>

आचार्य वामन ने रीति सम्प्रदाय की पृथक् रूप में स्थापना की थी, अतः उनकी मान्यता के अनुसार रीति ही काव्य का जीवित रूप तत्व है, किन्तु इस वैचारिक-~~औ~~ पार्थक्य के विद्यमान होने पर भी उन्होंने काव्य की उपादेयता को सौन्दर्य रूप अलंकार की पृष्ठभूमि पर ही मान्यता प्रदान की है।[4] उनका कथन है कि गुण तथा अलंकार से संस्कार को प्राप्त किए हुए शब्द तथा अर्थ में ही मुख्य रूप से काव्यत्व का व्यवहार होता है,

---

1- यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः॥ — काव्यादर्श, 2/267

1- History of Sanskrit Poetics - Page - 95

2- Really Dandin belongs to the Alankar School much more than Bhamah. - Some Concepts of Alankarshastra - P139

3- ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० 427

4- काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। — काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/1/1,2

लोकातिशायी होने के कारण उपमा आदि अलंकार शब्द का गुण और काव्य की शोभा के प्रतिपादक गुण आदि में तथा गुण, रीति एवं अलंकार आदि के प्रतिपादक ग्रन्थ में अन्य औपचारिक प्रयोग होता है।[1]

भोजराज :—

भामह एवं दण्डी आदि आलंकारिक आचार्यों की अलंकार सम्बन्धी मान्यताओं को विस्तृत स्वरूप प्रदान करने वाले आचार्यों में भोजराज का स्थान सर्वथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। उन्होंने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'शृंगारप्रकाश' नामक अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अलंकार तत्त्व के स्वरूप की विशद् व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य भोजराज ने रसाश्रय के सन्दर्भ में लिखा है कि रस सन्दर्भ में विविध अलंकारों का संसृष्टि-प्रकार सर्वथा कमनीय होता है।[2] इसी परिप्रेक्ष्य में आचार्य दण्डी की 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' इस मान्यता की परिपुष्टि करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार काव्य के सौन्दर्याधायक होने के कारण श्लेष तथा उपमा आदि विविध अलंकारों के नाम से अभिहित किए जाते हैं, उसी प्रकार काव्य के शोभाकर धर्म से युक्त होने से गुण तथा रस आदि को भी अलंकार रूप में ग्रहण किया जाता है।[3] इस तथ्य के स्पष्टीकरण में उनका कथन है कि जिस प्रकार वैदर्भी आदि मार्गों के निबन्धक शोभादि में गुणत्व का व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार अलंकारत्व का भी व्यवहार समझना चाहिए।[4] आचार्य भोजराज का कथन है कि दण्डी ने वैदर्भी मार्गों के निबन्धक मात्र शोभादि दस गुणों में ही अलंकारत्व का कथन नहीं किया है, अपितु 'काव्य

1- अलंकारशब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते। तत्कारित्वसामान्या-दुपचारादुपमादिषु तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणादिषु। तथैव च तदभिधायिनि ग्रन्थे। शब्दार्थ-योरेकयोगक्षेमत्वादेकेन व्यवहारः ॥—— वक्रोक्तिजीवित, 1/2 की वृत्ति

2- नानालंकारसंसृष्टेः प्रकारास्त्वतिकोमलाः ॥— सरस्वतीकण्ठाभरण, 5/1।

3- तत्र 'अलंकारसंसृष्टेः' इत्येव वक्तव्ये नानालंकारग्रहणम् गुणरसानामुपग्रहणार्थम्। तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेन अलंकारत्वात्। यदाह —'काव्यशोभाकरान्' इत्यादि।— वही, पृ० 750

4- तत्र 'काव्यशोभाकरान्' इत्यनेन शोभोपयायिनाम् गुणरसभावतदाभासप्रशमादीनामुपग्रहणात्। मार्गविभागकृद् गुणानामपि श्लेषादीनां गुणत्वमिव अलंकारत्वमपि ख्यापयति।
—— सरस्वतीकण्ठाभरण,

ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्व अलंकार-तत्व काव्य के सौन्दर्य रूप में स्वीकार किया गया था। किन्तु उसके पश्चात् ध्वनिवादी आचार्यों ने उसे मात्र काव्य-सौन्दर्य के अभिव्यक्ति रूप में स्वीकृति प्रदान की। इस प्रकार अलंकार तत्व का व्यापक रूप समाप्त होकर सीमित रूप में परिणत हो गया। भामह तथा दण्डी आदि आचार्यों द्वारा उसे जिस रूप में प्रतिष्ठापित करने वाला प्रयास सर्वथा व्यर्थ हो गया। ध्वनिवादियों ने अलंकार के महत्व को मात्र इस रूप में स्वीकार किया है कि रसादि की अभिव्यक्ति में वह उपकारक सिद्ध होता है। रसादि की उत्कृष्टता में ही उसका सर्वस्व निहित होता है। अपने आप में उसका महत्व सर्वथा नगण्य हो जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्व अलंकार तत्व को जो महत्व प्राप्त था, वह आगे चलकर सीमित हो गया। मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में अलंकारों को गुणों की समकक्षता प्रदान करना भी उपयुक्त नहीं समझा। उन्होंने काव्य में गुणों को रस का साक्षात् उपकारक मानकर अन्तरंग स्थान प्रदान किया है। काव्य में उनकी स्थिति अचल या स्थिर होती है।[1] इसके विपरीत अलंकार रस के उप-

---

(च) ये हेतुः काव्यशोभायाः सोऽलंकारः प्रकीर्तितः। — प्रतापरुद्रयशोभूषण, 335

(छ) अलंकारभूषितं शब्दार्थरूपं काव्यशरीरम्। — काव्यानुशासन, पृ० 53

(ज) शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥ — साहित्यदर्पण 10/1

(झ) शोभातिशयहेतुरलंकारः। — अलंकारकौस्तुभ — कर्णपूर मिश्र

(ञ) अलंकारास्तु शोभायै -----। अलंकारशेखर, 1/2/2 केशवमिश्र
अलंकाराः कुण्डलादिवत्। — वही, 3/1
चमत्कारिकोपकारित्वमलंकारत्वसामान्यलक्षणम्। — वही, 4/1

(ट) सर्वोऽपि शब्दालंकारः .... काव्यशोभाकर रसादिपरतां भजेत्।
— चित्रमीमांसा पृ0 6 अप्पयदीक्षित

(ठ) काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः।
— रसगंगाधर, पृ0 248

(ड) रसादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे शब्दान्यतरनिष्ठम्।
चमत्कारकारत्वं अलंकारत्वमतानुम्॥— साहित्यसार, 8/4 अच्युतराय

---

1. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥— काव्यप्रकाश, 8/1

कारक हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं तथा काव्य में उनकी अवस्थिति नैयत्यपूर्ण नहीं हो कही जा सकती है, क्योंकि अलंकार काव्य में हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। इस प्रकार अलंकार तत्त्व की स्थिति काव्य में अस्थिर होती है, गुणों के समान सर्वदा आवश्यक नहीं होती है।[1] आचार्य मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण में इस तथ्य को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया है।[2]

ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा अलंकार तत्त्व की महत्ता अस्वीकृत कर दिए जाने पर भी साम्प्रदायिक विकास-परम्परा में उसका अपूर्व योगदान सर्वथा स्वीकरणीय सिद्ध होता है। प्रारम्भिक स्थिति में उसके महत्त्व को विविध आचार्यों ने सहर्ष स्वीकार भी किया है। आगे चलकर यह चमत्कारोक्ति की [हो] अभिव्यक्ति के रूप में परिवर्तित हो गयी है। इस सम्बन्ध में डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित की निम्नलिखित पंक्तियाँ निर्णायक की भूमिका प्रस्तुत करने में सर्वथा समर्थ सिद्ध होंगी —

"सौन्दर्य लाने के लिए उक्ति में कुछ वैचित्र्य या वैशिष्ट्य तो लाना ही होगा। इस वैशिष्ट्य की सिद्धि चित्रकार को रंगों के प्रयोग से होती है और कवि को शब्दों के प्रयोग से। कवि शब्द-प्रयोग में कहीं समानता का, कहीं विलक्षणता का, कहीं वैषम्य का, कहीं असाधारणता का तथा कहीं सन्तुलन का या इसी प्रकार के अन्य साधनों का प्रयोग करता है। चित्रकार भी रंगों की योजना में इन रीति-नीतियों से काम लेता है। यही रीति-नीतियाँ शब्द प्रयोग के क्षेत्र में अलंकार कहलाती हैं। चित्रकार यदि इन रीतियों से अपने चित्र में सौन्दर्य लाता है तो कवि अपने काव्य में। अलंकारों को हमारे यहाँ के आचार्यों और पाश्चात्य विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर ग्रहण किया है, यह बात और है कि बाद में चलकर उनका प्रयोग किसी के हाथ कैसा हुआ। यह तो व्यक्तिभेद और प्रयोग-भेद की बात है। अपने आप में अलंकारों की बुराई भी इससे सिद्ध नहीं होती। अलंकार-प्रयोग में जो बुराई और जटिलता आयी है, वह केवल अलंकार प्रयोग में ही नहीं दिखायी देती। प्रायः सभी प्रकार के विचार-मत धीरे-धीरे इस दुर्गति के शिकार हुए हैं।"[3]

1- अलंकारा अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः। — साहित्यदर्पण, 10/1

2- तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।— काव्यप्रकाश, 1/4

3- काव्यालोचन, पृ0 48 सम्पादक हजारी प्रसाद द्विवेदी।

<u>दण्डी :—</u>

आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' नामक अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में यमक, चित्र (शब्दालंकार), स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश, क्रम, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संसृष्टि तथा भाविक आदि 37 अलंकारों का स्वरूप सन्निहित किया है। आचार्य दण्डी द्वारा प्रस्तावित उपर्युक्त अलंकार-नामावली के आधार पर यह ज्ञात होता है कि उन्होंने 32 अलंकारों का विवेचन तो आचार्य भामह की मान्यता पर ही सन्निहित किया है, किन्तु आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश तथा क्रम नामक ये पाँच अलंकार उनकी व्यक्तिगत उद्भावना के विषय हैं।

<u>उद्भट :—</u>

आचार्य उद्भट ने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' नामक अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास (शब्दालंकार), उपमा, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, पर्यायोक्त, उपमेयोपमा, अनन्वय, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, ससन्देह, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, काव्यलिंग, दृष्टान्त, सहोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, संसृष्टि, तथा संकर आदि 41 अलंकारों को सन्निहित किया है। इस विवेचन के आधार पर इस तथ्य की प्राप्ति होती है कि आचार्य उद्भट ने पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, प्रतिवस्तूपमा, काव्यलिंग, दृष्टान्त तथा संकर नामक सात अलंकारों की स्वयं उद्भावना की थी तथा अन्य अवशिष्ट 34 अलंकार भामह तथा दण्डी आदि पूर्ववर्ती आचार्यों की आधार-भूमि पर सम्पन्न हुए।

<u>वामन :—</u>

'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' के रचयिता आचार्य वामन ने अनुप्रास, यमक, (शब्दालंकार) उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सन्देह, विरोध, विभावना, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, व्याजस्तुति, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित, तथा संसृष्टि आदि 31 अलंकारों का परिगणन किया है। इस परिगणना में वक्रोक्ति तथा व्याजोक्ति नामक दो अलंकार आचार्य वामन की व्यक्तिगत

एवं सुस्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किए हैं। कि उनसे आकृष्ट होकर सामान्य सहृदय भी भावविभोर हो जाता है। अलंकारों का यह विस्तृत विवेचन उन्होंने 'कुवलयानन्द' नामक अपने काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। आचार्य दीक्षित ने मात्र उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, आवृत्तिदीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्त व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, आक्षेप, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अल्प, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीपक, समाधि, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, ~~विकस्वर~~, ~~समुच्चय~~, ~~कारकदीपक~~, विकस्वर, प्रौढोक्ति, सम्भावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अनुज्ञा, अवज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, तद्गुण, पूर्वरूप, अतद्गुण, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, विशेष, उत्तर, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधिहेतु, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, स्मृति, श्रुति, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य, संसृष्टि, अंगांगिभावसंकर, समप्राधान्यसंकर, सन्देहसंकर, एकवाचकानुप्रवेशसंकर तथा संकरसंकर आदि 123 अलंकारों को अपने विवेचन का विषय बनाया है। उन्होंने काव्य में शब्दालंकारों की उपस्थिति को अपनी स्वीकृति नहीं प्रदान की। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि शब्दालंकारों से सुशोभित चित्रकाव्य सर्वथा नीरस होता है। कवियों की आदरणीय भावना उसके प्रति कदापि नहीं हो सकती है। अतः उसके स्थान पर मात्र अर्थालंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।[1] आचार्य दीक्षित ने अपने दूसरे ग्रन्थ 'चित्रमीमांसा' में मात्र उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, तथा अतिशयोक्ति नामक 12 अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। 'कुवलयानन्द' में विवेचित उक्त 123 अलंकारों के पुष्टिकरण करने पर इस तथ्य की प्राप्ति होती है कि आचार्य

1- शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वात् नात्यन्तं सहृदयानां हृद्यम्, न वा तत्र विचारणीयमतीवास्ति-पश्यामः इति शब्दचित्रविचारमपहायार्थचित्रमीमांसा प्रारभ्यतेऽस्माभिः प्रयत्नेन।

— चित्रमीमांसा, पृ0 5

पंचम अध्याय

रीति-सम्प्रदाय

'रीतिरात्मा काव्यस्य' — वामन

आचार्यों ने इन्हें क्रमशः वैदर्भी, गौडी, तथा पांचाली नामक रीतियों की मान्यता प्रदान की है।[1] नियत वर्णों के रसाभिव्यक्ति व्यापार को वृत्ति कहते हैं।[2] इस प्रकार आचार्य मम्मट के अनुसार रीति का मानसिक आधार नहीं हो सकता; वर्णों के उचित विन्यास रूप आधार पर रीति का स्वरूप आधारित किया गया है। शब्द या वर्णों के साथ गुणों का अनिवार्य सम्बन्ध निश्चित किया गया है। अतः गुण युक्त शाब्दिक विन्यास का आश्रय प्राप्त कर रीति रसाभिव्यंजना में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है।

<u>वाग्भट (प्रथम) :—</u>

आचार्य वाग्भट (प्रथम) ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य रुद्रट के अनुसार सामासिक आधार भूमि पर रीति सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किए हैं। उनका कथन है कि गौडी तथा वैदर्भी के रूप में दो रीतियाँ ही होती हैं। इनमें से प्रथम पूर्णतया समास-संयुक्त होती है और द्वितीय सर्वथा समास-विरहित।[3]

<u>नरेन्द्रप्रभसूरि :—</u>

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने वृत्यनुप्रास का विवरण प्रस्तुत करते हुए उपनागरिका परुषा तथा कोमला नामक वृत्तियों के आधार पर अनुप्रास अलंकार को तीन भेदों में विभाजित किया है इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने रीतियों के वैशिष्ट्य का संकेत करते हुए बताया है कि विभिन्न देशों के कवियों का वच अपने अपने देश के कवियों से आसीन होता है जैसे कर्णाटी कौन्तली, कौंकणी, वनवासिका, द्राविडी, माथुरी, मात्सी, मागधी, ताम्रलिप्तिका, औड्री तथा पौण्ड्री नामक बारह प्रकार की वृत्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है।[4]

1- माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः॥
केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः।
एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भीगौडीपाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः॥
—— काव्यप्रकाश, 9/3,4 एवं वृत्ति

2- वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।— काव्यप्रकाश

3- द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सा द्विधा।
एका भूयःसमासा स्यादसमासाऽपरा॥ वाग्भटालंकार, 4/149

4— अलंकारमहोदधि — 7/13 की वृत्ति

रीति के ऐतिहासिक विकास-क्रम सम्बन्धी उपर्युक्त विशिष्ट विवेचन के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि यह क्रमशः विकसित अवस्था को प्राप्त करता हुआ अन्ततः अस्तित्व की अवस्था को प्राप्त करने लगा है। इसके स्वरूप की प्राप्ति का बीजारोपण वैदिक साहित्य से ही होने लगता है। इसके पश्चात् भरत भामह एवं दण्डी आदि आचार्यों ने 'मार्ग' संज्ञा से उसके अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने का यथेष्ट प्रयास किया। तदनन्तर आचार्य वामन ने उसे अपने बाहु-बल पर काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित किया। आचार्य वामन के पश्चात् इसके स्वरूप का विवेचन-कार्य अभिवृद्धि को प्राप्त करता रहा, किन्तु विशेष महत्व को नहीं प्राप्त कर सका। अतः अमृतानन्दयोगी ने पुनः इसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, किन्तु उनका यह प्रयास सफल नहीं हो सका, क्योंकि ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति के अस्तित्व रूप को समाप्त कर अप्रत्यक्ष रूप से उसे रसादि का उपकारक रूप ही बना दिया। इस प्रकार आचार्य वामन ने अपने अथक प्रयास से जिस रीति तत्व को ऊँचे रूप बनाकर प्रधान पद पर प्रतिष्ठित किया था, वह ध्वनिवादियों के द्वारा अंग रूप गौण स्थान का अधिकारी सिद्ध हो गया।

(3) रीति के प्रमुख भेद

इसके पूर्व 'रीति का ऐतिहासिक विकास-क्रम' नामक शीर्षक के विवेचन द्वारा रीति के विविध भेदों का परिज्ञान हुआ है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम आचार्य भामह तथा दण्डी ने वैदर्भ एवं गौड नामक दो मार्गों को निरूपित किया था। इसके पश्चात् आचार्य वामन ने मार्ग को रीति पद की संज्ञा प्रदान कर वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली के रूप में उसे तीन प्रकार की बताया। इसी परिप्रेक्ष्य में आचार्य रुद्रट ने लाटी नामक नवीन रीति को अस्तित्व प्रदान कर उक्त संख्या को चार में परिवर्तित कर दिया। इसके पश्चात सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने तीन या चार के रूप में ही रीतियों के भेदों का परिगणन किया है। नामोल्लेख के रूप में राजशेखर, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र, विद्याधर, शिंगभूपाल, विद्यानाथ, केशवमिश्र तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों को तीन संख्या की मान्यता में समाहित किया जा सकता है एवं रुद्रट, वाग्भट्ट(प्रथम), अमृतानन्द योगी, जयदेव तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों को चार संख्या की मान्यता है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जो रीति-भेद को चार से भी अधिक स्वीकार करते हैं। इनमें आचार्य भोजराज ने वैदर्भी, गौडी, पांचाली, लाटी, मागधी तथा आवन्तिका के रूप में रीति के छः भेदों को स्वीकृति प्रदान की है। इस प्रकार उन्होंने मागधी तथा आवन्तिका नामक दो नवीन रीतियों को समुद्भावित किया। आचार्य शारदातनय ने लोक-

विशेषताएँ हैं, जो भौगोलिक प्रभावों द्वारा अनुप्रेरित रहती हैं। प्रथम भाषा-शैली अथवा उसकी भी पूर्ववर्ती कल्पशैली [?] पर है।[1]

आचार्य वामन ने रीतियों का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया है। इस प्रकार उनकी मान्यता में रीतियों का आधार शब्द तथा अर्थगत सौन्दर्य निश्चित होता है। यही सौन्दर्य का अभिप्राय माधुर्य आदि गुणों से है। वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रूप प्रमुख तीन रीतियों में से वैदर्भी माधुर्यादि दस गुणों से संयुक्त होती है। गौड़ी ओज तथा कान्तिमात्मक [?] गुणों पर आधारित होती है तथा पांचाली में माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों का समावेश प्राप्त होता है। वैदर्भी रीति का प्रयोग विदर्भ देश के कवियों की रचनाओं में अधिकतर रूप से विद्यमान होने के कारण सार्थक सिद्ध हुआ है, गौड़ी रीति की प्रायोगिक स्थिति मुख्य रूप से गौड देश के कवियों की रचनाओं में प्राप्त होती है, अतः गौड़ी संज्ञा की सार्थकता सिद्ध हुई है। इसी प्रकार पांचाल देश के कवियों की रचनाओं में प्रमुख रूप से प्रान्ति [?] का आधार सिद्ध होने से 'पांचाली' संज्ञा सार्थक सिद्ध होती है। इस प्रकार वैदर्भी आदि रीतियों का कल्पित प्रादेशिक आधार मात्र संयोग सिद्ध होता है, वास्तविक नहीं। प्रादेशिक आधार पर रीतियों के अस्तित्व की कल्पना के पूर्व भी रीति तत्व विद्यमान था। अतः रीतियों का प्रादेशिक आधार ~~की कल्पना सर्वथा निराधार~~ सर्वथा निराधार सिद्ध हो जाता है।[2] रीतियों के प्रादेशिक आधार की कल्पना के पक्ष विपक्ष [?] में डा० नगेन्द्र का कथन है कि प्रादेशिक आधार की कल्पना सर्वथा निराधार नहीं है — उसके पीछे व्यावहारिक तर्क है, परन्तु इस प्रादेशिक आधार को अधिक महत्व नहीं देना चाहिए — मनुष्य का स्वभाव अथवा व्यक्तित्व प्रादेशिकता में आबद्ध नहीं है, कवि का व्यक्तित्व तो वैसे भी असाधारण प्रतिभावान् और वैशिष्ट्यसम्पन्न होता है, अतएव उसके लिए तो प्रादेशिकता का बन्धन और भी दुर्बल पड़ जाता है।[3]

(5) रीति के नियामक-तत्व

रीति-सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वामन ने रीतियों का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया था। उन्होंने रीति के नियामक तत्वों का किसी भी रूप में उल्लेख नहीं किया था। इसके विपरीत आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने उसके नियमित रूप को सर्वथा आवश्यक बतलाया

1- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० 31।

2- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन

3- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका - पृ० 33, 34

है। उन्होंने रीति का प्रमुख नियामक तत्त्व रस को स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त वक्तृ-औचित्य, वाच्य-औचित्य तथा विषय-औचित्य रूप अन्य नियामक तत्त्व भी उपचार रूप से रीति का नियमन करते हैं।[1]

(1) वक्तृऔचित्य :—

रीति के स्वरूप का निर्धारण वक्ता की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर किया जाता है। वक्ता या लेखक जो कुछ बोलता है अथवा लिखता है वह उसकी मनःस्थिति का परिचायक होता है। कवि का स्वभाव उसकी काव्य-रीति में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता रहता है। वक्ता कवि अथवा कविनिबद्ध के रूप में दो प्रकार का हो सकता है, कवि निबद्ध भी रसभाव-रहित तथा रसभावसमन्वित के रूप में दो प्रकार का हो सकता है, रस भी कथानायक के आश्रित अथवा उसके विपक्ष के आश्रित हो सकता है और इसी प्रकार कथानायक धीरोदात्त आदि के भेद से भिन्न पूर्व अथवा उसके पश्चात् का भी हो सकता है।[2]

आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि यदि कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता रसभावसमन्वित हो तथा रस प्रधानभूत होने से ध्वनिरूप हो तो नियमानुसार असमास या मध्यमसमासवाली संघटना ही प्रयुक्त की जानी चाहिए। प्रधानभूत रस के उन्मीलन का तात्पर्य यही है कि रस-प्रतीति में व्यवधान उपस्थित करने वाले तत्त्वों का यथा सम्भव परिहार करना चाहिए। उदाहरण के लिए करुण तथा विप्रलम्भशृंगार की अभिव्यक्ति पर दीर्घ समासवाली संघटना समासों के विविध रूप होने से कभी-कभी रसप्रतीति में व्यवधान कर सकती है। अतः उक्त परिस्थितियों में ऐसी संघटना के प्रयोग का आग्रह सर्वथा अनुचित सिद्ध होगा। इन परिस्थितियों में असमासा या मध्यमसमासा संघटना ही रसाभिव्यक्ति में सर्वथा समर्थ सिद्ध होगी। इसी प्रकार रौद्ररस की अभिव्यक्ति में मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा संघटना का प्रयोग ही उचित सिद्ध होगा।[3]

1- तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः।
विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा॥— ध्वन्यालोक, 3/6, 7

2- तत्र वक्ता कविः कविनिबद्धो वा कविनिबद्धश्चापि रसभावरहितो रसभावसमन्वितो वा रसोऽपि कथानायकाश्रयस्तद्विपक्षाश्रयो वा कथानायकश्च धीरोदात्तादिभेदभिन्नः पूर्वस्तदनन्तरो वेति विकल्पाः।— ध्वन्यालोक, 3/6 पर वृत्ति।

काव्य के साथ निश्चित होता है एवं प्रवृत्ति का नाटक के साथ। इस प्रकार रीति तथा प्रवृत्ति का पर्याप्त पार्थक्य प्राप्त होता है, किन्तु इस पारस्परिक पार्थक्य के विद्यमान होते हुए भी रीति के साथ प्रवृत्ति का साम्य सर्वथा स्वीकरणीय होगा।

(2) रीति तथा वृत्ति :—

रीति तथा वृत्ति के पारस्परिक पार्थक्य को समझाने के लिए दोनों के स्वरूप का ज्ञान होना सर्वथा आवश्यक होगा। काव्यशास्त्र में दो प्रकार की वृत्तियाँ बतायी गयी हैं, प्रथम — नाट्यवृत्तियाँ, — इन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी आदि अर्थवृत्तियों के रूप में स्वीकार किया है। द्वितीय, काव्यवृत्तियाँ — इन्हें आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने उपनागरिका, परुषा तथा कोमला रूप शब्दवृत्तियों के रूप में स्वीकृति प्रदान की है। आचार्य भरत के अनुसार वृत्तियाँ सभी काव्यों की माता हैं। इन्हीं के आश्रय पर ही दशरूपकों का अभिनयकार्य सफल होता है।[1] आनन्दवर्धनाचार्य ने वृत्ति की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि व्यवहार या व्यापार का नाम वृत्ति है।[2] आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार पुरुषार्थ की सिद्धि कराने वाला व्यापार वृत्ति कहलाता है।[3] आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि रसादि के अनुकूल रूप से शब्द और अर्थ का जो औचित्य युक्त व्यवहार होता है, वे ही दो प्रकार की वृत्तियाँ हैं। इनमें वाच्याश्रय व्यापार कैशिकी आदि वृत्तियाँ हैं, तथा वाचकाश्रय व्यापार उपनागरिका आदि वृत्तियाँ हैं।[4]

वृत्ति के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् रीति के साथ उसका पार्थक्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। अर्थवृत्तियों का रीति से पर्याप्त पार्थक्य प्राप्त होता है, क्योंकि इनका प्रयोग मुख्य रूप से नाटकों के विवेचन में होता है। शरीर, वाणी तथा मानसिक रूप चेष्टा व्यापार होने के कारण इनका कार्य-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक

1- सर्वेषामेव काव्यानां मातृका वृत्तयः स्मृताः।
आभ्यो विनिःसृतं ह्येतद् दशरूपं प्रयोगतः॥— नाट्यशास्त्र 20/4

2- व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते।— ध्वन्यालोक पृ0443 व्या0आ0जगन्नाथ पाठक

3- तस्माद् व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः। अभिनवभारती

4- रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्मृताः॥
रसाद्यनुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिक्याद्या वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्च उपनागरिकाद्याः।— ध्वन्यालोक 3/33 तथा वृत्ति

सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार रीति का सम्बन्ध शारीरिक तथा मानसिक व्यापारों से अति-रिक्त रूप में होता है, मम्मट एवं पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने उपनागरिका आदि वृत्तियों तथा वैदर्भी आदि रीतियों के एकत्व का प्रतिपादन किया है। इसके विपरीत कुछ अन्य आचार्यों ने वृत्तियों को रीति का अंग स्वीकार किया है। उनकी इस स्वीकारोक्ति का रहस्य यह है कि वृत्ति का सम्बन्ध मात्र वर्णों की योजना से होता है। जबकि रीतियों का सम्बन्ध वर्ण तथा पद दोनों की योजना से रहता है। अतः वृत्ति रीति का एक अंग है और दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व निश्चित होता है।

(5) रीति तथा शैली :— रीति का तृतीय सहधर्मी शैली कहा जाता है। भारतीय साहित्य शास्त्र में शैली शब्द का प्रयोग व्याख्यान पद्धति के अर्थ में किया गया है।[1] पाश्चात्य काव्यशास्त्र में शैली शब्द के लिए 'स्टाइल' पद का प्रयोग किया गया है जो रीति अर्थ का भी पूर्णरूप से प्रतिपादक सिद्ध हुआ है।[2] यद्यपि स्वभावार्थक शील शब्द से निष्पन्न शैली का अर्थ रीति-अर्थ का प्रतिपादन करने में सर्वथा समर्थ प्रतीत होता है, किन्तु काव्यशास्त्र में दोनों पद एकार्थक रूप में कहीं भी प्रयुक्त हुए हैं। वस्तुतः शैली में वस्तु-तत्व तथा व्यक्तितत्व ये दो मूल तत्व माने गये हैं। शब्दों के विन्यास आदि से सम्बन्धित शैली का वस्तुतत्व रीति रूप में परिवर्तित हो सकता है, किन्तु उसका व्यक्ति-तत्व रीति से सर्वथा पृथक् होता है। काव्याचार्यों ने इसी आधार पर रीति और शैली का पार्थक्य स्वीकार किया है। पाश्चात्य समालोचकों ने शैली के व्यक्ति तत्व को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है।[3]

1- प्रायेणाचार्याणामियं शैली यत् सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति।
— मनुस्मृति 1/4 पर आचार्य कुल्लूक भट्ट की टीका

2. Style is the term of literary criticism viewed as specific by some and as generic by others, use to name or describe it, the manner of quality of an expression—
Dictionary of World Literature— Page 357

3. The choice of words, the turn of phrases, the structure of sentences, their peculiar rythm and cadences—these are all curiously instinct with individuality of the writer,— — — this is enough to show that, style I am using the word in its broadest sense is fundamentally a personal quality.
— An Introduction to the Study of Literature— W.H. Hodson.

(7) रीति का अन्य साम्प्रदायिक तत्वों से सम्बन्ध

जिस प्रकार आचार्य वामन ने रीति तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित किया और उसे आधार बनाकर एक सम्प्रदाय की अवधारणा की गयी, उसी प्रकार रस, अलंकार ध्वनि तथा वक्रोक्ति आदि तत्वों को विविध आचार्यों ने पृथक् पृथक् रूप से काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करके अन्य विविध सम्प्रदायों की स्थापना की। इन साम्प्रदायिक तत्वों के साथ रीति तत्व का पारस्परिक् रूप में सम्बन्ध प्राप्त होता है।

(1) रीति और रस :—

कालक्रम के अनुसार सर्वप्रथम रस सम्प्रदाय की स्थापना हुई थी। अतः यह तथ्य पूर्णतया परिपुष्ट हो जाता है कि आचार्य वामन रस के स्वरूप से पूर्णतया परिचित थे। प्रारम्भिक अवस्था में विद्यमान होने पर भी रस का स्वरूप इतना विस्तृत तथा सुस्पष्ट था कि कोई भी काव्यशास्त्रीय आचार्य उससे अपरिचित नहीं हो सकता था। पर्याप्त समय तक रस सम्प्रदाय को महत्व भी प्राप्त हुआ था, किन्तु क्रमशः उसका महत्व आलंकारिकों की दृष्टि में अल्पतर होने लगा। रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन ने इसीलिए उसे रीति की अपेक्षा गौण सिद्ध किया है। उनकी मान्यता के अनुसार विशिष्ट पद रचना रूप रीति ही काव्य में आत्मा का स्थान ग्रहण करने योग्य है। रीति का प्रधान तत्व गुण है। विभिन्न गुणों में कान्ति नामक एक अर्थ गुण है जो दीप्तरस रसों के प्रकृष्ट रूप में विद्यमान होने पर आविर्भूत होता है। इस प्रकार आचार्य वामन ने रस को रीति का एक अंग विशेष माना है। उनकी मान्यता में रस की सर्वोच्च सार्थकता यही है कि उसकी दीप्ति रीति के सौन्दर्य की अभिवृद्धि में अपना सहयोग प्रदान करती है। इस विवेचन के आधार पर रीति-सम्प्रदाय में रस का स्थान अत्यन्त गुणाश्रय सिद्ध हो जाता है। कान्ति नामक जिस अर्थ गुण का उसे अंग बनाया गया है, वह गौडी-रीति का आधार तत्व माना गया है। ये गौडी आदि रीतियाँ वैदर्भी की अपेक्षा अत्यन्त निकृष्ट हैं, क्योंकि आचार्य वामन ने लिखा है कि समस्त गुणों से युक्त होने के कारण वैदर्भी रीति सर्वथा ग्राह्य है, अल्प गुणों से युक्त गौडी तथा पांचाली आदि अन्य रीतियाँ नहीं। अतः काव्य में सर्वाधिक महत्व रीति तत्व का है और यह काव्य की आत्मा कहा जा सकता है। इसके विपरीत रसवादी आचार्य रस तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं और रीति तत्व को काव्य शरीर का अंग रूप स्वीकार किया है। वस्तु-
तः

गुम्फ तथा सम्प्रेषण से निर्मित रीति का मूल आधार गुण हैं और गुण रस के धर्म हैं। अतः गुणों के सम्बन्ध के आधार पर रीति का मूल ~~आधार गुण होते~~ आश्रय रस ही निश्चित होता है। इसकी परिपुष्टि हेतु कहा जा सकता है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने पदों की संघटना में रसौचित्य को प्रमुख नियामक तत्व माना है।[1]

रीति और रस के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्ट विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि इस प्रकार रीति और रस-सम्प्रदायों के दृष्टिकोण भी मूलतः परस्पर विपरीत हैं। रीति-सम्प्रदाय देह को ही जीवन सर्वस्व मानता हुआ आत्मा को उसका एक पोषक तत्व मात्र मानता है और उधर रस सम्प्रदाय आत्मा को मूल तत्व मानता हुआ देह को उसका बाह्य माध्यम मात्र समझता है। दोनों की ओर से समझौते का प्रयत्न हुआ है, परन्तु यह समझौता परस्पर सम्मानपूर्वक नहीं है, रीति रस को अपने उपकरण रूप में ग्रहण करती है और रस रीति को अपने आश्रितवान रूप में स्वीकार करता है। वाणी और अर्थ का वह साम्य समन्वय, जिसका आवाहन कालिदास ने किया है, दोनों की साम्प्रदायिक भावना के कारण सम्भव नहीं हो सका— रीति ने अपने स्वरूप को आवश्यकता से अधिक वस्तुगत बना लिया है और रस ने व्यक्ति के दुलार से अपने स्वरूप को अत्यधिक व्यक्ति-परक।[2]

(३) रीति और अलंकार :—

'विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।' के रूप में आचार्य वामन ने रीति के लिए गुण का समावेश सर्वथा आवश्यक बताया है। उन्होंने गुण को ही काव्य के सौन्दर्य का मूल प्रतिपादक माना है। उनकी मान्यता के अनुसार अलंकार काव्य की शोभा में अभिवृद्धि मात्र करते हैं।[3] इस प्रकार आचार्य वामन ने गुण विशिष्ट रीति को श्रेष्ठ तथा उसका उत्कर्ष करने वाले अलंकारों को उसका अंग माना है। आचार्य वामन का 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।' यह गुण-लक्षण आचार्य दण्डी द्वारा प्रतिपादित 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' अलंकार के इस लक्षण से सर्वथा साम्य रखता है। जिस प्रकार आचार्य दण्डी के अलंकार काव्य की शोभा का सम्पादन करते हैं, उसी प्रकार आचार्य वामन के गुण भी काव्य की शोभा को सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार

1- रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद् विभेदवत् ॥—ध्वन्यालोक, 3/9

2- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० 133

3- काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ॥—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति।

इस तथ्य की पूर्णतया परिपुष्टि हो जाती है। कि आचार्य वामन ने काव्य में अलंकारों की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्व प्रदान किया तथा अलंकारों को उनका उत्कर्षक धर्म कथन किया है। आचार्य वामन की मान्यता के अनुसार रीति का क्षेत्र अलंकारों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। रीति काव्य का अन्तरतत्व है एवं अलंकार बाह्य तत्व।

रीति और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि यह यहीं आकर अलंकार-सिद्धान्त और रीति-सिद्धान्त में अन्तर पड़ जाता है। दोनों का दृष्टिकोण मूल रूप से समान है — दोनों ही काव्य-सौन्दर्य का मूल शब्दार्थ में निहित मानते हैं, दोनों ही अलंकार को समष्टि रूप में काव्यसौन्दर्य का पर्याय मानते हैं। परन्तु अलंकार-सम्प्रदाय जहाँ उपमा आदि अलंकारों को मुख्य रूप से अलंकार और अन्य गुण, वृत्ति, लक्षणा आदि को उपचार रूप से अलंकार मानता है, वहाँ रीतिसम्प्रदाय रीति और गुण को मुख्य रूप से उपमा आदि को गौण रूप से अलंकार मानता है। अर्थात् रीति सम्प्रदाय में गुण अथवा गुणात्मक-रीति की प्रधानता है और उपमादि अलंकारों की स्थिति अपेक्षाकृत हीन है — किन्तु अलंकार-सम्प्रदाय में उनकी स्थिति यदि गुण आदि से श्रेष्ठतर नहीं तो कम से कम उनके समकक्ष अवश्य है।[1]

(3) रीति और ध्वनि :—

ध्वनि तथा रीति सिद्धान्तों की स्वरूप-स्थिति के सम्बन्ध में पर्याप्त पार्थक्य प्राप्त होता है। ध्वनि-सिद्धान्त काव्य में उसकी आत्मा को सर्वस्व मानता है, उसके विपरीत रीति-सिद्धान्त काव्य के शरीर को। रीति-सिद्धान्त का प्रादुर्भाव ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्व हो चुका था अतः उसका प्रभाव ध्वनि-सिद्धान्त पर अवश्यम्भावी है। इस तथ्य को आनन्दवर्धनाचार्य ने सहर्ष स्वीकार किया है। आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ की रचना पूर्ववर्ती समस्त सिद्धान्तों को ध्वनि-सिद्धान्त में समाहित करने के लिए की गयी थी। इस ग्रन्थ में रीति के बाह्य-तत्वों वर्ण योजना और समास का अन्तर्भाव वर्णध्वनि तथा रस-ध्वनि में किया गया है। आचार्य वामन ने रीति को गुणात्मक मानते हुए उसे प्रधानता प्रदान की थी, किन्तु ध्वन्याचार्यों ने उसे संघटना रूप में मानते हुए गुण के आश्रित बताया है। इस प्रकार ध्वनि की अपेक्षा रीति का स्थान गौण हो जाता है। अन्ततः अन्य सिद्धान्तों की भाँति रीतिसम्प्रदाय भी ध्वनि-सिद्धान्त में समाविष्ट हो जाता है।

1- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ0 130

तो माधुर्य ही हो सकता है — ओज नहीं हो सकता, परन्तु रीति दीर्घ समासा भी हो सकती है। इसी प्रकार रौद्र रस में केवल ओज गुण ही होगा, परन्तु रीति असमासा या लघु समासा भी हो सकती है। यह युक्ति अधिक रूप में ही सत्य है क्योंकि रस तो संघटना या रीति केवल रसाश्रित ही नहीं है वक्त्राश्रित भी है — इसका स्पष्टीकरण मम्मट- विश्वनाथ आदि ध्वनि-रसवादियों ने आगे चलकर किया है। समास सापेक्षता वर्णों को अनियत विषय मानना थोड़ा कठिन है। परन्तु यहाँ भी कोई अकाट्य नियम नहीं है। कतिपय कठोर वर्णों का प्रयोग होने पर भी भाव की तीव्रता के द्वारा शृंगारादि रसों का परिपाक सम्भव है, अनुभव-गम्य है। फिर भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि दीर्घ समास और कठोर वर्ण शृंगारादि रसों के और असमास रचना तथा कोमल वर्ण रौद्रादि रसों के परिपाक में बाधक होते हैं। कठोर वर्ण और दीर्घ समास शृंगार रस की पुष्टि में विघ्नकारी होतेहैं, समासहीन पुरुष् पद तथा कोमल वर्णों से रौद्र की दीप्ति का पूर्ण विकास नहीं हो पाता, यह मनोविज्ञान का सत्य सहृदय के प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। स्वयं आनन्द ने भी इसको मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।[1]

आनन्दवर्धनाचार्य की मान्यता के अनुसार रीति गुणों के आश्रित सिद्ध होती है। उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य की उद्घोषणा की है कि माधुर्य आदि गुणों का आश्रय प्राप्त करके यह अर्थात् रीति रसों को अभिव्यक्त करती है।[2] इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का कथन है कि आनन्दवर्धन का मत सर्वथा ग्राह्य है, इसमें कोई सन्देह ही नहीं। रीति गुण के आश्रित है — शब्द-गुम्फ, वर्ण - गुम्फ रूपिणी पद-रचना का स्वरूप माधुर्य,ओज आदि के द्वारा ही निर्धारित होता है। रीति का मुख्य कार्य है रस की अभिव्यक्ति करना और रस की अभिव्यक्ति यह प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकती गुण के आश्रय से ही कर सकती है। यह माधुर्य, ओज और प्रसाद के द्वारा चित्त को द्रवित , दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस-दशा तक पहुँचाने में सहायक होती है। अतएव आनन्दवर्धन के मत को स्वीकार करने में तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। रीति गुण के आश्रित है — इसमें सन्देह नहीं, परन्तु गुण भी रीति निरपेक्ष नहीं है। उपचार से तो आनन्द भी यह मान लेते हैं।[3]

रौद्रादिष्वसमासा चेति । ----- तत्रास्य संघटनास्वरूपस्य न च संघटनाश्रया गुणाः ॥
— ध्वन्यालोक, पृ० 337-40 डा०आ०जगन्नाथ पाठक

1- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० 95

2- गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा।
रसान् ---------। —ध्वन्यालोक, 3/6

3— भारतीय काव्यशास्त्र० 95-96

इस प्रकार रीति और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि रीति और गुण का एकत्व सम्बन्धी कथन सर्वथा अस्वीकरणीय है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। मुख्य रूप से गुण रीति का आश्रय कहा जा सकता है, किन्तु व्यावहारिक रूप में गुण भी रीति के आश्रित माने जा सकते हैं।

समालोचना :—

रीति-सम्प्रदाय के आचार्यों ने अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों की अपेक्षा काव्य के मूल रूप को अत्यधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। इन आचार्यों की मान्यता के अनुसार रीति का सम्बन्ध कवि-स्वभाव से होता है। कवि अपनी स्वाभाविक स्थिति के अनुसार जिस रूप में विषय के अनुकूल पदों की योजना करता है, वह रीति-संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यह रीति तत्व मार्ग, संघटना तथा प्रस्थान आदि अन्य समानार्थक शब्दों से भी अभिहित हुआ है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में यह भौगोलिक सीमा में पूर्णतया आबद्ध रहा है, किन्तु क्रमशः अनुकूल आचार्यों का सम्बल प्राप्त कर यह कवि के स्वभाव का वर्णनीय विषय बन गया। भामह, दण्डी तथा कुन्तक आदि प्रारम्भिक आचार्यों ने रीति को 'मार्ग' शब्द से अभिहित किया था। सर्वप्रथम आचार्य वामन ने रीति संज्ञा को आविर्भूत करके काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित किया। उन्होंने काव्य की शोभा के प्रतिपादक शब्द तथा अर्थ के धर्मों से गुणविशिष्ट पद-रचना को रीति कहा है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आचार्य वामन ने शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर के विशिष्ट संघटन को ही रीति की मान्यता प्रदान की है। अतः इस आधार पर आचार्य वामन की मान्यता के अनुसार काव्य-शरीर ही आत्मस्थान का अधिकारी सिद्ध होता है। आचार्य दण्डी ने काव्य की शोभा के प्रतिपादक सभी तत्वों को अलंकार की संज्ञा प्रदान की थी, अतः उनके मत में गुण भी अलंकारों में अन्तर्निहित हो जाते हैं। इसके विपरीत आचार्य वामन ने अलंकार तथा गुण के पार्थक्य को पूर्णतया स्पष्ट किया। अपने इस स्पष्टीकरण में उन्होंने काव्य की शोभा के प्रतिपादक तत्वों को गुण तथा उस शोभा के अभिवृद्धि करने वाले तत्वों को अलंकार की संज्ञा प्रदान की। इस प्रकार आचार्य वामन ने गुण तथा अलंकार के पार्थक्य को स्पष्ट करके अलंकारों की अपेक्षा गुणों को उत्कृष्ट बतलाया। गुण काव्य में नित्य रूप से रहते हैं, उनके अभाव में काव्य शोभा-विहीन हो जाता है।[1] जिस प्रकार यौवन के

1- पूर्वे नित्याः।
पूर्वे गुणाः नित्याः तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः। — काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 3/1/3वृत्ति

उपर्युक्त विभिन्न तर्कों के आधार पर काव्य में रीति का स्थान रसादि की अपेक्षा अत्यन्त गौण सिद्ध हो जाता है, किन्तु फिर भी काव्य में उसका पृथक् वैशिष्ट्य है। रीति-सम्प्रदाय के पूर्व अलंकार-सम्प्रदाय अपने विकास की चरमावस्था पर विद्यमान था। अतः ऐसी स्थिति में रीति-सम्प्रदाय का अस्तित्व सर्वथा नगण्य होना चाहिए, किन्तु ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता। अलंकारमतानुयायियों की अपेक्षा आचार्य वामन काव्य की आत्मा का नेतृत्व प्राप्त करने में अधिक समर्थ सिद्ध हुए हैं। उन्होंने गुणों की आधार-भूमि पर रीति का स्वरूप निर्मित करके प्रशंसनीय स्थिति को प्राप्त किया है, क्योंकि काव्य शोभा के प्रतिपादक धर्म गुण रस के आवश्यक अंग माने गये हैं। उनके अभाव में काव्य काव्यत्व की उचित स्थिति प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ हो जायेगा। अतः रीति को काव्य की आत्मा रूप मान्यता न प्राप्त होने पर भी काव्य में उसका महत्वपूर्ण रूप से सिद्ध हो जाता है।

रीति-सम्प्रदाय के वैशिष्ट्य का विवेचन करते हुए डा0 विजय बहादुर अवस्थी ने अपने 'रीति-सिद्धान्त' नामक निबन्ध में लिखा है कि भारतीय काव्यशास्त्र को रीति-सिद्धान्त की सबसे बड़ी देन है —— रीति के आधार-भूत गुणों की प्रतिष्ठा। वामन ने दस शब्द-गुणों तथा दस - अर्थ- गुणों के विवेचन द्वारा काव्य के सभी तत्वों को समाविष्ट कर लिया है। अतः वामन का रीति-सिद्धान्त अपने आप में बड़ा ही व्यापक है। यह सत्य है कि वामन का रीति-सिद्धान्त लोकप्रिय एवं मान्य न हो सका, किन्तु उसकी व्यापकता असंदिग्ध है। इस सिद्धान्त में आधुनिक आलोचनाशास्त्र के अनुसार काव्य के चारों तत्व (राग-तत्व, बुद्धि-तत्व, कल्पना-तत्व और शैली-तत्व) विद्यमान हैं। अतः इसे एकांगी नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त रीति सिद्धान्त द्वारा शैली की महत्ता की प्रतिष्ठापना की गई। जो अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि शैली (अभिव्यञ्जना-कला) के अभाव में विचार की समृद्धि तथा भाव का सौन्दर्य—— दोनों ही काव्यत्व के अधिकार से वंचित रहते हैं और उनका कोई विशेष महत्व नहीं रहता। अतः शैली-तत्व की अनिवार्यता सन्देह-रहित है। रीति-सिद्धान्त ने इसी (शैली)तत्व) पर बल देकर एक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया है। रीति-सिद्धान्त की अन्य महत्वपूर्ण देन है——

सौन्दर्य की प्रतिष्ठा, और यह सौन्दर्य अत्यन्त व्यापक आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित है। वामन ने 'सौन्दर्यमलंकार' कहकर सौन्दर्य और अलंकार में तादात्म्य स्थापित किया तथा 'स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्' कहकर अलंकार के अन्तर्गत गुणों और दोषों के अभाव को सम्मिलित कर उसे अत्यन्त व्यापक बना दिया। इस प्रकार वामन का रीति-सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है।[1] ———— 1- भारतीय काव्यशास्त्र पृ0 432 सम्पादक डा0 उदयभानु सिंह

षष्ठ अध्याय

ध्वनि - सम्प्रदाय

" 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः समाम्नात पूर्वः '

—— आनन्दवर्द्धन

ध्वनि-सम्प्रदाय

"काव्य को पुरुष मानकर उसकी आत्मा के सम्बन्ध में जीवात्मा की भाँति ही अनेक प्रकार के वाद भारतीय साहित्यशास्त्र में प्रचलित हैं। तथापि जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में शंकर का अद्वैतवाद मूर्धन्य माना जाता है, साहित्यशास्त्र में आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यात्मवाद की प्रतिष्ठा भी वैसी ही महनीय एवं सर्वातिशायिनी है।"[1]

डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी

ध्वनि-सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्द्धन के पूर्व काव्यशास्त्रीय परिक्षेत्र में रस, अलंकार तथा रीति नामक तीन सम्प्रदायों की प्रतिष्ठापना हो चुकी थी। भरत, भामह तथा वामन आदि मूर्धन्य आचार्यों ने अपनी अपनी अभिरुचि के अनुसार इन तत्वों को पृथक् पृथक् रूप में काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया था। इसी परिप्रेक्ष्य में आनन्दवर्द्धनाचार्य ने 'ध्वनि' नामक नवीन तत्व की उद्भावना करके उसे काव्य की आत्मा रूप महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया। ध्वनि की काव्यात्मरूप प्रतिष्ठापना के समय रस तथा अलंकार नामक तत्वों का प्रभाव धूमिल पड चुका था, किन्तु रीति-तत्व अपनी महत्वपूर्ण स्थिति पर विद्यमान था। ऐसी स्थिति में ध्वनि-तत्व की काव्यात्मरूप नवीन मान्यता की स्वीकारात्मक स्थिति सन्देहास्पद ही कही जा सकती है, किन्तु उसके प्रतिष्ठापक की कुशाग्र मेधा ने काव्यशास्त्रीय आचार्यों को स्वीकारात्मक स्थिति पर विद्यमान रहने के लिए सर्वथा विवश कर दिया। यही कारण है कि उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यों तथा समालोचकों ने काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में ध्वनि-सम्प्रदाय की मान्यता को ही मान्य बनाया है।

(1) 'ध्वनि' का शाब्दिक अर्थ —

'ध्वन्' शब्दे' धातु से कर्ता, कर्म, करण अथवा अधिकरण अर्थ में 'इ' प्रत्यय को संयुक्त करने से 'ध्वनि' शब्द का शाब्दिक स्वरूप निर्मित होता है। 'ध्वन्यालोक' की व्याख्या करते समय आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी 'लोचन' टीका में 'ध्वनि' शब्द को पाँच अर्थों में प्रयुक्त किया है।[2] इस प्रायोगिक स्थिति को आचार्य विश्वेश्वर ने इस

1- काव्यशास्त्र, पृ0 79 सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

2- तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। संमिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यंग्योऽपि ध्वनिः ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः सोऽपि ध्वननं ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्। पंचापि ध्वनिवादौ

इस रूप में प्रस्तुत किया है[1] —

(1)ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकः शब्दः ध्वनिः — जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक शब्द ध्वनि है।

(2)ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकोऽर्थः ध्वनिः — जो ध्वनितकरे या कराये, वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।

(3)ध्वन्यते इति ध्वनिः, — जो ध्वनित किया जावे वह व्यंग्य अर्थ ध्वनि है। इसमें रस अलंकार और वस्तु तीनों प्रकार के व्यंग्य आ जाते हैं।

(4)ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः — जिसके द्वारा ध्वनित किया जाता है, वह ध्वनिहै। इससे शब्द अर्थ के व्यापार व्यंजना शक्ति का बोध होता है।

(5)ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः — जिसमें वस्तु अलंकार तथा रस आदि ध्वनियाँ विद्यमान रहती हैं, वह काव्य ध्वनि है।

आचार्य जगन्नाथ पाठक के अनुसार अन्य सभी अर्थों में व्युत्पत्तिः और व्यवहारतः ध्वनि शब्द का प्रयोग होने पर भी मुख्यतः व्यंग्य अर्थ ही ध्वनि शब्द से अभिहित होता है और वह भी शब्द और अर्थ को अतिशयित करके चारूत्वातिशय के कारण प्रधान रूप से प्रतीयमान हो तब ध्वनि कहलाता है। व्यंग्य अर्थ की स्थिति में ही वाच्यादि भी 'ध्वनि' शब्द से वाच्य हो सकते हैं।[2]

<u>(2)ध्वनि का प्रेरणा-स्रोत :—</u>

ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना का प्रेरणा-स्रोत वैयाकरणों का 'स्फोटवाद' नामक सिद्धान्त निश्चित होता है। व्याकरण को प्राचीनकाल से ही सभी शास्त्रों का आधार माना गया है। किसी भी शास्त्र का अध्ययन करने से पूर्व उसके व्याकरण का अध्ययन सर्वथा आवश्यक होता है। 'ध्वनि' शब्द की प्रायोगिक स्थिति का अवलोकन सर्वप्रथम व्याकरण में ही होता है। वैयाकरणों ने ध्वनि का आधार 'स्फोटवाद' को स्वीकार किया है। 'स्फोटवाद' एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसस्थिति के अनुसार किसी भीशब्द की रचना वर्णों द्वारा सम्पन्न की जाती है। शब्द का उच्चारण

— येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुव्रीह्यर्थाश्रयेण यथोचितं सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम्।

— लोचन पृ० 141-43 व्या० आचार्य जगन्नाथ पाठक

1- ध्वन्यालोक, भूमिका, पृ० 3 व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि।

2- ध्वन्यालोक, पञ्चमी, पृ० 10 व्याख्याकार आचार्य जगन्नाथ पाठक

करने पर वर्णों का क्रमशः उच्चारण होता है और वे वर्ण क्रमशः कर्ण के आकाश देश में पहुँचते हुए बुद्धि द्वारा प्रतीत होते हैं। परन्तु प्रथम वर्ण के पहुँचने के पश्चात् तुरत द्वितीय वर्ण ~~नष्ट हो~~ के पहुँचने पर प्रथम वर्ण नष्ट हो जाता है, द्वितीय वर्ण के पहुँचनेके ~~पर~~ -चात तृतीय वर्ण के पहुँचने पर द्वितीय वर्ण नष्ट हो जाता है। इस प्रकार किसी भी शब्द का उच्चारण करने पर उसका अन्तिम वर्ण ही अवशिष्ट रह पाता है। इस अन्तिम वर्ण से अर्थ की प्रतीति के लिए यदि यह कहा जाय कि इस अन्तिम वर्ण से ही अर्थ की प्रतीति होती है तोपूर्व वर्णों की व्यर्थता सिद्ध होती है और यदि यह कहा जाय कि सभी वर्णों के समुदाय से अर्थ की प्रतीति होती है तो शब्द काउच्चारण करने परसभी वर्ण उपस्थित नहीं रहते। उदाहरण के रूप में 'राम' शब्द को लिया जा सकता है। राम' शब्द में चार वर्ण हैं —— र् + आ + म् + अ। उच्चारण करते समय इनकी स्थिति एक साथ नहीं हो सकती। 'र्' वर्ण का उच्चारण करने के पश्चात् 'आ'वर्ण का उच्चारण करने पर 'र्' वर्ण नष्ट हो जाता है।'आ' वर्ण का उच्चारण करने के पश्चात् 'म्' वर्ण का उच्चारण करने पर 'आ' वर्ण नष्ट हो जाता है। इसीप्रकार 'म्' वर्ण का उच्चारण करने के पश्चात् 'अ' वर्ण का उच्चारण करने पर 'म्' वर्ण नष्ट हो जाता है। अन्ततः 'अ' वर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। इस अवशिष्ट 'अ' वर्ण से अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति सर्वथा असम्भव हो जाती है। अर्थ की प्रतीति को सम्भव बनाने में 'स्फो-टवाद' की शक्ति ही कार्य करती है। इसके अनुसार चूंकि वर्ण बुद्धि से ग्रहण किएजाते हैं अतः र् के पश्चात् आ आ के पश्चात् म् तथा म् के पश्चात् अ वर्ण का उच्चारण किए पर अन्तिम अवशिष्ट 'अ' वर्ण के पूर्ववर्ती म् आ तथा र् वर्णों के नष्ट हो जाने पर भी बुद्धि में इनका संस्कार विद्यमान रहता है। अन्तिम वर्ण का अनुमान पूर्ववर्णों के संस्कारों के साथ मिलकर सम्पूर्ण शब्द को उपस्थित करके अर्थ की अभिव्यक्ति कर देता है। वर्णों की उत्पत्ति इन्द्रियों के संयोग तथा वियोग से मानी जाती है। मुख से जिह्वा, तालु तथा ओष्ठ आदि के पारस्परिक टकराव तथा अलगाव से वर्णों का उच्चारण होता है, पर-न्तु जिस वर्ण का उच्चारण किया जाता है, वह शून्यमय नहींहोता। उच्चरित शब्द उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, परन्तु नष्ट होने से पूर्व वह तरंग के रूप में एक नये शब्द को उत्पन्न कर देता है। यह नवीन शब्द नष्ट होकर और अधिक व्यापक शब्द-तरंग को उत्पन्न करता है। इस प्रकार इन शब्द तरंगों का विस्तार क्रमशः बढ़ता जाता है और अन्ततः शब्द तरंगों का यह विस्तार श्रोता के कर्ण विवर में प्रवेश करता है। इस क्रिया को 'वीचीतरंगन्याय' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। घण्टे का अनुरणन

रूप ध्वनि स्फोट रूप शब्द के अर्थ को प्रस्फुटकरती है। स्फोट की स्थिति बुद्धि में उसी प्रकार अवस्थित रहती है, जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि अन्तर्निहित रहती है। जिस प्रकार काष्ठ की रगड़ से उत्पन्न अग्नि स्वयं को प्रकाशित करती हुई अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार ध्वनि द्वारा व्यंजित स्फोट स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अर्थ को भी प्रकाशित करता है। इस प्रकार वैयाकरण आचार्यों ने स्फोट के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले शब्द को ध्वनि की संज्ञा प्रदान की है।

ध्वनि सम्प्रदाय के संस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य ने वैयाकरणों के स्फोटवाद' (स्फुटति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः') को ही अपने ध्वनि सिद्धान्त के निरूपण करने का आधार स्वीकार किया है। उन्होंने ध्वनि का लक्षण प्रस्तुत करने वाली अपनी कारिका में आगत 'सूरिभिः कथितः' पदों का विश्लेषण करते हुए वृत्ति भाग में लिखा है कि ध्वनि-तत्व का विवेचन प्राचीन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किया गया है, अतः हमारा ध्वनि तत्व का विवेचन कार्य सर्वथा निराधार नहीं कहा जाना चाहिए। सभी विद्याओं का मूल रूप व्याकरण निश्चित होने के कारण प्राचीन विद्वानों के रूप में वैयाकरणों का ग्रहण कियाजायेगा। वैयाकरणों ने सुनायी पड़ने वाले वर्णों के लिए ध्वनि शब्द को प्रयुक्त किया है। इसी प्रकार उनके मत का अनुसरण करने वाले काव्यार्थ स्वरूप के विवेचक काव्याचार्यों ने वाच्य वाचक इनका सम्मिश्रण(व्यंग्यार्थ) शब्दात्मा (व्यंजना व्यापार) तथा काव्य आदि के लिए 'ध्वनि' शब्द को प्रयुक्त किया।[1] इसी प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य की इस मान्यता की परिपुष्टि करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है कि वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोट रूप व्यंग्य अर्थ की अभिव्यंजना करने वाले शब्द के लिए ध्वनि पद का प्रयोग किया है। इसके पश्चात् उनके मत का अनुसरण करने वाले अन्य आचार्यों द्वारा भी व्यंग्यार्थ की अभिव्यंजना में समर्थ शब्दार्थ युगल के लिए ध्वनि शब्द को प्रयुक्त कियागया।[2]

1- सूरिभिः कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः, शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः॥ —ध्वन्यालोक, 1/13 परवृत्ति।

2- बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।

— काव्यप्रकाश, 1/4 वृत्ति

निष्कर्षतः व्याकरण आचार्यों ने सर्वप्रथम स्फोट के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है। उनकी मान्यता में स्फोट व्यंग्य है तथा ध्वनि व्यंजक। इसी मान्यता के आधार मानकर काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने शब्दार्थयुगल के लिए ध्वनि शब्द को प्रयुक्त किया।

(3)ध्वनि का ऐतिहासिक विकासक्रम :——

काव्यशास्त्रीय इतिहास में आनन्दवर्द्धनाचार्य को ध्वनि सम्प्रदाय का संस्थापक माना गया है, किन्तु किंचित् प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर इस तथ्य की पूर्णतया परिपुष्टि होती है कि उनके पूर्व ही ध्वनि तत्त्व की महत्ता स्वीकार कर ली गयी थी। इस तथ्य को आनन्दवर्द्धनाचार्य ने स्वयं स्वीकार किया है।[1] इस तथ्य की विशिष्ट परिपुष्टि लोचन टीका में आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है कि ध्वनि-तत्त्व का विवेचन-कार्य अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा था, किन्तु 'ध्वन्यालोक' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में उसे सन्निविष्ट नहीं किया गया।[2] इसी प्रकार अन्य अनेक आधारों पर यह निश्चित होता है कि ध्वनि का विकास-क्रम अति प्राचीन काल से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सम्पन्न हुआ है।

रामायण :——

ध्वनि-सिद्धान्त के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्द्धन के अनुसार ध्वनि के स्वरूप का प्राचीन तम रूप आदिकाव्य रामायण तथा महाभारत आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[3] लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्द्धनाचार्य के उक्त कथन की परिपुष्टि करते हुए लिखा है कि आदिकाव्य रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि आदि मुनियों ने

1- काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आ समन्तात् म्नातः प्रकटितः।— ध्वन्यालोक, 1/1 तथा वृत्ति।

2- बुधस्यैकस्य प्रामाणिकमपि तथाभिधानं स्यात्, न तु भूयसां तदयुक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरुक्तं विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनमित्यभिप्रायः।

लोचन पृ० 11 व्या० आ० जगन्नाथ पाठक

— ध्वन्यालोक, 1/1 पर वृत्ति पृ० 37

3- अत्र च रामायणमहाभारतप्रभृतीनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते। — ध्वन्यालोक, 1/1 पर वृत्ति, पृ० 37

इस ध्वनि तत्व को पर्याप्त आदर भाव प्रदान किया है।[1] हेमन्त ऋतु का वर्णन करते समय महर्षि वाल्मीकि ने एक स्थान पर लिखा है कि हेमन्त ऋतु में सूर्य से संक्रान्तरूप सौभाग्य प्राप्त करने वाला चन्द्र तुषाराच्छादित मण्डलवाला होकर 'निःश्वासान्ध अर्थात् मलिन दर्पण के समान प्रकाशित नहीं हो रहा है।[2] यहाँ नेत्रहीन वाचक अन्ध शब्द का दर्पण तथा चन्द्र में मुख्यार्थ-बाध होने से लक्षण-लक्षणा द्वारा चन्द्र का अप्रकाशित रूप अर्थ लक्षित हो रहा है तथा अप्रकाशातिशय रूप ध्वनित हो रहा है। इस प्रकार इस श्लोक को अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि का उदाहरण कहा जायेगा।

महाभारत :—

अष्टादश पुराणों के रचयिता महर्षि व्यास ने महाभारत मे कलियुग के स्वरूप का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि इस युग का हर क्षण सुखों से रहित तथा दुःखों से परिपूर्ण होगया है। दिन प्रतिदिन पापी व्यक्तियों का आधिक्य होने से गतयौवना पृथ्वी के अनिष्टकारक दिन आ रहे हैं।[3] यहाँ अतिक्रान्त तथा प्रत्युपस्थित में 'क्त' प्रत्यय रूप कृत से पापीय में 'छ' प्रत्यय रूप तद्धित से श्वः श्वः में बहुवचन से निर्वेद की अभिव्यंजना करते हुए असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा पृथिवी गतयौवना पद से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि अभिव्यक्त होती है। इसके अतिरिक्त इसके शान्ति पर्व में प्राप्त होने वाला गृध्र-गोमायु संवाद प्रबन्ध ध्वनि का स्पष्ट उदाहरण सिद्ध होता है।[4]

महाकवि कालिदास के कवि - स्वरूप के उद्बोधक अनेक काव्यों में ध्वनि के स्वरूप की प्राप्ति होती है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में नायिका के वियोग में नायक कह रहा है कि प्रिया का असह्य वियोग ही अतीव दुष्कर था और उस पर नवीन बादलों से आच्छादित होने के कारण आतप-रहित रमणीय वर्षा के दिन आ गये।[5] यहाँ प्रिया-

---

1- रामायणमहाभारतप्रभृतिनादिकवेः प्रभृति सर्वैरेव सूरिभिरव्यादरः कृत इति दर्शयति।
— ध्वन्यालोक लोचन, पृ0 39

2- रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।— वाल्मीकि रामायण।

3- अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः ।
श्वः श्वः पापीय दिवसाः पृथिवी गतयौवना।— महाभारत

4- महाभारत शान्तिपर्व, 152/11-89

5- अपनेष्यदेतदबलावियोगः प्रियतमोपनतः सुदुःसहो मे।
नवबारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः। — विक्रमोर्वशीय, 4/10 कालिदास

वियोग के साथ काकतालीयन्याय' से बड़ी बात भी उपस्थित हो गया है, जो गण्डस्थल के ऊपर स्फोट के समान प्राणों को नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार 'च' रूप निपातद्वय के द्‌वारा उद्‌दीपन विभाव की अभिव्यक्ति होती है।[1] 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के तृतीय अंक में दुष्यन्त का कथन है कि शकुन्तला ने बार बार अपनी उँगलियों से अध-रोष्ठ आच्छादित किया था, मेरी मुख चुम्बन रूपी इच्छा को अस्वीकार करते समय उसका मुख विह्वल होते हुए भी मनोहर लग रहा था। मेरी इच्छा के विरोध में कभी कभी उसका मुख सामने से हटकर कन्धों पर अवस्थित हो जाता था। इस प्रकार सुन्दर नेत्रों वाली उस शकुन्तला के मुख को मैंने किसी प्रकार उठा तो लिया था किन्तु चुम्बन न कर सका।[2] इस श्लोक में आगत 'तु' निपात पश्चात्ताप का अभिव्यंजक तथा चुम्बन से कृतकृत्य हो जाने की भावना का सूचक होने से श्रृंगार रस का ध्वनिकारक सिद्ध हुआ है।[3] इसी प्रकार अन्य महाकवियों के काव्यों में भी अनेक ध्वनि तत्व के प्रतिपादक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

भामह :—

आचार्य भामह को अलंकार सम्प्रदाय का आचार्य सिद्ध किया गया है। उन्हें मुख्य रूप से अभिधावादी आचार्य ही कहा जाता है, किन्तु उनके विवेचन में प्रतीयते, व्यज्यते, गम्यते तथा विभाव्यते[4] आदि शब्दों को प्राप्त कर डा0 शैल शंकर व्यास आदि समालोचकों ने अभिधावादी के साथ ही साथ व्यंजनावादी आचार्य के रूप में भी स्वीकार किया है।[5] इसी परिप्रेक्ष्य में पण्डितराज जगन्नाथ ने लिखा है कि ध्वनिकार से प्राचीन भामह तथा उद्‌भट आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी गुणीभूत व्यंग्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया है— केवल इसीलिए स्वीकार करना कि वे ध्वनि आदि को नहीं स्वीकार करते — यह आधुनिक समालोचकों का अभिमत सर्वथा युक्ति युक्त नहीं कहा जायेगा, क्योंकि समासोक्ति, व्याज-

---

1- काकतालीयन्यायेन गण्डस्योपरि स्फोट इतिवत् तद्‌वियोगवद्‌वर्षासमयश्च समुपनतः एतत्तं प्राणहरणाय। अतएव रम्यपदेन सुतरामुद्‌दीपनविभावत्वमुक्तम्।—

—— ध्वन्यालोक-लोचन, पृ0 386

2- मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥—अभिज्ञानशाकुन्तल, 3/38

3- पश्चात्तापसूचकः सन् तावन्मात्रपरिचुम्बनलाभेनापि कृतकृत्यता स्यादिति ध्वनतीति भावः।

— ध्वन्यालोक लोचन, पृ0 386

4- काव्यालंकार, 2/34, 79, 85 भामह, 5— ध्वनि सम्प्रदाय तथा उसके सिद्धान्त, 372

स्तुति अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों के विवेचन में उन्होंने गुणीभूतव्यंग्य के कई भेदों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सम्पूर्ण व्यंग्य-प्रपंच को पर्यायोक्त नामक अलंकार में अन्तर्निहित कर दिया है। अनुभवसिद्ध अर्थ को तो बालक भी अस्वीकार नहीं कर सकता, फिर भामह आदि आचार्य प्रतीयमानार्थ का सर्वथा निषेध कैसे कर सकते हैं। यह ठीक है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में ध्वन्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। इससे उनकी ध्वनि विषयक अस्वीकृति सिद्ध नहीं होती है। यह विचारणीय बात और है कि उन्होंने प्रधानभूत ध्वनि रूप अलंकार्य को अलंकार की परिधि में कैसे अन्तर्भावित कर दिया।[1] इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त के विकास में आचार्य भामह के प्रयत्न को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। उनके काव्यशास्त्रीय विवेचन में ध्वनि तत्व के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं।

दण्डी :—

ध्वनि-सिद्धान्त के विकास में भामह के समान आचार्य दण्डी का भी महत्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। अलंकारवादी आचार्य होने के कारण उन्हें पूर्ण रूप से ध्वनि समर्थक आचार्य तो नहीं कहा जा सकता है, किन्तु उन्होंने ध्वनि के स्वरूप को सर्वथा स्वीकार किया है। काव्यादर्श में स्थान स्थान पर प्राप्त होने वाले उदाहरण उनकी इस स्वीकारोक्ति को परिपुष्ट करते हैं। डा० गया प्रसाद उपाध्याय ने विभिन्न प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर आचार्य दण्डी के ध्वनिवादी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए निष्कर्ष रूप में लिखा है कि आचार्य दण्डी को भी भामह की भांति अलंकारों में गुणीभूतव्यंग्य का चमत्कार तो स्पष्ट प्रतीत हुआ परन्तु वे इस प्रतीति के लिए अन्य वृत्ति की कल्पना न कर सके। वस्तुतः साहित्य में वृत्तियों-शब्द-शक्तियों का विवेचन प्रारम्भ ही नहीं हुआ था। फिर भी दण्डी ने अभिधेय, लाक्षणिक एवं प्रतीयमानार्थ में स्पष्ट भेद किया है। अर्थ के त्रिविधत्व के स्पष्ट संकेत काव्यादर्श में विद्यमान हैं। इनमें प्रतीयमानार्थ में उनको सर्वाधिक आकर्षण था। व्यंजना के विकास-क्रम

1- ध्वनिकारात्प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यंग्यादि शब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्ते इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यतः समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलंकारनिरूपणेन कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यंग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः। अपरंच सर्वोऽपि व्यंग्यप्रपंचः पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्तः। नह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतुं शक्यते। ध्वन्यादिशब्दैः परं व्यवहारो न कृतः। नह्येतावताऽस्वीकारो भवति। प्राधान्यात्तत्कार्यो हि ध्वनिरलंकारस्य पर्यायोक्तस्य कुक्षौ कथंकारं निक्षिप्ततामिति तु विचारान्तरम्॥

— रसगंगाधर, पृ० 658

में काव्यादर्श उच्चतर सीढ़ी है। आचार्य दण्डी ने अपने उदाहरणों की व्याख्या का उत्तेख करके अधिक बहुमूल्य कार्य किया है। स्थान स्थान की व्याख्या में जो जो अर्थ आचार्य को अभीष्ट है, उनमें से अधिकतर व्यंग्य ही हैं।[1]

__उद्भट :—__

ध्वनि के विकास क्रम में आचार्य उद्भट का योगदान भी यत्किंचित् रूप में निश्चित होता है। उन्होंने पर्यायोक्त अलंकार के निरूपण में अवगमन व्यापार नाम प्रस्तुत किया है।[2] आचार्य अभिनवगुप्त ने इस व्यापार को व्यंजना व्यापार स्वीकार किया है।[3] उनका कथन है कि अभिधा तात्पर्य तथा लक्षणा से पृथक् यह चतुर्थ व्यापार है जिसे ध्वनन, द्योतन व्यंजन, प्रत्यायन तथा अवगमन आदि विविध संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है।[4] इस प्रकार आचार्य उद्भट के समय तक ध्वनि के स्वरूप की पूर्ण सत्ता प्राप्त होती है।

__वामन :—__

ध्वनि सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती आचार्यों में आचार्य वामन का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। उन्होंने रीति तत्व को काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व घोषित करते हुए उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। इस प्रकार ध्वनि तत्व के प्रति उनकी निष्ठा अत्यल्प ही कही जायेगी, किन्तु उन्होंने काव्य में ध्वनि के महत्त्व को निर्विरोध रूप से स्वीकार किया है। इस स्वीकारोक्ति के स्पष्टीकरण में डा0 नगेन्द्र का यह कथन सर्वथा युक्ति युक्त प्रतीत होता है कि वामन के 'शब्द गुणों' में कई ध्वनि ~~की प्रच्छन्न स्वीकृति है, तथा~~ का संकेत है, 'अर्थगुण' ओज के अन्तर्गत अर्थ प्रौढ़ि के कई रूपों में भी ध्वनि की प्रच्छन्न स्वीकृति है। समास के भेद में केवल निमित्त कह देने से ही विवक्षित का व्यक्तित्व ध्वनित हो जाता है, इसी प्रकार साभिप्राय विशेषण' में पर्यायध्वनि का ही प्रकारान्तर से वर्णन है। अर्थगुण कान्ति में तो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि की प्रत्यक्ष स्वीकृति है ही।[5]

1- ध्वनि सिद्धान्त और व्यंजनावृत्ति विवेचन— पृ0 16

2- पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।

वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।— काव्यालंकारसारसंग्रह, 4/6 उद्भट

3- अतएव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यंग्येनोपलक्षितं।—ध्वन्यालोक लोचन, पृ0 118 व्या० आ० जगन्नाथ प

4- तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थो सौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यंजनप्रत्यायनावगमनादि शब्दान्तरव्यपदेशनिरूपितो भ्युपगन्तव्यः।— ध्वन्यालोक लोचन पृ0 60

5- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति भूमिका, 184 व्याख्याकार डा0 नगेन्द्र

रूद्रट :—

'काव्यालंकार' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के रचयिता आचार्य रूद्रट के आलंकारिक विवेचन द्वारा इस तथ्य की पूर्णतया स्वीकारोक्ति प्राप्त होती है कि उन्हें ध्वनितत्व के प्रति अनास्था नहीं थी। 'भाव' नामक अलंकार के विवेचन में आचार्य रूद्रट ने जिन दो उदाहरणों [1] को प्रस्तुत किया है, उन्हें मम्मट तथा आनन्दवर्द्धन आदि प्रसिद्ध ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वन के स्वरूप का विश्लेषण करते समय बिना किसी भेद भाव के अपने ग्रन्थों में अवतरित किया है।[2] इसी प्रकार परिसंख्या, गम्योपमा, समासोक्ति, अन्योक्ति तथा व्याजश्लेष आदि अन्य अलंकार भी उनकी ध्वनि स्वीकारोक्ति के साधन सिद्ध होते हैं।

आनन्दवर्द्धन :—

भामह, दण्डी, उद्भट, वामन तथा रूद्रट आदि आचार्यों की ध्वनि संबंधी प्रच्छन्न भावना को आनन्दवर्द्धनाचार्य ने 'ध्वन्यालोक' के रूप में मूर्त रूप प्रदान किया। यह ग्रन्थ चार उद्योतों में विभक्त किया गया है, जिनमें ध्वनि का प्रौढ़ स्वरूप समाविष्ट दिखायी पड़ता है। इसी आधार पर काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने आनन्दवर्द्धनाचार्य को ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक स्वीकार किया है। आनन्दवर्द्धनाचार्य के पूर्व ध्वनि सिद्धान्त का अविकसित स्वरूप काव्यशास्त्रीय परिक्षेत्र में प्रस्तुत हो चुका था। उन्होंने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार भी किया है।[3] रामायण, महाभारत, कालिदासीय तथा अन्य कवियों की काव्य-रचनाओं एवं भामह, दण्डी, उद्भट, वामन तथा रूद्रट आदि काव्याचार्यों के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनि का विस्तृत स्वरूप प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ध्वनि सिद्धान्त का आविर्भाव उसके प्रतिष्ठापक के पूर्व ही हो चुका था किन्तु वह अव्यवस्थित रूप में

1- ग्रामतरूणं तरूण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवतिमुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥
एकाकिनी यदबला तरूणी तथाहमस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्॥
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥
काव्यालंकार, 7/39, 41 रूद्रट

2- ग्रामतरूणं तरूण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥
अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसंकेता नागतेति व्यंग्यं गुणीभूतं तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात्॥
काव्यप्रकाश, श्लोक 3 तथा उसकी व्याख्या

विद्यमान था। आनन्दवर्धनाचार्य की कुशाग्र बुद्धि ने उसके इस अव्यवस्थित स्वरूप को एक निश्चित व्यवस्था में सन्निबद्ध कर दिया। इसके परिणाम स्वरूप रस, अलंकार तथा रीति नामक पूर्ववर्ती सिद्धान्तों ने इसके समक्ष अपना सर्वस्व समाप्त कर दिया। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक ने समस्त काव्यशास्त्रीय आचार्यों को इस स्वीकारोक्ति के लिए सर्वथा विवश कर दिया कि ध्वनि तत्व काव्य की आत्मा है।

अभिनवगुप्त :—

ध्वनि सम्प्रदाय इतना लोकप्रिय न होता यदि अभिनवगुप्त की प्रतिभा का प्रसाद उसे न मिलता। उनके 'लोचन' का वही गौरव है जो 'महाभाष्य' का है। अभिनव ने अपनी मत्त्वशाली प्रज्ञा और प्रौढ़ विवेचना के द्वारा ध्वनि विषयक समस्त भ्रान्तियों तथा आक्षेपों को निर्मूल सिद्ध कर दिया और उधर रस की प्रतिष्ठा को अकाट्य शब्दों में स्थित किया।[1] आचार्य अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' टीका लिखकर ध्वनि सम्प्रदाय के प्रति अपनी औपचारिक भावना का प्रदर्शन किया है। यह टीका मूल ग्रन्थ से भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। इसमें ध्वन्यालोक की मान्यताओं का विशदीकरण करने के साथ ही साथ आचार्य अभिनवगुप्त ने अनेकानेक अपनी नवीन मान्यताओं को भी समाविष्ट किया है। उन्होंने रस की आधार भूमि पर ध्वनि के महत्व को प्रतिष्ठापित किया है। उनका कथन है कि आनन्दवर्धन आचार्य द्वारा निरूपित वस्तु, अलंकार तथा रस रूप तीन प्रकार की ध्वनियों में से मुख्यतया रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है। वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों का पर्यवसान रस के प्रति होता है। अतः वाच्यार्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट होने से सामान्यतया इन्हें भी काव्य की आत्मा कह दिया जाता है।[2] इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने विवेचन द्वारा रस तथा ध्वनि का अपूर्व सामंजस्य प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में महा-

---

3- एकाकिनी यद्बला तरुणी तथाऽहमस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
  किं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥
अत्र व्यंग्यमेवैकत्र पदार्थे उपस्कारकारीति वाच्यं प्रधानम्। व्यंग्यप्राधान्ये तु न काचिदलंकारतेति निरूपितमित्यलं बहुना। — लोचन, पृ० 134

3- काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।— ध्वन्यालोक, 1/1

1- रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० 114 डा० नगेन्द्र
2- तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्याद् उत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः 'काव्यस्यात्मा' इति सामान्येनोक्तम्।—अ०लोचन पृ० 86

महिम पी०वी०काणे महोदय का यह कथन सर्वथा युक्ति युक्त प्रतीत होता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में आनन्दवर्धन युग प्रवर्तक आचार्य हुए हैं और अभिनवगुप्त युग प्रतिष्ठापक। युगप्रवर्तनकारी जिस ध्वनि सिद्धान्त का आनन्दवर्धन ने प्रवर्तन किया था, आचार्य अभिनवगुप्त ने उसकी ऐसी प्रतिष्ठा की कि आगे आने वाले आचार्य इस मार्ग का अतिक्रमण न कर सके। लोचन टीका का काव्यशास्त्र में ठीक वही स्थान, प्रतिष्ठा और महत्त्व है जो व्याकरण के क्षेत्र में पतंजली के महाभाष्य और वेदान्त में जगद्गुरु शंकराचार्य के शारीरिक भाष्य का।[1]

क्षेमेन्द्र :—

आचार्य क्षेमेन्द्र ध्वनिवादी आचार्यों की परिशृंखला में परिगणित किए गये हैं। वस्तुतः वे औचित्य नामक नवीन सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक माने गये हैं, किन्तु इस औचित्य के साहाय्य से उन्होंने ध्वनिवादी आचार्य होने का गौरव भी समुपलब्ध कर लिया है। ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य में औचित्य के महत्त्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। उनका कथन है कि रसानुभूति का सर्वाधिक अवरोधक अनौचित्य होता है।[2] आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसी औचित्य के स्वरूप को अपने विवेचन का आधार बनाया है। उन्होंने ध्वन्यालोककार की मान्यता की परिपुष्टि करते हुए रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है तथा औचित्य को उसका जीवित माना है।[3] यद्यपि इनके द्वारा प्रचलित किया गया औचित्य सिद्धान्त यथेष्ट महत्त्व नहीं प्राप्त कर सका, किन्तु रस तथा ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा प्रदर्शित उसकी स्वीकारोक्ति उसके महत्त्व की निदर्शिका कही जा सकती है। वस्तुतः औचित्य का कार्य क्षेत्र ध्वनि की परिधि से बाहर नहीं दिखायी पड़ता।

मम्मट :—

ध्वनि सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास में आचार्य मम्मट का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निश्चित होता है। उन्होंने कुन्तक तथा महिमभट्ट आदि आचार्यों की ध्वनिविरोधी भावनाओं का जिस बुद्धिमत्ता तथा निर्भीकता से प्रत्युत्तर प्रस्तुत किया है, वह ध्वनि सम्प्रदाय

1- History of Sanskrit Poitics — Page — 203.

2- अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥— ध्वन्यालोक, 3/14 की वृत्ति

3- औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।— औचित्यविचारचर्चा,

को विकसित अवस्था प्रदान करने में अतीव महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। इसके अभाव में ध्वनि सम्प्रदाय का वर्तमान समुन्नत स्वरूप धूमिल रूप में ही प्राप्य होता। आचार्य मम्मट के अथक परिश्रम के परिणाम स्वरूप ही ध्वनि तत्व का महत्व अवशिष्ट रह सका है। इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त को व्यवस्थित एवं परिपूर्ण स्वरूप प्रदान करने में आचार्य मम्मट का विशिष्ट सहयोग निश्चित होता है। इसी आधार पर इन्हें "ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य" की उपाधि से विभूषित किया गया है। आचार्य मम्मट पूर्णतया ध्वनिवादी आचार्य निश्चित होते हैं। उन्होंने ध्वनि के प्रधानत्व-अप्रधानत्व के आधार पर ही काव्य को उत्तम, अधम, तथा मध्यम के भेद से तीन भेदों में विभाजित किया है।[1] ध्वनि तत्व के विवेचन में उन्होंने आनन्दवर्धनाचार्य की भावनाओं को पल्लवित करने का ही प्रयास किया है। डा0 सत्यव्रत सिंह का कथन है कि मम्मट से बढ़कर ध्वनिवाद का प्रचारक कोई नहीं हुआ है और उनका ग्रन्थ काव्यप्रकाश ही ध्वनिवादी अलंकारशास्त्र का सर्वप्रथम और साथ ही सबसे श्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ है।[2]

रुय्यक :—

'अलंकार सर्वस्व' के रचयिता आचार्य रुय्यक की परिगणना ध्वनिवादी आचार्यों में की जाती है। उन्होंने भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि पूर्ववर्ती ध्वनिवादी आचार्यों की ध्वनि सम्बन्धी मान्यताओं का सम्यक् निरीक्षण करने के पश्चात् अपना तत्सम्बन्धी विवेचन कार्य प्रारम्भ किया है। उनकी मान्यता के अनुसार व्यंग्यात्मक वाक्यार्थ ही काव्य का जीवित होता है।[3] ध्वनि सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास में आचार्य रुय्यक के योगदान का विवेचन करते हुए डा0 गया प्रसाद उपाध्याय ने लिखा है कि आचार्य रुय्यक ने महिमभट्ट के आक्षेपों की निस्सारता प्रकट करके ध्वनि सिद्धान्त का समर्थन किया है। व्याख्यान में स्पष्टीकरण के दो दर्शन से अधिक स्थल हैं।

1- इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।
अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्॥
शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्॥- काव्यप्रकाश, 1/4,5

2- काव्यप्रकाश, भूमिका, पृ0 70 व्याख्याकार डा0 सत्यव्रत सिंह

3- तस्मात् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमिति। एष एव च पक्षः वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः॥— अलंकारसर्वस्व, पृ0 10

उनमें उन्होंने कहीं तो व्यक्तिविवेककार का आग्रह कहीं वदतोव्याघात कहीं मिथ्या आक्षेप आदि दोषों का उद्घाटन करके ध्वनि सिद्धान्तों को अनुमान के चंगुल से छुड़ाने का सफल प्रयास किया है। ध्वनि की प्रतिष्ठा में रुय्यक का सहयोग सराहनीय है।[1]

विश्वनाथ :—

ध्वनि के ऐतिहासिक विकास में साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के प्रति प्रस्तुतकिया गया डा0 गयाप्रसाद उपाध्याय का यह कथन सर्वथा युक्ति युक्त नहींकहा जा सकता है कि ध्वनि के विकास क्रम में विश्वनाथ का योगदान अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद में काव्यप्रकाशकार और ध्वनिकार के खण्डन में प्रदर्शित उत्साह को देखकर अध्येता को दर्पण दर्शन से नवीनता दर्शन की जो आशा बंधती है वह धीरे धीरे क्षीण होकर निराशा में परिणत हो जाती है।[2] इस सम्बन्ध में मेरी अपनी व्यक्तिगत धारणा यह है कि ध्वनि के ऐतिहासिक विकास में साहित्यदर्पणकार का प्रयास पर्याप्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद में प्राप्त होने वाली उनकी सूक्ष्म विवेचनाशक्ति जिस समय ध्वनि का वर्गीकरण प्रस्तुत करने में संलग्न हो जाती है, सहृदय ध्वनितिरेक से विह्वल हो जाता है। इसी प्रकार काव्य शक्तियों का सुस्पष्ट विवेचन भी उनकी अपनी व्यक्तिगत विशेषता सिद्ध होती है। ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूतव्यंग्य काव्य का विवेचन भी उन्होंने मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया है। ध्वनि सिद्धान्त की आधारभूत व्यंजना शक्ति का विरोध करने वाले आचार्यों की युक्तियों को उन्होंने सर्वथा निराधार सिद्ध कर दिया तथा निर्विवादरूप में उसकी प्रतिष्ठापना की। आचार्य विश्वनाथ ने जिस विषय वस्तु को अपने विवेचन का विषय बनाया है, वह पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा विवेचित थी। ऐसी स्थिति में उनकी विवेचना शक्ति की मौलिकता पर सन्देह उपस्थित कर दिया जाता है। वस्तुतः उन्होंने अपने विवेचन में पर्याप्त पार्थक्य प्रदर्शित करने का यथेष्ट प्रयास किया है और इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है। ध्वनि का वर्गीकरण आदि कुछ तथ्य उनकी मौलिक विशेषता के प्रतिपादक भी सिद्ध होते हैं।

विद्याधर :—

'एकावली' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के रचयिता आचार्य विद्याधर ने ध्वनि सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास में अपना पर्याप्त सहयोग समर्पित किया है। इसी कारण ध्वनिवादी आचार्यों की शृंखला में इनका नाम भी अविच्छिन्न रूप से जोड़ दिया गया है। इन्होंने

1- ध्वनिसिद्धान्त और व्यंजनावृत्ति विवेचन, पृ0 46

2- वही, पृ0 52

अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में ध्वनि को काव्य की आत्मा रूप महत्वपूर्ण स्थान किया है।[1] 'एकावली' का अधिकांश भाग ध्वनि सिद्धान्त में विवेच्य विविध विषयों में संयुक्त दिखायी पड़ता है।

पण्डितराज जगन्नाथ :—

पण्डितराज जगन्नाथ ध्वनिवादी आचार्यों की श्रृंखला में अन्तिम आचार्य माने गये हैं। उन्होंने अतिप्राचीनकाल से चले आ रहे ध्वनि सिद्धान्त को अपनी प्रखर प्रतिभा का उत्कृष्ट सम्बल प्रदान कर चिरस्थायी बना दिया। उनके पश्चात् किसी भी समालोचक ने ध्वनि सिद्धान्त की आलोचना प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया। आचार्य प्रवर पण्डितराज रस तथा ध्वनि सिद्धान्तों के प्रौढ़ स्तम्भ प्रतीत होते हैं। उन्होंने दोनों ही सिद्धान्तों को अपने बाहुबल से ऐसे वितान के अन्तर्गत समन्वित किया है कि अन्ततः सभी सिद्ध आचार्यों को इस वितान से बाहर जाने में पर्याप्त कठिनाई प्रतीत हुई। यही कारण है कि पण्डितराज के पश्चात् काव्याचार्यों का मूकवत् स्वरूप ही प्राप्त होता है।

ध्वनिवादी आचार्य होते हुए भी पण्डितराज ने अपनी प्रतिभा को पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं में समाविष्ट करना उचित नहीं समझा। अतः पूर्ववर्ती ध्वनिवादी आचार्यों की शब्दार्थोभयरूप काव्यस्वरूप की मान्यता को सर्वथा अस्वीकार करते हुए उन्होंने मात्र रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द से ही काव्य के स्वरूप को निर्मित बनाया है।[2] इसी प्रकार काव्य के उत्तम, मध्यम, तथा अधम के रूप में प्राप्त होने वाले तीन भेदों को उन्होंने उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, तथा अधम रूप चार भेदों में प्रतिष्ठापित किया है।[3] अत्यन्त विस्तृत रूप में प्राप्त होने वाले ध्वनि भेदों को उन्होंने सीमित करने का यथेष्ट प्रयास किया है। उन्होंने सर्वप्रथम अभिधामूलक तथा लक्षणामूलक के रूप में ध्वनि के दो मुख्य भेद किए हैं। इसके पश्चात् अभिधामूलक को रस, वस्तु तथा अलंकार रूप तीन उपभेदों एवं लक्षणामूलक को अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य रूप दो उपभेदों में विभाजित किया है। पण्डितराज की एक मौलिक विशेषता रसादि ध्वनियों को असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम दोनों के अन्तर्गत समाविष्ट करने में निहित होती है। इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के

1- शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः। — एकावली, 1/13

2- रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्॥—रसगंगाधर

3-(क) शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्।

(ख) यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्।

(ग) यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्।

(घ) यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्॥— रसगंगाधर, 9, 17, 19

ऐतिहासिक विकास में आचार्य प्रवर पण्डितराज का सराहनीय साहाय्य निश्चित होता है। इस सम्बन्ध में डा० प्रेमस्वरूपगुप्त का यह कथन सर्वथा युक्ति युक्त प्रतीत होता है कि पण्डितराज ने ध्वनिवाद के अन्तर्गत रहकर ही ध्वनिवादी आचार्यों से ही प्रेरणा लेकर, उन्हें ही आवश्यकतानुसार प्रमाण पक्ष में रखकर रसादि की असंलक्ष्यक्रमता को इस रूप में स्वीकार करके एक मौलिक दृष्टिकोण की स्वीकृति की है। इससे ध्वनिवाद का विरोध नहीं हुआ, कुछ और निखरा ही है।[1]

ध्वनि के ऐतिहासिक विकास क्रम सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि विविध काव्यशास्त्रीय आचार्यों का क्रमिक साहाय्य प्राप्त करता हुआ ध्वनि सम्प्रदाय अपने विकास की चरमावस्था प्राप्त कर सका है। उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त राजशेखर, भोजराज, वाग्भट्ट(प्रथम) हेमचन्द्र, शारदातनय, जयदेव, वाग्भट्ट(द्वितीय) विद्यानाथ, अप्पय दीक्षित तथा नरेन्द्र प्रभसूरि आदि अनेकानेक आचार्यों ने भी ध्वनि के विकास-क्रम में अपना अभूतपूर्व सहयोग समर्पित किया है। पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् ध्वनि का विकास क्रम स्थायित्व की स्थिति में विद्यमान हो गया।

<u>ध्वनि की परिभाषा :—</u>

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्द्धन की ध्वनि परिभाषा काव्य शास्त्रीय परिक्षेत्र में मान्य सिद्ध हुई है। इस सम्बन्ध में उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनकी मान्यता को ही आधार बनाया है। आनन्दवर्द्धनाचार्य के अनुसार जहाँ वाच्य अर्थ स्वयं को तथा वाचक शब्द स्वयं को एवं अपने अर्थ को अप्रधान बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं।[2]

इस प्रकार आनन्दवर्द्धनाचार्य के अनुसार प्रतीयमान तथा वाच्य अर्थ के आधिक्य के आधार पर ध्वनि की परिभाषा निश्चित की जानी चाहिए। उन्होंने इसी आधार पर वाच्य तथा प्रतीयमान रूप दो प्रकार के अर्थों की प्रकल्पना की है।[3] यदि वाच्य अर्थ की

1- रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० 98

2- यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
   व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥— ध्वन्यालोक 1/13

3- योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
   वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥— ध्वन्यालोक, 1/3

अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ में चारुत्व का आधिक्य विद्यमान होता है तो वहाँ ध्वनि काव्य की संज्ञा प्रदान की जाती है, इस स्थिति के अविद्यमान होने पर गुणीभूतव्यंग्य काव्य का अधिकार क्षेत्र निश्चित हो जाता है।[1] यहाँ वाच्य अर्थ कीअपेक्षा प्रतीयमान अर्थ में आधिक्य विद्यमान होने का अभिप्राय यह है कि वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ में चामत्कारिक चारुत्व का आधिक्य विद्यमान होता है।[2] इस प्रकार यदि वाच्यार्थ में चारुत्व का आधिक्य होगा तो वहाँ वाच्यार्थ की प्रधानता होगी और यदि प्रतीयमान अर्थ में चारुत्व का आधिक्य होगा तो प्रतीयमानार्थ की प्रधानता स्वीकरणीय होगी। ध्वनि रूपप्रतीयमान अर्थ के स्वरूप का विवेचन करते हुए आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है कि महाकवियों की वाणी में अवस्थित रहने वाला प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न कुछ अन्य प्रकार का ही होता है। जिस प्रकार स्त्रियों के शरीर में विद्यमान रहने वाले विविध अवयवों के अतिरिक्त लावण्य का स्वरूप सर्वथा पृथक् होता है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान अर्थ की स्थिति होती है।[3]

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि रूप प्रतीयमान अर्थ के स्वरूप का ज्ञान शब्द तथा अर्थ के सामान्य स्वरूप को समझने वाला सामान्य व्यक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। उसके लिए तो काव्यार्थ तत्व के सम्यक् ज्ञान से समायुक्त सहृदय व्यक्ति ही अपेक्षित होंगे।[4] इस प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ के वैशिष्ट्य में पर्याप्त अभिवृद्धि हो जाती है।

मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने आनन्दवर्धनाचार्य की ध्वनि परिभाषा को अपने अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है।[5]

1- प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥— ध्वन्यालोक, 3/35

2- चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।— ध्वन्यालोक, 1/13 पर वृत्ति

3- प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।— ध्वन्यालोक, 1/4

4-(क) इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।— काव्यप्रकाश, 1/4
(ख) वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।— साहित्यदर्पण, 4/1
(ग) शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम्॥— रसगंगाधर, पृ09

5- शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते। वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥ध्वन्या01/7

काव्यालोक के रचयिता आचार्य रामदहिन मिश्र के अनुसार सामान्य रूप में संकेतित अर्थवाले शब्दों से विशेष अर्थ की प्रतीति ही ध्वनि है। व्यंजना ही ध्वनि की आधारभूत शक्ति है जिस पर उसका राजप्रासाद अधिष्ठित होता है। अभिधा एवं लक्षणा से सर्वथा भिन्न एक विलक्षण अर्थ की प्रतीति व्यंजना शक्तिसे ही होती है। यह विलक्षण एवं अपूर्व अर्थ ही ध्वनि है।[1]

ध्वनि का पारिभाषिक स्वरूप उपस्थित करते हुए डा0 भोलाशंकर व्यास ने लिखा है कि वैयाकरणों के मतानुसार ध्वनि वह अखण्ड तथा नित्य शब्द है जो स्फोट(शब्द-ब्रह्म) को व्यंजित करता है। इसी आधार पर व्यंजना व्यापार के द्वारा प्रतीयमान अर्थ को द्योतित कराने वाला काव्य, साहित्यिकों के मतानुसार ध्वनि कहलाता है। यद्यपि इस दृष्टि से 'ध्वनि' वस्तुतः उस काव्य की पारिभाषिक संज्ञा है, जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ होता है, तथापि प्रतीयमान अर्थ से युक्त समस्त काव्य ध्वनि नहीं कहलाते। केवल वे ही काव्य ध्वनि हैं, जिनमें शब्द तथा वाच्य अर्थ अपने आपको तथा अपने अर्थ को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि जहाँ कवि का मुख्य उद्देश्य प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराना हो उस या काव्य को ध्वनि कहा जायेगा। इस दृष्टि से वे काव्य जहाँ व्यंग्यार्थ-प्रतीति महत्व नहीं रखती, ध्वनि के अन्तर्गत नहीं आते।[2]

इसी प्रकार आनन्दवर्द्धनाचार्य की मान्यता को मान्य बनाते हुए डा0 गयाप्रसाद उपाध्याय ने अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में ध्वनि का पारिभाषिक स्वरूप समुपस्थित किया है। उनका कथन है कि जो ध्वन्यर्थ बुद्धि प्रदेश में अनुमान रूप से उत्पन्न होता है, वह कविप्रयुक्त काव्य से ही जागृत होता है। वह कवि के मानस की ही तरंग है, जो शब्दों के सूत्रों के सहारे पाठक के मानस में घुसती है। कवि के भावों और विचारों को सम्प्रेषणीय बनाने में काव्य माध्यम का काम देता है। फलतः वह ध्वन्यर्थ काव्य के विन्यास में ही समाहित रहता है। जिस प्रकार किसी अलंकृत रमणी के सुन्दर अवयवों से लावण्य फूटता हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह व्यंग्य अर्थ भी काव्य से व्यक्त होता है। परन्तु जिस प्रकार अंगना लावण्य उसके शरीरावयवों में समाहित रहता हुआ भी उनसे नितान्त भिन्न है, उसी प्रकार

1- काव्यालोक, पृ0 197

2- ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ0 244

3- ध्वनि सिद्धान्त और व्यंजनावृत्ति विवेचन, पृ0 4

यह भी काव्य के प्रसिद्ध अंगों से झलकता हुआ भी अन्य ही पदार्थ है। साथ ही जिस प्रकार अंगना-लावण्य अवयवों से ही व्यक्त होता है, अवयव ही उस लावण्य प्रतीति के साधन हैं, उसी प्रकार वाच्य ही ध्वन्यर्थ का साधन है। इस आधार पर काव्य को भी 'ध्वनि' संज्ञा प्रदान की जाती है।[1]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर ध्वनि की परिभाषा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ में चामत्कारिक चारुत्व का आधिक्य प्राप्त होता है, वहाँ ध्वनि की स्थिति का नैश्चित्य होता है।

<u>(5) ध्वनि का विरोध तथा उसका परिशमन</u> :, ——

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय इतिहास में ध्वनि सिद्धान्त को काव्य की आत्मा जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठापित किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्द्धन हैं। उन्होंने निर्भीकता का सम्बल लेकर अन्य सिद्धान्तों की उपयुक्त आलोचना प्रस्तुत करते हुए अपने ध्वनि सिद्धान्त के महत्व का विश्लेषण किया है। ध्वनि सिद्धान्त के महत्व पूर्ण होते हुए भी कुछ समालोचकों ने इस सिद्धान्त का असफल विरोध किया है। समालोचकों की इस विरोधी भावना का स्वरूप आनन्दवर्द्धनाचार्य के पूर्व एवं पश्चात् दोनों ही स्थितियों में प्राप्त होता है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अपने पूर्ववर्ती ध्वनि विरोधियों की युक्तियों में प्राप्त होता है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अपने पूर्ववर्ती ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का परिशमन स्वयं ही कर दिया था किन्तु उनके पश्चात् जिन समालोचकों ने ध्वनि सिद्धान्त का विरोध किया उनकी युक्तियों का परिशमन अभिनवगुप्ततथा मम्मट आदि आचार्यों की प्रबल युक्तियों द्वारा अनायास हो गया। इस तथ्य की परिपुष्टि में डा० गया प्रसाद उपाध्याय का यह कथन सर्वथा औचित्यपूर्ण सिद्ध होगा कि आनन्दवर्द्धन ने सर्वप्रथम मौलिक रूप से चलते हुए ध्वनि सम्बन्धी विचार विमर्श को सुव्यवस्थित ~~रूप से लिखित रूप में~~ सिद्धान्त का प्रदान प्रस्तुत किया। यह एक मानी हुई बात है कि जब कोई सिद्धान्त व्यवस्थित रूप से लिखित रूप में प्रस्तुत होता है तो आलोचकों की दृष्टि उस पर अवश्य पड़ती है। इनमें से कुछ उसका खण्डन करते हैं और कुछ मण्डन।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ध्वनिविरोधियों के दो प्रकार निश्चित होते हैं, जिनका विश्लेषण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है ——

1- ध्वनि सिद्धान्त और व्यंजनावृत्ति विवेचन, पृ० 4

2- ध्वनि सिद्धान्त और व्यंजनावृत्ति विवेचन, पृ० 47

(1) आनन्दवर्धनाचार्य के पूर्ववर्ती ध्वनि-विरोधी :—

ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका[1] के अनुसार आनन्दवर्धनाचार्य के पूर्ववर्ती ध्वनि-विरोधियों में अभाववादी, भक्तवादी तथा अलक्षणीयतावादी आचार्यों का परिगणन किया जा सकता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इन आचार्यों की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए अपनी प्रबल युक्तियों द्वारा उनका खण्डन किया है —

(1) अभाववादी :—

ध्वनि-विरोधी अभाववादी आचार्यों में उन आचार्यों का परिगणन किया जाता है जो ध्वनि के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। ये आचार्य मुख्य रूप से वे हैं जो अलंकार को ही काव्य का आत्म तत्व स्वीकार करते हैं। इन आचार्यों ने अपने मतों का प्रतिपादन तीन प्रकार से किया है ——

(क) प्रथम प्रकार वाले अभाववादी आचार्यों के अनुसार काव्य के शरीर की रचना शब्द और अर्थ से होती है। अतः इनके सौन्दर्याधायक तत्व ही काव्य की आत्मा हो सकते हैं। शब्द के सौन्दर्याधायक तत्व अनुप्रास आदि अलंकार हैं तथा अर्थ के सौन्दर्याधायक तत्व उपमा आदि अलंकार हैं। प्राचीन आचार्यों द्वारा इन अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है। वर्णों तथा संघटना आदि के सौन्दर्याधायक माधुर्य आदि गुण भी कहे जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त उपनागरिका आदि वृत्तियों तथा वैदर्भी आदि रीतियों का भी कथन हो चुका है। इस प्रकार काव्य में सौन्दर्याधायक तत्व के रूप में ये तत्व ही माने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त ध्वनि नामक कोई अन्य तत्व काव्य के सौन्दर्याधायक का कारण नहीं हो सकता।[2]

1- काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥ — ध्वन्यालोक, 1/1

2- तत्र केचिदाचक्षीरन् — शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति। — ध्वन्यालोक, 1/1 वृत्ति।

(ख) द्वितीय प्रकार वाले अभाववादी आचार्यों के अनुसार प्राचीन काल से जो प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय परम्परा चली आ रही है, उसमें सम्प्रति विद्यमान होने वाले ध्वनि-तत्व का उल्लेख कहीं भी नहीं प्राप्त होता है। अतः यदि उससे भिन्न ध्वन्यात्मक काव्य का एक नया मार्ग चलाया जायेगा। तो उसमें काव्यत्व ही नहीं होगा, क्योंकि सहृदयों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने वाले शब्द और अर्थ ही काव्य की रचना करते हैं। काव्य की रचना और सौन्दर्य का यही मार्ग प्राचीन परम्परा से प्रसिद्ध रहा है। इस मार्ग से भिन्न किसी अन्य मार्ग से काव्य का चारुत्व सम्भव नहीं है। यदि ध्वनि सिद्धान्त के मानने वाले कतिपय सहृदयों की कोरी कल्पना करके उनकी प्रसिद्धि से या उनके द्वारा प्रचारित ध्वनि की प्रसिद्धि से उस ध्वनि में काव्यत्व का व्यवहार चलाया भी जाय तो सभी विद्वानों द्वारा हृदयंगम न होने के कारण वह ध्वन्यात्मक काव्य नहीं माना जा सकता। अतः कुछ व्यक्तियों के कथनानुसार कल्पित ध्वनि सिद्धान्त को काव्य के चारुत्व का हेतु माना भी जाय तो भी उसे विद्वान् स्वीकार नहीं करेंगे।[1]

(ग) तृतीय प्रकार वाले अभाववादी आचार्यों के अनुसार ध्वनि नामक कोई नया पदार्थ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ध्वनि तत्व काव्य में रहकर उसके सौन्दर्य की अभिवृद्धि मात्र ही करता है। अतः प्राचीन आचार्यों ने काव्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले अलंकार, गुण तथा रीति आदि जिन तत्वों का उल्लेख किया है, उन्हीं तत्वों में ध्वनि का अन्तर्भाव किया जा सकता है अर्थात् यह ध्वनि नाम का एक अलंकार होगा जो काव्य के चारुत्व का हेतुसिद्ध होगा। इस प्रकार प्राचीन आलंकारिकों ने वाणी के अनन्त भेद होने से अनेक प्रकार के अलंकारों को प्रदर्शित किया है यदि उन्होंने किसी अलंकार विशेष का नाम न भी रखा हो और ध्वनिवादी उसे 'ध्वनि' संज्ञा दे दे तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं होगी।[2]

1- अन्ये ब्रूयुः — नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति। न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।,, — ध्वन्यालोक,

2- पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः। न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किंचन कथनं स्यात्। किं च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र

इस प्रकार अभाववादी आचार्यों ने तीन प्रकार से अनुप्रास तथा उपमा आदि अलंकारों में ध्वनि को अन्तर्भावित करने का प्रयास किया है। उनके इस अथक प्रयास को आचार्य आनन्दवर्धन ने अपनी प्रबल तार्किक युक्तियों द्वारा असफल सिद्ध कर दिया है। उनका कथन है कि वाच्यार्थ तथा वाचक शब्द आदि को सुन्दर बनाने वाले जो उपमा तथा अनुप्रास आदि अलंकार हैं उनसे ध्वनि का अस्तित्व सर्वथा पृथक् है।[1]

(क) जो ध्वनिविरोधी आचार्य यह मानते हैं कि प्रसिद्ध प्राचीन मार्ग को छोड़ देने से काव्यत्व की हानि हो जायेगी अर्थात् अलंकार आदि के रहते हुए यदि 'ध्वनि' नामक नवीन काव्य तत्व की सत्ता स्वीकार की जायेगी तो उसे काव्य नहीं कहा जायेगा, उनका यह कथन सर्वथा अनुपयुक्त कहा जायेगा, क्योंकि यह मान लेना कि ध्वनि का लक्षण बनाने वाले ही ध्वनि को जानते हैं, अन्य लोग नहीं उचित नहीं कहा जा सकता। यदि ग्रन्थ के काव्य में कहीं व्यंग्यार्थ है तो वह सहृदयों के मन को अवश्य आनन्दित करेगा। ध्वनि काव्य के अतिरिक्त जो चित्रकाव्य आदि हैं, उनमें चमत्कार की प्रतीति सहृदयों को उतनी अधिक नहीं होती, जितनी व्यंग्य युक्त ध्वनि काव्य में।[2]

(ख) जिन ध्वनि विरोधी आचार्यों के अनुसार ध्वनि का कार्य काव्य में केवल सौन्दर्य की वृद्धि करना है, अतः यह भी एक प्रकार का अलंकार सिद्ध होता है, क्योंकि अलंकार का कार्य भी काव्य में सौन्दर्य की वृद्धि करना ही है अतएव ध्वनि का अलंकारों में ही अन्तर्भाव किया जा सकता है। पृथक् रूप से इसे एक अलंकार स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। उनके इस अभिमत के सम्बन्ध में आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि ध्वनि-विरोधियों का यह अभिमत सर्वथा अस्वीकार्य है, क्योंकि अलंकार में शब्द अर्थ का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध होता है, किन्तु व्यंग्यार्थ युक्त ध्वनि काव्य में उनका व्यंग्य व्यंजकभाव सम्बन्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त वाच्यार्थ एवं वाचक शब्द के चारुत्व हेतु जो अलंकार हैं, चूंकि वे व्यंग्यार्थ की शोभा में वृद्धि करते हैं अतएव उन्हें ध्वनि का अंग माना जायेगा। ऐसी स्थिति में ध्वनि का अंगी हो जाना स्वयं सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार अलंकार तथा ध्वनि का अंगांगिभाव

हेतुं न सिद्धः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किंचिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। — ध्वन्यालोक,

2- अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति।
ध्वन्यालोक 1/13 वृत्ति।

3- यदप्युक्तम् — 'प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनिर्नास्ति', तदप्ययुक्तम्। यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादि काव्यतत्त्वम्।

सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर यह निश्चित हो जाता है कि ध्वनि में अलंकारों का ही अन्तर्भाव किया जा सकता है न कि अलंकारों में ध्वनि का। अंगी में अंग का ही समावेश होता है, अंग में अंगी का नहीं।[1]

(ग) कुछ ध्वनि-विरोधी अभाववादी आचार्यों का कथन है कि उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा आदि जिन अलंकारों में व्यंग्यार्थ का आधिक्य नहीं रहता है। अतः यदि उनमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता तो समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति, पर्यायोक्त अपह्नुति, दीपक तथा संकर आदि अन्य अलंकार जिनमें व्यंग्यार्थ का आधिक्य विद्यमान होता है, उनमें तो ध्वनि का अन्तर्भाव किया ही जा सकता है। ध्वन्यभाववादियों की इस युक्ति के परिशमन में ध्वन्यालोककार का कथन है कि ध्वनि के लक्षण में आगत 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' पद के अनुसार जब वाच्यार्थ स्वयं को तथा वाचक शब्द अपने अर्थ को क्रमशः गुणीभूत अर्थात् अप्रधान बनाकर व्यंग्यार्थ या प्रतीयमानार्थ को अभिव्यक्त करते हैं, तभी वहाँ ध्वनि-काव्य होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होने पर भी ध्वनि वहीं होती है, जहाँ वाच्य वाचक की अप्रधानता एवं प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता परिलक्षित होती है। समासोक्ति आदि उक्त अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति मात्र होती है, प्रधानता नहीं।[2]

1- यदुक्तम् — 'कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालंकारादिप्रकारेष्वन्तर्भावः' इति तदप्यसमीचीनम्। वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यंग्यव्यंजकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः। वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्यांगभूताः, स त्वंगिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। परिकरश्चात्र श्लोकः।—

व्यंग्यव्यंजकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः। वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः॥

— ध्वन्यालोक, 1/13 वृत्ति

2- ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः, स नाम मा भूद्ध्वनेर्विषयः। यत्र तु प्रतीतिरस्ति यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसंकरालंकारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यति, इत्यादि निराकर्तुमभिहितम् —' उपसर्जनीकृतस्वार्थौ, इति। अर्थो गुणीकृतात्मा गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति। तेषु कथं तस्यान्तर्भावः। व्यंग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। न चैतत् समासोक्त्यादिष्विति॥—

— ध्वन्यालोक, 1/13 की वृत्ति

(1) समासोक्ति अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण :—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥[1]

प्रस्तुत समासोक्ति अलंकार के उदाहरण में कवि ने रात्रि के प्रारम्भ के समय के चन्द्रोदय का वर्णन किया है। यहाँ कवि को शशि(चन्द्रमा) और निशा(रात्रि) का वर्णन करना अभिप्रेत है। परन्तु शशि और निशा के कार्य रूप में जिन 'उपोढरागेण' निशामुखम्' विलोलतारकम्' रागात् एवं तिमिरांशुकम्' आदि विशेषणों का वर्णन किया गया है, वे सभी द्व्यर्थक हैं। अतः व्यंजना व्यापार द्वारा शशि एवं निशा के रूप में नायक तथा नायिका का व्यवहार भी ध्वनित हो जाता है, किन्तु व्यंग्यार्थ निरूपण में कवि का प्रधान लक्ष्य न होने से यहाँ व्यंग्यार्थ गुणीभूत हो जाता है और वाच्यार्थ प्रधान। इस प्रकार वाच्यार्थ प्रधान तथा व्यंग्यार्थ गौण रूप इस समासोक्ति अलंकार के उदाहरण में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

(2) आक्षेप अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण :—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥[2]

प्रस्तुत आक्षेप अलंकार के उदाहरण में कवि के वर्णन का प्रधान लक्ष्य सन्ध्या(गोधूलिवेला) एवं दिवस(दिन) के न मिलने में है, परन्तु समान विशेषणों के आधार पर यहाँ सन्ध्या(नायिका) तथा दिवस (नायक) का मिलन भी व्यंजित हो रहा है। कवि का लक्ष्य व्यंग्यार्थ की प्रधानता में न होने के कारण यह उदाहरण वाच्यार्थ-प्रधान सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में वाच्यार्थ-प्रधान आक्षेप अलंकार के इस उदाहरण द्वारा अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

(3) अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण :—

आहूतोऽपि सहायैः ओमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति॥[3]

1- ध्वन्यालोक, 1/13 वृत्ति पृ0 109 व्याख्याकार आचार्य जगन्नाथ पाठक

2- वही, पृ0 114

3- वही, पृ0 117

प्रस्तुत अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति के उदाहरण में 'संकोच के शिथिल न करने के कारण' के न बताये जाने पर भी 'आहूतोऽपि सहायैः' इस प्रकरण के द्वारा व्यंग्यार्थ की कल्पना कर ली जाती है, परन्तु इस कल्पना से कोई विशिष्ट सौन्दर्य नहीं उत्पन्न होता। अतः यहाँ भी वाच्यार्थ की प्रधानता सिद्ध हो जाने से अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।

(4) पर्यायोक्त अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण :—

पर्यायोक्त अलंकार में ध्वनि को अन्तर्भावित करने के सम्बन्ध में आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि पर्यायोक्त अलंकार में व्यंग्यार्थ का स्वरूप दो रूपों में प्राप्त हो सकता है — (1) प्रधान रूप में (2) गौण रूप से स्थित होकर वाच्यार्थ के उपकारक रूप में। पर्यायोक्त अलंकार में व्यंग्यार्थ के प्रधान रूप से स्थित होने पर उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जायेगा, परन्तु ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त में नहीं होगा। इस तथ्य की परिपुष्टि में यह कहा जा सकता है कि जहाँ जहाँ ध्वनि हो, वहाँ- वहाँ पर्यायोक्त अलंकार भी हो, ऐसा आवश्यक नहीं है, इसके विपरीत व्यंग्यार्थ-प्रधान पर्यायोक्त में ध्वनि के स्वरूप की प्राप्ति का सर्वथा नैश्चित्य कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में व्यंग्यार्थ प्रधान पर्यायोक्त अलंकार का अन्तर्भाव तो ध्वनि में हो सकता है, किन्तु ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त में नहीं हो सकेगा। इसका मुख्य कारण ध्वनि की व्यापकता तथा उसका अंगित्व रूप में अवस्थित होना है। इसके अतिरिक्त पर्यायोक्त अलंकार के कुछ उदाहरणों में व्यंग्यार्थ की प्रधानता प्राप्त हो जाती है, सभी उदाहरणों में नहीं। पर्यायोक्त के व्यंग्यार्थ प्रधान उदाहरण के रूप में 'भ्रम धार्मिक०'[1] इत्यादि को लिया जा सकता है। व्यंग्यार्थ के अप्रधान उदाहरण के रूप में ध्वन्यालोककार ने आचार्य भामह द्वारा उद्धृत उदाहरण[2] का संकेत किया है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ के अप्रधान होकर वाच्यार्थ के उपकारक के रूप में अवस्थित होने से पर्यायोक्त अलंकार में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।[3]

1- भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरी नदी कूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥ — गाथासप्तशती, 2/76

2- गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः।
विप्रा न भुञ्जते ....॥ काव्यालंकार, 3/9 भामह

3- पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यंग्यत्वं तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेन, अंगित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यंग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात्।
— ध्वन्यालोक, 1/13 वृत्ति, पृ० 117-19

(5) दीपक तथा अपह्नुति अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण :—

दीपक तथा अपह्नुति अलंकारों में उपमा की प्रतीति व्यंग्य रूप से होती है, किन्तु प्रधान रूप से उपमा के विवक्षित न होने से वहाँ हम उसे उपमा की संज्ञा से न अभिहित कर दीपक-अपह्नुति की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इस प्रकार इन अलंकारों में व्यंग्यार्थ का समावेश रहता अवश्य है, किन्तु वह प्रधान रूप में अवस्थित न होकर गौण रूप में रहता है, अतः समासोक्ति तथा आक्षेप आदि पूर्ववर्ती अलंकारों की भाँति इन अलंकारों में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।[1]

(6) संकर अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण :—

संकर अलंकार में जब एक अलंकार दूसरे अलंकार के सौन्दर्य को पुष्ट करता है, तब व्यंग्य अर्थ के प्रधान रूप से विवक्षित न होने के कारण वह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता। दो अलंकारों की सम्भावना होने पर वाच्य और व्यंग्य की प्रधानता समान होती है, अतः वहाँ भी ध्वनि नहीं हो सकती। यदि इसमें वाच्य के उपसर्जनभूत (गुणीभूत) होकर व्यंग्य की स्थिति हो अर्थात् व्यंग्यार्थ प्रधान रूप से अवस्थित हो तो यह भी ध्वनि का विषय हो सकता है। परन्तु यही वह ही ध्वनि है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त संकर अलंकार में कहीं संकर शब्द का कथन ही ध्वनि की सम्भावना का उपयुक्त निराकरण प्रस्तुत कर देता है।[2]

(7) अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण :—

अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में विशेष से सामान्य की तथा सामान्य से विशेष की प्रतीति करायी जाती है, इसके पश्चात् निमित्त से नैमित्तिक की तथा नैमित्तिक से निमित्त की व्यंजना करायी जाती है, कहीं एक वस्तु से दूसरी वस्तु की प्रतीति भी करायी जाती है। इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा का स्वरूप पाँच रूप में विभक्त होता है। जहाँ सामान्य से विशेष की प्रतीति करायी जायेगी, वहाँ जो सामान्य होगा, वह अप्रस्तुत अर्थ होगा तथा वही वाच्यार्थ भी होगा और जो व्यंग्यार्थ होगा वह प्रस्तुत तथा विशेष होगा। इस संबंध में

1- अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यंग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव। —ध्वन्यालोक पृष्ठ संख्या — 12।

2- संकरालंकारेऽपि यदाऽलंकारोऽलंकारान्तरच्छायामनुगृह्णाति तदा। व्यंग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम्। अलंकारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यंग्ययोः समं प्राधान्यम्। अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यंग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्। पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात्। अपि च संकरालंकारेऽपि च क्वचित् संकरोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोतीति। —ध्वन्यालोक 1/13 वृत्ति पृ0 12।

अलंकारवादी आचार्यों का कथन है कि यहाँ सामान्य के लिए विशेष की अवस्थिति सर्वथा अनावश्यक है। ऐसी स्थिति में उसके साथ सम्बन्ध न होने से सामान्य को, जिसमें व्यंग्यार्थ प्रस्तुत रूप में रहेगा, ध्वनि का विषय माना जा सकता है। इस तथ्य के समाधान में आनन्दवर्द्धनाचार्य का कथन है कि यहाँ जो 'सामान्य' प्रधान है उससे अनेक प्रकार के विशेष' अर्थ निकलते हैं। उन अनेक 'विशेष' अर्थों में यह 'विशेष' अर्थ भी जो वाच्यार्थरूप में स्थित है, उसी 'सामान्य' में मिला हुआ है। अतएव यहाँ दोनों की प्रधानता का स्वरूप समान होगा। इस प्रकार इसे ध्वनि का विषय नहीं माना जा सकता है।[1]

इसी प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा के द्वितीय उदाहरण में जहाँ विशेष' से 'सामान्य' की प्रतीति होगी, वहाँ 'विशेष' रूप अप्रस्तुत होगा तथा वही वाच्यार्थ भी होगा। 'सामान्य' रूप अर्थ, प्रस्तुत तथा व्यंग्यार्थ रूप में विद्यमान रहेगा। इस संबंध में अलंकारवादी आचार्यों का कथन है कि यहाँ सामान्य के लिए विशेष का रहना आवश्यक नहीं है, अतः सामान्य के साथ विशेष का अविनाभाव सम्बन्ध न होने से यहाँ जिसमें व्यंग्यार्थ प्रस्तुत रूप में रहेगा ऐसे सामान्य को ध्वनि का विषय माना जा सकता है। अलंकारवादियों की इस वैचारिक मान्यता को आनन्दवर्द्धनाचार्य ने सर्वथा अमान्य घोषित किया है। उनका कथन है कि यहाँ जो 'सामान्य' प्रधान है उससे भी अनेक प्रकार के 'विशेष' अर्थ निकलते हैं। उन विशेष अर्थों में यह विशेष अर्थ, जो यहाँ वाच्यार्थ रूप में स्थित है उसी सामान्य में अन्तर्भावित है। इस प्रकार यहाँ भी दोनों के प्रधानत्व का समान रूप निश्चित होता है। अतः इसे भी ध्वनि का विषय नहीं माना जा सकता।[2] यही मान्यता निमित्त से नैमित्तिक की प्रतीति होने वाले पद पर भी उपर्युक्त सिद्ध होगी। अप्रस्तुतप्रशंसा में जहाँ तुल्य से तुल्य की प्रतीति होती है वहाँ एक प्रस्तुत तुल्य वाच्यार्थ होगा तथा दूसरा अप्रस्तुत तुल्य व्यंग्यार्थ होगा। यदि व्यंग्यार्थवाले तुल्य को प्रधान मान लिया जाय तो ध्वनि में ही उसका अन्तर्भाव हो जायेगा।[3]

1- अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धस्तदाभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्॥
— ध्वन्यालोक, पृ० 127

2- यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात्सामान्यस्यापि प्राधान्यम्। यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम्॥— ध्वन्यालोक, 1/13 वृत्ति पृ० 128

3- यत्र तु निमित्तनिमित्तभावे चायमेव न्यायः।— वही, पृ० 129

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इस तथ्य की पूर्णतया परिपुष्टि हो जाती है कि अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं हो सकता है। अलंकारवादी आचार्यों की यह मान्यता सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध हो जाती है कि प्रसिद्ध प्रस्थान के अतिरिक्त अन्य मार्ग स्वीकार करने पर काव्यत्व की हानि हो जायेगी। वस्तुतः ध्वनि का अस्तित्व सर्वथा पृथक् है, अलंकारादि तत्व उसके अंग सिद्ध होते हैं। अलंकारों के साथ ध्वनि का सम्बन्ध निर्धारित करते हुए आचार्य आनन्दवर्द्धन ने निष्कर्ष रूप में लिखा है कि जहाँ व्यंग्यार्थ अप्रधान होकर वाच्यार्थ का अनुयायी होता है, वहाँ समासोक्ति आदि अलंकारों का स्वरूप निर्धारित होता है। इसी प्रकार जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति मात्र विद्यमान होती है तथा वह वाच्यार्थ का अनुगमन करता है, वहाँ भी ध्वनि के अस्तित्व की प्राप्ति नहीं होती। इसके विपरीत जहाँ शब्द तथा अर्थ दोनों की प्रायोगिक स्थिति व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए होती है, वहाँ ध्वनि का स्वरूप प्राप्त होता है।[1]

(2) भाक्तवादी :—

भाक्तवादी ध्वन्यभाववादियों में उन आचार्यों का परिगणन किया जाता है, जो ध्वनि तत्व को लक्षणा में समाविष्ट कर लेते हैं। ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में आगत 'भाक्त' पद का अभिप्राय 'भक्तेः आगतः भाक्तः' के रूप में लक्षणा शक्ति के अर्थ में निश्चित किया जाता है। इस 'भाक्त' पद में लक्षणा के सभी भावों का विवेचन सम्मिलित है। 'भक्ति' पद की 'मुख्यार्थस्य भंगो भक्तिः' इस भंगार्थक व्युत्पत्ति से लक्षणा का प्रथम बीज मुख्यार्थ बाध प्राप्त होता है। 'भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति सामीप्यादि सम्बन्धो भक्तिः,' इस सेवनार्थक व्युत्पत्ति से मुख्यार्थ-सम्बन्ध रूप लक्षणा के द्वितीय बीज की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार प्रेत्यपावनत्वादौ प्रतिपाद्ये श्रद्धातिशयो भक्तिः,' इस श्रद्धातिशयार्थक व्युत्पत्ति से प्रयोजन रूप लक्षणा के तृतीय बीज की प्राप्ति भी हो जाती है। इस प्रकार मुख्यार्थ बाध आदि तीनों बीजों से जो अर्थ लक्षित होगा, वह भाक्त कहलायेगा। भाक्तमतानुयायी काव्याचार्यों के अनुसार अभिधा के अतिरिक्त जो कुछ भी दिखायी देता है, वह लक्षणा का व्यापार होगा

4- यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः ।— ध्वन्यालोक, पृ0 133

1- व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः ॥
व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।

यहाँ 'वदति' पद का वाच्य अर्थ व्यक्त वाणी को कहना है, किन्तु 'बिसिनी-पत्रशयन' के अचेतन होने के कारण उक्त वाच्य अर्थ बाधित हो जाता है। वाच्य अर्थ के बाधित होने से मुख्य अर्थ से सम्बन्धित लक्ष्य अर्थ 'प्रकटयति' (प्रकट करती है) लक्षणाद्वारा लक्षित होता है।

प्रस्तुत प्रकरण में यह युक्ति दी जा सकती है कि 'प्रकटयति' पद का प्रयोग न करके 'वदति' पद को प्रयुक्त करने का प्रयोजन स्पष्टीकरण-प्रतीत है जो व्यंग्य अर्थ है। अतः व्यंग्य अर्थ के होने से यह ध्वनि काव्य हुआ, किन्तु यह युक्ति सारहीन है। ध्वनि वहीं होती है जहाँ व्यंग्य अर्थ में चारुत्व प्रतीति होती है। इस प्रयोजन की प्रतीति में कोई चारुत्व नहीं है और न इसके द्वारा काव्य के सौन्दर्य में किसी प्रकार की अभिवृद्धि होती है। यदि 'वदति' पद के स्थान पर 'प्रकटयति' पद का प्रयोग किया जाता तो भी काव्य में किसी प्रकार का अचारुत्व नहीं आता और अभिधा द्वारा ही कवि के प्रयोजन के सिद्धि हो जाती। इस प्रकार यहाँ ध्वनि के होने पर भी भक्ति है। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मान लिया जाय तो यहाँ भी ध्वनि माननी पड़ती। ऐसी स्थिति में ध्वनि से भिन्न स्थान पर भक्ति के अतिव्याप्त होने की सम्भावना से उसे ध्वनि का लक्षण नहीं माना जा सकता।

अव्याप्ति :—

यदि लक्षण लक्ष्य वस्तु में कहीं हो और कहीं न हो तो वहाँ अव्याप्ति नामक दोष का प्रादुर्भाव हो जाता है। जैसे — 'गलकम्बलत्व' रूप गो-लक्षण कुछ गो प्राणियों का बोध कराये और कुछ का न कराये तो वहाँ अव्याप्ति दोष कहा जायेगा। भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने पर अव्याप्ति दोष उत्पन्न हो जाता है। ध्वनि के अविवक्षितवाच्य तथा वि-वक्षितान्यपरवाच्य नामक दो मुख्य भेद हैं। इनमें से अविवक्षितवाच्यध्वनि में तो लक्षणा की प्राप्ति अवश्यम्भावी है, किन्तु विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में भक्ति का सर्वथा अभाव ही कहा जायेगा। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के भेदोपभेदों असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि, रसध्वनि तथा भावध्वनि आदि में मुख्यार्थ की बाधा न उपस्थित होने से लक्षणा व्यापार नहीं होगा, अतः वहाँ भक्ति कैसे सम्भव होगी?[1] ऐसी स्थिति में भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने पर अव्याप्ति-दोष की परिपुष्टि हो जाती है।

1- अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य। न हि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः, अन्ये च बहवः प्रकाराः भक्त्या व्याप्यन्ते। तस्माद् भक्तिरलक्षणम्॥— ध्वन्यालोक, 1/18 वृत्ति

क्या भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण कहा जा सकता है?:—

जिस लक्षण द्वारा यथेष्ट वस्तु को अन्य वस्तुओं से पृथक् दिखाया जा सके तथा जिसकी अवस्थिति मात्र यथेष्ट के प्रतिपादन काल तक हो वह उपलक्षण कहलाता है। जैसे 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्।' इस उदाहरण में 'काकवत्व' देवदत्त के घर को अन्य घरों से यथेष्ट के रूप में पृथक् सिद्ध करता है, कुछ समय के पश्चात् 'काक्' के उड़ जाने पर उसकी सार्वकालिक उपस्थिति भी नहीं सिद्ध होती, अतः यह देवदत्त के घर का उपलक्षण सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार 'काकवत्व' देवदत्त के घर का 'उपलक्षण' सिद्ध हो जाता है, क्या उसी प्रकार भक्ति भी ध्वनि का उपलक्षण सिद्ध हो सकती है? इस सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धनाचार्य का कथन है कि यदि भक्तिवादी यह कहें कि प्राचीन आचार्यों ने भक्ति के स्वरूप का पर्याप्त विवेचन किया है तथा यह भक्ति ध्वनि कुछ भेदों में निश्चित रूप से विद्यमान रहती है। अतः उसके उपलक्षण द्वारा ध्वनि को भी समग्र भेदों सहित लक्षित कर लेंगे। ऐसी स्थिति में ध्वनि को भक्ति से पृथक् प्रतिपादित करने की आवश्यकता नहीं है तो इस सम्बन्ध में उनका कथन मात्र इतना ही स्वीकरणीय होगा कि ध्वनि के अनन्त भेदों में से किसी एक भेद का यह भक्ति उपलक्षण हो सकती है।[1] इसके विपरीत ध्वनि के समग्र भेदों में भक्ति के न होने पर भी यदि भक्ति द्वारा उसे लक्षित कर लेने के सिद्धान्त को स्वीकार किया जायेगा तो भामह, उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों की रचनाएँ ही व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगी। इन आचार्यों की रचनाएँ अलंकार प्रधान हैं। अलंकारों का आधार शब्द और उनका अर्थ है तथा संकेत एवं अभिधा व्यापार से उनकी स्थिति होती है। वैयाकरण तथा मीमांसक आचार्यों ने शब्द, अर्थ तथा अभिधा व्यापार का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। ऐसी स्थिति में यदि भक्ति द्वारा ध्वनि को लक्षित माना जा सकता है तो ऐसी सिद्धान्त के अनुसार यह भी मान्य होगा कि अभिधा व्यापार से ही समस्त अलंकारों का विवेचन हो जाने के कारण भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों का पृथक् पृथक् अलंकार निरूपण व्यर्थ है। भक्तिवादी आचार्य सम्भवतः उक्त सिद्धान्त को न तो स्वीकार करेंगे और न तो उनकी उक्त स्वीकारोक्ति औचित्यपूर्ण कही जायेगी। अतः इसी के अनुरूप उन्हें भक्ति द्वारा ध्वनि को उपलक्षित करने का आग्रह भी छोड़ देना चाहिए।[2]

1- कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्।— ध्वन्यालोक, 1/19 पूर्वार्द्ध

2- सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत, यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरो लंकारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलंकाराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः। — ध्वन्यालोक, 1/19 वृत्ति

इस प्रकार वाचकत्व रूप अभिधा व्यापार का आश्रय लेकर अवस्थित रहने वाली लक्षणा द्वारा ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। सर्वप्रथम अभिधा व्यापार से मुख्य अर्थ उपस्थित होता है, उसके बाधित होने पर लक्षणा द्वारा मुख्य अर्थ से सम्बन्धित लक्ष्य अर्थ का बोध होता है। अतः अभिधा की पुच्छभूत रहने वाली लक्षणा स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाली व्यंजना-व्यापार-संयुक्त ध्वनि का लक्षण किसी भी प्रकार नहीं बन सकती।[1]

(3) अलक्षणीयतावादी :—

अलक्षणीयतावादी ध्वनि विरोधी आचार्यों के अनुसार ध्वनि तत्व का निरूपण वाणी द्वारा नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह मात्र सहृदय हृदय संवेद्य है। हम उसका अनुभव कर सकते हैं, किन्तु उसके स्वरूप एवं लक्षण आदि का निर्वचन सर्वथा असम्भव है।[2] इस सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धनाचार्य का कथन है कि जो आचार्य ध्वनि को वाणी का विषय नहीं मानते, उनकी यह मान्यता उचित नहीं कही जायेगी, क्योंकि अब तक कही हुई तथा आगे कही जाने वाली नीति से ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षण प्रतिपादित कर देने पर भी यदि ध्वनि को अनिर्वचनीय कहा जायेगा तो ऐसा अनिर्वचनीयत्व सभी वस्तुओं में प्राप्य होगा।[3]

(2) आनन्दवर्द्धनाचार्य के उत्तरवर्ती ध्वनि-विरोधी :—

ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा अपने पूर्ववर्ती ध्वनि-विरोधी आचार्यों की मान्यताओं को सयुक्तिक वैचारिक शक्ति के आधार पर सर्वथा अमान्य सिद्ध कर दिया गया था। अतः उसके परिणाम स्वरूप कुछ समय तक ध्वनि-सिद्धान्त पल्लवित तथा पुष्पित होता रहा, किन्तु आनन्दवर्द्धनाचार्य के अभाव में पुनः ध्वनि-विरोधियों का प्राबल्य दिखायी पड़ा। ऐसे आचार्यों में मुकुलभट्ट, प्रतिहारेन्दुराज,

---

1- वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम्॥— ध्वन्यालोक, 1/18

2- केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः।— ध्वन्यालोक, 1/1 वृत्ति

3- ये ऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्ते ऽपि न परीक्ष्य वादिनः। यत उक्त्या नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव।— ध्वन्यालोक, 1/19 वृत्ति

भट्टनायक, धनंजयधनिक, कुन्तक तथा महिमभट्ट आदि का परिगणन किया जाता है। इन आचार्यों की ध्वनि विरोधी मान्यताओं का समाधान अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इन आचार्यों द्वारा प्रस्तावित समाधान ध्वनिविरोधियों के लिए चुनौती बन गया है।

(1) मुकुलभट्ट :—

आचार्य मुकुलभट्ट ने सम्पूर्ण ध्वनि को लक्षणा में अन्तर्निहित करने के उद्देश्य से 'अभिधामातृका' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी।[1] उन्होंने अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक तीन प्रकार की शब्द शक्तियों में से मात्र अभिधा को ही स्वीकार किया है। 'अभिधामातृका' में ग्रन्थकार ने अभिधा के दस भेदों का विवेचन करने के उपरान्त उनमें लक्षणा के छः प्रकारों का अन्तर्भाव करके अभिधा शक्ति के महत्व का प्रतिपादन सिद्ध किया है। अन्ततः लक्षणा के इन छः भेदों में व्यंजना के सभी प्रकारों का अन्तर्भाव कर दिया है।

(2) प्रतिहारेन्दुराज :—

मुकुलभट्ट के शिष्य तथा उद्भट के 'काव्यालंकारसारसंग्रह' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य प्रतिहारेन्दुराज ने आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा विकसित ध्वनि के वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि एवं रसध्वनि रूप तीनों भेदों को क्रमशः रसवद्, श्लेष तथा पर्यायोक्त नामक अलंकारों में अन्तर्भुक्त कर दिया है।[2] इस प्रकार आचार्य प्रतिहारेन्दुराज का मुख्य उद्देश्य व्यंजना को पूर्णतया अलंकारों में अन्तर्निहित कर देना था।[3] उन्होंने ध्वन्यालोककार द्वारा ध्वनि की परिपुष्टि में प्रतिपादित किए गये अनेकानेक उदाहरणों को अलंकारों के उदाहरण सिद्ध किए हैं। ऐसी स्थिति में आचार्य प्रतिहारेन्दुराज अलंकार सम्प्रदाय के परिपोषक एवं ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोधी आचार्य सिद्ध होते हैं।

1- लक्षणामार्गावगाहित्वं ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्।— अभिधावृत्तिमातृका, पृ0 21

2- एवमेतत् व्यंजकं पर्यायोक्तादिष्वन्तर्भावितम्। — काव्यालंकारसारसंग्रह, टीका पृ0 92

3- ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य वाच्यव्यापारासंस्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यंजकत्वभेदात्मा काव्यधर्मो विहितः। स कस्मादिह नोपदिष्टः उच्यते। एष्वेवालंकारेष्वन्तर्भावात्।
— काव्यालंकारसारसंग्रह, टीका पृ0 79

(3) भट्टनायक :—

रससिद्धान्त के प्रबल समर्थक आचार्य भट्टनायक ध्वनि विरोधी आचार्य माने गये हैं। इनका स्वरचित ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' नाम से विख्यात है। यह ग्रन्थ अद्यावधि समुपलब्ध नहीं हो सका, किन्तु इसकी वैचारिक मान्यताओं का उल्लेख अभिनवभारती ध्वन्यालोकलोचन, अलंकारसर्वस्व काव्यप्रकाश, तथा काव्यानुशासन(हेमचन्द्र) आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इस उल्लिखित स्वरूप के आधार पर इस तथ्य की प्राप्ति होती है कि आचार्य भट्टनायक ने 'हृदयदर्पण(की रचना ध्वनि सिद्धान्त के खण्डन हेतु की थी इसीलिए कुछ आचार्यों ने इसे ध्वनिध्वंस' की संज्ञा भी प्रदान की है।[1] व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट ने 'हृदयदर्पण' के महत्व को सर्वथा स्वीकार करते हुए लिखा है कि मेरी बुद्धि 'दर्पण' को अवलोकित किए बिना ही सहसा यश की प्राप्ति हेतु समुद्यत हो गयी है।[2] आचार्य भट्टनायक ~~का~~ ने रस चर्वणा को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है, किन्तु सामान्य रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध करने में उनकी पूर्णतया अस्वीकृति है। उनका कथन है कि ध्वनि नाम का जो भी अन्य व्यंजनात्मक व्यापार है उसका अभिधा तथा भावना से भेद प्रतीत होने पर भी अंशत्व सिद्ध होगा, रूपत्व नहीं।[3] इसका अभिप्राय यह है कि आचार्य भट्टनायक ने अभिधा, भावना, तथा ध्वनि के रूप में काव्य के तीन अंश माने हैं। जिनमें ध्वनि व्यंजनात्मक व्यापार है तथा अभिधा एवं भावना से भिन्न है, तथापि काव्य में उसे 'अंशत्व' ही प्राप्त है 'रूपत्व' नहीं। यहाँ अंशत्व का अभिप्राय शब्द के एक व्यापार से है तथा रूपत्व का अभिप्राय काव्य की आत्मा से है। इस प्रकार आचार्य भट्टनायक के अनुसार ध्वनि काव्य की आत्मा न होकर अभिधा तथा भावना की भाँति शब्द का एक व्यापार है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन टीका में भट्टनायक की उक्त ध्वनि विरोधी मान्यता को अनायास निरर्थक सिद्ध कर दिया है। उनका कथन है कि अभिधा, भावना तथा रस चर्वणा रूप तीन अंश वाले काव्य में रस चर्वणा जीवित रूप है —

1- दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंस ग्रन्थोऽपि।— व्यक्तिविवेक

2- सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यतादृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालंकारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्॥— व्यक्तिविवेक, 1/4

3- ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यंजनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्यांशत्वं न रूपिता॥ ध्वन्यालोक लोचन, पृ040

इस तथ्य को स्वयं भट्टनायक ने स्वीकार किया है। अतः यदि वस्तुध्वनि तथा अलंकार ध्वनि का अभिप्राय से ध्वनि का भोगकत्व सिद्ध किया गया है तो वह उचित कहा जा सकता है, किन्तु यदि रसध्वनि के अभिप्राय से वह सिद्ध होगी तो स्वयं स्वीकृत प्रसिद्धि रूप सहृदयानुभव संवेदन के विपरीत हो जायेगी।[1]

भट्टनायक ने ध्वन्यालोक में आगत 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि उदाहरण में अपनी विरोधी भावना प्रदर्शित की है। उनकी मान्यता के अनुसार 'दृप्तसिंह' तथा 'धार्मिक' आदि पदों के प्रयोग से बोद्धा को जो निषेधात्मक ज्ञान होता है, वह भयानक रस के आवेश द्वारा होता है। धार्मिक की भीरुता तथा सिंह की वीरता रूपज्ञान के अभाव में निषेधात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन - टीका में भट्टनायक की इस मान्यता को सर्वथा निरस्त कर दिया है।[2] इसी प्रकार ध्वन्यालोक की ध्वनि परिभाषा में आगत 'व्यङ्क्तः' पद की आलोचना में प्रयुक्त किए गये भट्टनायक के विचारों को लोचनकार ने सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया है।[3]

1- इति तदपहस्तितं भवति तथा हि भावनाभावनारसचर्वणात्मकेऽपि त्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूतेति भवतो प्यविवादो स्ति। यथोक्तं त्वयैव —

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्। इति

तद्वस्त्वलंकारध्वन्यभिप्रायेणाभिमतत्वमिति सिद्धसाधनम्। रसध्वन्यभिप्रायेण तु स्वाभ्युपगमप्रसिद्धिसंवेदनविरुद्धमिति। — ध्वन्यालोक लोचन, पृ0 40, 41

2- भ्रमधार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।

गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥— गाथासप्तसती, 2/76

3- यत् तु भट्टनायकेनोक्तम् — इह दृप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धार्मिकपदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः तच्चापि भीरुवीरत्वप्रकृतिनियमावगममन्तरेण कथं ततो निषेधावगत्यभावादिति तन्न केवलार्थसामर्थ्यं निषेधावगतेर्निमित्तमिति। तत्रोच्यते — केनोक्तमेतत्, 'वक्तृप्रतिपत्तृविशेषावगमविरहेण शब्दगतध्वननव्यापारविरहेण च निषेधावगतिः' इति। प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं ह्यस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्। भयानकरसावेशस्य न निवारितः, तस्य वक्त्रभिप्रायत्वाभ्युपगमात्। प्रतिपत्तुश्च रसावेशो रसाभिव्यक्त्यैव। रसश्च व्यंग्य एव, तस्य च शब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतमिति व्यंग्यत्वमेव। प्रतिपत्तुरपि रसावेशो न नियतः, न ह्यसौ नियमेन भीरुधार्मिकब्रह्मचारी सहृदयः। ध्वन्यालोक, लोचन, पृ0 67-68

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य भट्टनायक ने अपनी प्रतिभा द्वारा ध्वनिवादियों की सैद्धान्तिक मान्यताओं को समूल नष्ट करने का यथेष्ट प्रयास किया है, किन्तु अभिनवगुप्त पादाचार्य की तार्किक मेधा के समक्ष यह प्रयास टिक नहीं सका।

(4) कुन्तक :—

ध्वनि सिद्धान्त द्वारा काव्यात्मत्व की समस्या का समाधान न होते देख आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' नामक नवीन तत्व की कल्पना करके उसे उक्त समस्या के समाधान का साधन सिद्ध करने का प्रयास किया। इस प्रकार आचार्य कुन्तक का ध्वनि-विरोधी होना स्वयं सिद्ध हो जाता है। उन्होंने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ में ध्वनि के अस्तित्व को वक्रोक्ति के विविध भेदों में समाविष्ट करने का प्रभूत प्रयास किया था, भले ही बाद में यह व्यर्थ सिद्ध हुआ हो। व्यंजना-व्यापार की स्वतंत्र सत्ता तथा प्रतीयमान अर्थ की विद्यमानता को अस्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है कि काव्य में वाचक शब्द तथा वाच्य अर्थ की ही प्रसिद्धि होती है तथा पारमार्थिक रूप से ये ही काव्य के स्वरूप का निर्माण करते हैं।[1] इसी प्रकार उन्होंने लक्षणामूला ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमित भेद को पदपूर्वार्द्धवक्रता के रूढ़िवैचित्र्यवक्रता नामक उपभेद में तथा अत्यन्ततिरस्कृत भेद को उपचारवक्रता में अन्तर्निहित किया है।[2] आचार्य कुन्तक की ध्वनि-विरोधी भावना का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत करते हुए डा० जयमन्त मिश्र ने लिखा है कि ध्वनिवादी व्यंजनावृत्ति

4- व्यङ्क्तः इति द्विवचनेनेदमाह — यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात्, विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः। तेन यद् भट्टनायकेन द्विवचनं दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव।—— ध्वन्यालोक लोचन, पृ० 103

1- वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥

ननु च द्योतकव्यंजकावपि शब्दौ सम्भवतः तदसंग्रहान्नाव्याप्तिः। यस्माद् अर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यंग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचारः।
— वक्रोक्तिजीवित, 1/1 तथा वृत्ति

2- यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते।
लेशेनापि भवत् काञ्चिद् वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम्॥
यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः।
उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते॥— वक्रोक्तिजीवित, 2/13,14

द्वारा रसादि ध्वनि की अभिव्यक्ति मानते हैं। ध्वनि का विवेचन ध्वनि-सम्प्रदाय में अधिक आत्मपरक हुआ है, किन्तु कुन्तक उसे वस्तुपरक एवं वक्रोक्ति द्वारा अभिधेय मानते हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आचार्य कुन्तक की ध्वनि विरोधी भावना का परिज्ञान प्राप्त होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन टीका में उनकी इस विरोधी भावना को पूर्णतया परिलक्षित कर दिया है। इसके अतिरिक्त यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो ध्वनि-सिद्धान्त के प्रति आचार्य कुन्तक की आस्था भी प्रतिलक्षित होती है। उन्होंने ध्वनि को वक्रोक्ति के प्रकारान्तर रूप में अपनी स्वीकृति प्रदान की है। वक्रोक्ति के विचित्र-मार्ग नामक भेद में प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व को उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।[2]

(5) महिमभट्ट :—

आनन्दवर्धनाचार्य के उत्तरवर्ती ध्वनि-विरोधियों में आचार्य महिमभट्ट सर्व-प्रमुख हैं। अन्य ध्वनि-विरोधियों का यह विरोध कुछ संक्षिप्त रूप में प्राप्त होता है, किन्तु उन्होंने इस विरोध को अत्यन्त विस्तृत स्वरूप प्रदान किया है। ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य निरूपित करते हुए उन्होंने लिखा है कि सम्पूर्ण ध्वनि को अनुमान में अन्तर्निहित कर लेने के उद्देश्य से मैं वाग्देवता को प्रणाम करता हुआ 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ।[3]

आचार्य महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' को तीन विमर्शों में विभक्त किया है। प्रथम विमर्श में पर्याप्त चिन्तन के पश्चात् ध्वन्यालोक के ध्वनि-लक्षण का खण्डन किया गया है। द्वितीय विमर्श शब्द दोषों का विवेचन करने के पश्चात् ध्वनि-सिद्धान्त में उनकी स्थिति का निरूपण किया गया है। तृतीय विमर्श में ध्वन्यालोक के चालीस ध्वनि-उदाहरणों को अनुमान में अन्तर्भावित किया गया है।

1- काव्यात्ममीमांसा, पृ0 12।

2- प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्॥— वक्रोक्तिजीवित, 1/40

3- अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।
— व्यक्तिविवेक, 1/1

प्रथम विमर्श में ध्वन्यालोक की 'यत्रार्थः शब्दो वा0' इत्यादि ध्वनि-परिभाषा में आचार्य महिमभट्ट ने दस दोषों की उद्भावना की है।[1] उनकी मान्यता के अनुसार इसमें इनके अतिरिक्त अन्य अनेक दोषों की कल्पना की जा सकती है। उनका कथन है कि काव्यविशेष को ध्वनि न मानकर काव्यानुमान मानना चाहिए। इस तथ्य को पारिभाषिक रूप में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि जहाँ वाच्य अथवा उससे अनुमित अर्थ किसी अन्य अर्थ को किसी भी सम्बन्ध से प्रकाशित करता है, उसे काव्यानुमिति कहा गया है।[2] उन्होंने शब्द की तीन शक्तियों में से मात्र अभिधा शक्ति को स्वीकार किया है।[3] इसी प्रकार वाच्य तथा प्रतीयमान अर्थ में व्यंग्य-व्यंजकभाव की मान्यता को उन्होंने सर्वथा अस्वीकार किया है। उनका कथन है कि वाच्य तथा उसके गेय अर्थों में व्यंग्य-व्यंजकभाव सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि उनकी प्रतीति घट-प्रदीप के समान साथ-साथ नहीं होती। पक्षधर्मत्व सम्बन्ध व्याप्ति ज्ञान द्वारा जिस प्रकार कृतत्व-अनित्यत्व तथा अनलत्व-धूमत्व में अनुमान मान्य होता है, उसी प्रकार यहाँ भी मानना चाहिए।[4]

1- अर्थस्य विशिष्टत्वं शब्दः सविशेषणत्वतः पुंस्त्वम्।
द्विवचनपाक्षको च व्यक्तिर्ध्वनिर्नाम काव्यवैशिष्ट्यम्॥
यद्यनेन कथनकर्तुं कथिता ध्वनिलक्षणीति दशदोषाः।
ये त्वन्ये तद्भेदप्रभेदलक्षणगता न ते गणिताः॥—
— व्यक्तिविवेक, 1/23, 24

एतच्च विविक्तलक्षणमनुमानस्यैव संगच्छते नान्यस्य तथाहि अर्थस्य तावदुपसर्जनीकृतात्मत्वमनुपपन्नमेव। तस्य अर्थान्तरप्रतीत्यर्थमुपात्तस्य तद् व्यभिचाराभावात्। नहि अग्न्यादिप्रतिपत्तौ धूमादि-रूपादीयमानो गुणतामतिवर्तते। — वही, वृत्ति

2- वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥— व्यक्तिविवेक, 1/25

3- शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता।
न व्यंजकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम्॥— वही, 1/26

4- वाच्यप्रतीययोर्नास्ति व्यंग्यव्यंजकतार्थयोः।
तयोः प्रदीपघटवत् साहित्येनाप्रकाशनात्॥
पक्षधर्मत्वसम्बन्धव्याप्तिसिद्ध्यपेक्षणम्।
कृतत्वाऽनित्यत्वयोर्यद्वत् यद्वदनलधूमयोः॥— वही, 1/33, 34

'व्यक्तिविवेक' के तृतीय विमर्श में आचार्य महिमभट्ट ने ध्वन्यालोक में प्रयुक्त किए गयेउदाहरणों में अनुमान की प्रक्रिया को आयोजित किया है। 'भ्रमधार्मिक०'[1] इत्यादि श्लोक में उन्होंने व्यंग्यार्थ की प्रतीति को व्यंग्य-व्यंजकभाव द्वारा न स्वीकार करके धूमाग्नि के अनुमान के समान अनुमिति प्रक्रिया द्वारा स्वीकार किया है। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने महिमभट्ट की इस स्वीकारोक्ति को सर्वथा अनुचित सिद्ध कर दिया है। उनका कथन है कि अनुमिति प्रक्रिया के अनुसार प्राप्त होने वाला हेतु यहाँ हेतु न होकर हेत्वाभास है। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम तथा कालात्ययापदिष्ट नामक पाँच प्रकार के हेत्वाभासों में से यहाँ प्रथम तीन प्रकार के हेत्वाभासों का स्वरूप विद्यमान है। प्रायः भीरु व्यक्ति भी गुरु अथवा स्वामी की आज्ञा, पत्नी के प्रेमाधिक्य से तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों से भय के विद्यमान होने पर भी भयानक स्थानों पर भ्रमण करता है। यहाँ अनैकान्तिक हेत्वाभास की परिपुष्टि होती है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो कुत्ते से तो भयभीत होते हैं किन्तु वीर होने के कारण सिंह से नहीं डरते हैं। इस प्रकार यहाँ विरुद्ध नामक हेत्वाभास सिद्ध होता है। गोदावरी के किनारे सिंह की विद्यमानता प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण द्वारा निश्चित नहीं हुई है, वह वचन मात्र से सिद्ध है। प्रामाणिक वचन भी कुलटा नायिका के होने से 'आप्तवाक्य' नहीं सिद्ध हो सकते। ऐसी स्थिति में कुंज के अन्तर्गत सिंह की अवस्थिति असिद्ध हो जाने से यहाँ असिद्ध नामक हेत्वाभास भी परिपुष्ट हो जाता है। इस प्रकार इन हेत्वाभासों के आधार पर साध्य की सिद्धि कैसे हो जायेगी? अतः भ्रमण-निषेध रूप व्यंग्यार्थ को अनुमान का विषय नहीं माना जा सकता।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य महिमभट्ट ने अनेकानेक आधारों पर ध्वनिसम्प्रदाय की सैद्धान्तिक मान्यताओं को समाप्त करने का अथक प्रयास किया है।

1- भ्रमधार्मिक विश्रब्धः स श्वाद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन॥ — गाथासप्तशती, 2/76

2- अत्रोच्यते — भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः। शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि। गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः। अपि तु वचनात्। न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च। तत्कथमेवं विधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः। — काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास।

किन्तु मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों की अद्वितीय प्रतिभा के समक्ष यह प्रयास व्यर्थ सिद्ध हो गया। इस सम्बन्ध में डा० शिवनाथ पाण्डेय का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि यद्यपि अनुमानवादी आचार्य महिमभट्ट द्वारा ध्वनि सिद्धान्त एवं उसकी मान्यताओं पर बहुत जोरदार आक्रमण किए गये, किन्तु फिर भी ध्वनिमत का उन्मूलन न हो सका। इसका कारण है — मम्मट सदृश विद्वानों का आविर्भाव। इन आचार्यों ने ध्वनि मत को अपनाया ही नहीं, प्रत्युत अपनी तर्कसम्मत युक्तियों द्वारा, महिमभट्ट के अनुमानवादी मत को ध्वस्त कर दिया। इनके पश्चात् पुनः फिर किसी व्यक्ति को इस बात का साहस न हो सका कि वह ध्वनि मत का खण्डन करे। एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि जिस प्रकार ध्वनि मत के समर्थक एवं उसके अनुयायी अनेक आचार्य हुए, वैसे अनुमानवादी सिद्धान्त के नहीं। यही कारण है कि 'वक्रोक्ति' की तरह महिमभट्ट का अनुमानवादी मत भी उनके साथ ही समाप्त हो गया।[1]

(6) धनंजय-धनिक :—

आनन्दवर्धनाचार्य के उत्तरवर्ती ध्वनि विरोधियों में धनंजय-धनिक नामक आचार्यद्वय का उल्लेख किया गया है। रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त ने जिस व्यंजनावाद का प्रतिपादन किया था, प्रायः सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने उसका समर्थन किया है, किन्तु कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जो इस सम्बन्ध में अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। धनंजय-धनिक ऐसे ही आचार्यों में परिगणित हैं। आचार्यद्वय ने समन्वितप्रयास से 'दशरूपक' नामक नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की है। इसमें आचार्य धनंजय कारिकाकार हैं तथा आचार्य धनिक वृत्तिकार। इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण ध्वनि सिद्धान्त को तात्पर्य शक्ति में अन्तर्भावित किया गया है। आचार्य धनंजय ने ध्वनिवादियों की इस मान्यता को पूर्णतया अमान्य बनाया है कि रस व्यंग्य होता है तथा उसकी प्रतीति के लिए व्यंजना व्यापार आवश्यक होता है। उनका कथन है कि स्थायीभाव रूप रस विभावादि के द्वारा प्रतीत होने वाला वाक्यार्थ ही होता है। जिस प्रकार किसी वाक्य के रूप में कथित अथवा प्रकरणादि के द्वारा बुद्धिस्थ क्रिया, कारकों से युक्त होकर वाक्य बन जाती है।[2] यह वाक्यार्थ तात्पर्यशक्ति ही होता है।

1- ध्वनि-सम्प्रदाय का विकास, पृ० 26।

2- वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्तः स्थायीभावस्तथेतरैः ॥— दशरूपक, 4/37

ध्वनि के स्वरूप को सर्वेक्षात्मक रूप में उपस्थित करते हुए आचार्य धनिक ने लिखा है कि काव्य में व्यंजनीय (प्रतीयमान) अर्थ का समावेश तात्पर्य में ही हो जाता है अतः प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तात्पर्यशक्ति के द्वारा ही हो जाती है, ऐसी स्थिति में प्रतीयमान अर्थ को व्यंजना द्वारा व्यंजित मानकर ध्वनि की संज्ञा देना उचित नहीं होगा।[1] इसकेअतिरिक्त ध्वनि वहीं होगी जहाँ तात्पर्यार्थ की एक बार समाप्ति हो जाय। वह विश्रान्त हो जाय अथवा वाक्य किसी अन्य तात्पर्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ का आश्रय ग्रहण कर ले, किन्तु जहाँ कहीं भी व्यंग्य माना जायेगा वहाँ ध्वनि की मान्यता उचित नहीं होगी, क्योंकि किसी भी वाक्य के तात्पर्यार्थ की विश्रान्ति सम्भव नहीं है, वह तो काव्य के प्रयोजन पर ही जाकर विश्रान्त होगा।[2] इस प्रकार धनंजय धनिक रूप आचार्यद्वय के अनुसार काव्य का रस के साथ व्यंग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध न होकर भाव्यभावक रूप सम्बन्ध होता है। काव्य न तो व्यंजक है और न रसादि व्यंग्य है।

इस ध्वनि विरोधी भावना के परिशमन में यह युक्ति दी जाती है कि तात्पर्यवृत्ति द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध नहीं हो सकता है। शब्द, बुद्धि तथा क्रिया एक बार अपना अपना कार्य प्रस्तुत करके क्षीण हो जाते हैं। प्रत्येक वस्तु द्वारा एक ही कार्य सम्पन्न होता है, अन्य नहीं। जिस प्रकार अभिधा एवं लक्षणा शक्तियाँ क्रमशः वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ का ज्ञान कराने के पश्चात् क्षीण होकर अन्य कार्यों के लिए असमर्थ सिद्ध हो जाती हैं उसी प्रकार तात्पर्यशक्ति भी वाक्य के पदों का सम्बन्धबोध कराकर शान्त हो जाती है, ऐसी स्थिति में उसके द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यंजनाशक्ति की स्वीकारोक्ति सर्वथा आवश्यक सिद्ध हो जाती है। दशरूपक की ध्वनि विरोधी भावना का परिशमन सुचारुरूप से साहित्यदर्पणकार द्वारा किया गया है।[3]

1- तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यंजनीयस्य न ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि।— दशरूपक

2- ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्नविश्रान्त्यसम्भवात्॥— वही, 4/37 पर वृत्ति

3- तत्र पृष्टव्यम् — किमिदं तत्परत्वं नाम — तदर्थत्वं वा तात्पर्यवृत्त्या तद्बोधकत्वं वा? आद्ये न विवादः, व्यंग्येऽपि तदर्थतानपायात्। द्वितीये तु केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः—अभिहितान्वयवादिभिरंगीकृता वा तदन्या वा? आद्ये दत्तमेवोत्तरम्। द्वितीये तु नाममात्रे विवादः तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः। —

आचार्य रुय्यक द्वारा विरचित प्रसिद्ध अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार आचार्य जयरथ ने विभिन्न तथ्यों के आधार पर ध्वनि-विरोधी आचार्यों की भावना को बारह रूपों में प्रदर्शित किया है।[1] मूल के साथ उनका परिसीमित स्वरूप इस प्रकार है —

(1) प्रथम ध्वनि-विरोधी मत तात्पर्यशक्ति को मानने वाले अभिहितान्वयवादी मीमांसक आचार्यों का है। इन आचार्यों ने व्यंग्यार्थ को यावत्कार्यप्रसारी तथा अपरिमित अर्थावबोधिका तात्पर्यवृत्ति से बोध्य माना है।[2]

अभिहितान्वयवादी आचार्यों की इस विरोधी भावना का परिशमन अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि आचार्यों की तार्किक युक्तियों द्वारा अनायास ही हो जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि वाच्यार्थ, तात्पर्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से पृथक् चतुर्थ कक्षा में जिस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वह अभिहितान्वयवादियों की द्वितीय कक्षा की मात्र संसर्गावबोधिका तात्पर्यशक्ति से नहीं हो सकती है।[3] इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने लिखा है कि अन्वय मात्र का प्रतिपादन करने वाली तात्पर्याख्या शक्ति व्यंग्यार्थ की अवबोधिका नहीं हो सकती है।[4]

1- तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलङ्कृतिः।
रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः॥ — अलंकारसर्वस्व, पृ० 9

2- तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः। किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि।
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्। यावत् कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्।
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षा परतन्त्रता। वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते॥
— दशरूपक, 4/37 पर वृत्ति

3- न तात्पर्यात्मा। तस्य अन्वयप्रतीतावेव परिक्षयात्। चतुर्थ्यां तु कक्षायां ध्वननव्यापारः। तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः॥ — ध्वन्यालोक, लोचन, पृ० 59-60

4- अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्तत्त्वान्वितवादिनेऽन्वितः विशेषस्तु वाच्य एव इत्युभयनयेऽपि अपदार्थ एव वाक्यार्थः॥ — काव्यप्रकाश 3/5 -वृत्ति

(2) द्वितीय ध्वनि-विरोधी मत बाण के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार के समान दीर्घ-दीर्घतर होने वाले अभिधा व्यापार से ही व्यंग्यार्थ को बोध्य मानने वाले मीमांसक आचार्यों का है। इन आचार्यों ने अभिधा के अतिरिक्त व्यंजना आदि शक्तियों के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार किया है।

अभिधावादी आचार्यों की इस विरोधी-भावना को आचार्य अभिनवगुप्त ने सर्वथा अनुचित बतलाया है। उनका कथन है कि अभिधाशक्ति द्वारा व्यंग्य अर्थ की प्रतीति सर्वथा असम्भव है, क्योंकि उस अर्थ में संकेतग्रह का अभाव होता है और अभिधा संकेतग्रह के अभाव में अपना कार्य करने में सर्वथा असमर्थ हो जाती है।[1] इसके अतिरिक्त 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इस सिद्धान्त के अनुसार मीमांसक आचार्यों की 'दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' सम्बन्धी मान्यता भी निरस्त हो जाती है।[2]

(3) तृतीय ध्वनि-विरोधी मत लक्षणावादी आचार्यों का है। इसके अनुसार जिस प्रकार उपादान लक्षणा द्वारा 'रामोऽसौ भुवनेषु0' 'रामोऽस्मि सर्वं सहे0' तथा 'रामेण प्रिय-जीवितेन0' इत्यादि स्थलों पर राम शब्द के अर्थ क्रमशः 'दशरथाद्यभिनिष्ठत्व' 'सम्पूर्ण दुःखों का आधार' तथा 'निष्करुण' आदि निश्चित होते हैं उसी प्रकार व्यंग्यार्थ का ज्ञान भी लक्षणा से हो जाता है। उसकी प्रतीति के लिए व्यंजना शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।[3]

1- व्यापारश्च नाभिधात्मा। समयाभावात्। — ध्वन्यालोक लोचन, पृ0 61।

2- योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधा-व्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः। भिन्नविषय-त्वात्। अथानेकोऽसौ? तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्य व्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिर्निषिद्धः। असजातीये चास्मन्नय एव।—
ध्वन्यालोक लोचन, पृ0 62

3- रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम्।
बन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः॥ — काव्यप्रकाश 4/20की व्या0से

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव।—काव्यप्रकाश 4/21

ध्वनि-विरोधी आचार्यों की इस मान्यता को आनन्दवर्धनाचार्य ने स्वयं ही निरस्त कर दिया था, इसके पश्चात् अभिनवगुप्तपादाचार्य की लोचनटीका ने तो इसका सर्वस्व ही समाप्त कर दिया है। इस जिज्ञासा का समाधान इसके पूर्व लक्षणावादी ध्वन्याभाववादी आचार्यों की मान्यताओं को खण्डन करने में सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(5) पंचम ध्वनि विरोधी मत महिम भट्ट आदि अनुमानवादी आचार्यों का है। इन आचार्यों के अनुसार ~~ध्वनि~~ ध्वन्यर्थ की अभिव्यंजना न होकर उसका अनुमान किया जाता है। ध्वन्यर्थ की इस अनुमानवादी विचारधारा को काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने सर्वथा निर्मूल सिद्ध कर दिया है। इस तथ्य का समाधानात्मक विवेचन, ध्वनि विरोधी आचार्य महिमभट्ट की मान्यताओं का विवेचन करते समय प्रस्तुत किया जा चुका है।

(6) षष्ठ ध्वनि-विरोधी मत भी अनुमानवादी आचार्यों का है। इसका भी परिशमनात्मक स्वरूप पूर्वोक्त निर्देश के अनुसार ग्राह्य होगा।

(7) सप्तम ध्वनि-विरोधी मत उन मीमांसक आचार्यों का है जो ध्वनि के अस्तित्व को अर्थापत्ति की परिधि में समाप्त कर देना चाहते हैं। जिसके द्वारा उपपादक अर्थ की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं। जैसे —— मोटा चैत्र दिन में भोजन नहीं करता है, यहाँ दिन में भोजन न करने वाले चैत्र का मोटापन भोजन के अभाव में अनुपपुक्त होने से रात्रि-भोजन रूप उपपादक अर्थ की कल्पना कर ली जाती है।[1] मीमांसक आचार्यों का कथन है कि जिस प्रकार 'पीनश्चैत्रो दिवा नात्ति' इत्यादि स्थलों पर अर्थापत्ति द्वारा चैत्र के रात्रि-भोजन रूप अर्थ की कल्पना कर ली जाती है, उसी प्रकार 'निःशेषच्युत' इत्यादि स्थलों पर अर्थापत्ति द्वारा 'नायकान्तिकगमनरूप' अर्थ भी कल्पित कर लिए जाते हैं। यहाँ उक्त अर्थ के व्यंजित या ध्वनित होने की कल्पना सर्वथा निर्मूल है।

1- 'पीनश्चैत्रो दिवा नात्ति' इत्यत्राभिधेयापर्यवसितेति तेन स्वार्थनिर्वाहायार्थान्तरं शब्दान्तरं वाक्षिप्यतीत्यनुमानस्य श्रुतार्थापत्तेर्वा तार्किकमीमांसकयोर्न ध्वनिप्रसंगः इत्यलं बहुना।

— ध्वन्यालोक लोचन, पृ० 295

2- निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥ —काव्यप्रकाश, 1/4वृत्ति

ध्वन्यभाववादी मीमांसक आचार्यों की उपर्युक्त मान्यता के सम्बन्ध में यह युक्ति दी जाती है कि नैयायिक आचार्यों ने अर्थापत्ति प्रमाण को अनुमान के कार्य-क्षेत्र में अन्तर्निहित कर लिया है।[1] अतः जब आधार अस्तित्व ही सन्दिग्ध हो जाता है तो उसके द्वारा सम्भव होने वाली उपपादक अर्थ की कल्पना द्वारा ध्वनि के अस्तित्व की समाप्ति हास्यास्पद ही कही जायेगी।

(8) अष्टम ध्वनि विरोधी मत उन आचार्यों का है जो ध्वन्यर्थ का अवबोध तन्त्र द्वारा मानते हैं। शास्त्रीय मान्यता के अनुसार अनेक अर्थों के अवबोधन की इच्छा से एक पद का एक ही बार उच्चारण करना तन्त्र कहलाता है।[2] जैसे — श्वेतो धावति। इस उदाहरण में तन्त्रन्याय से दो अर्थों की प्राप्ति होती है —(क) श्वेत(अ)दौड़ता है तथा (ख)श्वा(कुत्ता) यहाँ से दौड़ता है। इस प्रकार तान्त्रिक आचार्यों के अनुसार उपर्युक्त प्रक्रिया को आधार मानकर हम वाच्यार्थ तथा उससे अभिभूत होने वाले व्यंग्यार्थ की प्राप्ति कर लेते हैं। अतः ध्वनि-सिद्धान्त की मान्यता व्यर्थ सिद्ध हो जाती है।

तान्त्रिक आचार्यों की उपर्युक्त मान्यता को अनुपयुक्त सिद्ध करने में यह युक्ति दी जाती है कि तन्त्र द्वारा द्विविध वाच्यार्थावबोध होने पर भी विधिरूप वाच्यार्थ से निषेधरूप व्यंग्यार्थ तथा निषेधरूप वाच्यार्थ से विधिरूप व्यंग्यार्थ आदि का अवबोधन-कार्य सर्वथा असम्भव सिद्ध होगा।

(9) नवम ध्वनि विरोधी मत उन ~~अलंकारिकों~~ अलंकारवादी आचार्यों का है जो समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति तथा व्यतिरेक आदि अलंकारों में ही ध्वनि के अस्तित्व को समाप्त करने का [illegible] प्रयास करते हैं।

अलंकारवादी ध्वनि विरोधी आचार्यों के उपर्युक्त प्रयास को निर्मूल सिद्ध करने के लिए इसके पूर्व विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है। इसका संक्षिप्त स्वरूप इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि समासोक्त्यादि अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव कथमपि सम्भाव्य नहीं हो सकता है, क्योंकि ध्वनि का अस्तित्व व्यंग्य-व्यंजकभाव सम्बन्ध पर आधारित होता है, इसके विपरीत समासोक्त्यादि अलंकार वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध पर

---

1. अर्थापत्तिस्तु नैवेह प्रमाणान्तरमिष्यते। — मुक्तावली पृ० 144
अभावपूर्विकाप्यर्थापत्तिरनुमानमेव, जीवतो गृहाभावेन लिङ्गभूतेन बहिर्भावावगमात्॥
— न्यायमंजरी, पृ० 43
2. तन्त्रं नाम अनेकार्थबोधनेच्छया पदस्यैकस्य सकृदुच्चारणम्।

आधारित होता है, इसके विपरीत समासोक्त्यादि अलंकार वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध पर आधारित हैं।[1] इस प्रकार समासोक्त्यादि अलंकारों में व्यंग्यार्थ के प्रधानत्व का अभाव होता है तथा ये मुख्य रूप से वाच्यार्थ का अनुगमन करने वाले होते हैं।[2] इसके विपरीत ध्वनि-काव्य में व्यंग्यार्थ का पूर्णतया प्रधानत्व निश्चित होता है।[3] इसी प्रकार अलंकार, गुण तथा वृत्ति आदि को ध्वनि का अंग माना गया है अतः अंग रूप अलंकारों में अंगी रूप ध्वनि का अन्तर्भाव अनुचित ही कहा जायेगा। अंगी में अंग का ही अन्तर्भाव होता है। अंग में अंगी का नहीं। इसके अतिरिक्त यदि पर्यायोक्त आदि कुछ अलंकारों में व्यंग्यार्थ का प्रधानत्व भी होता है तो ध्वनि के महाविषय होने से उसका इसमें अन्तर्भाव हो जाता है।[4] पण्डित-राज जगन्नाथ ने इस तथ्य की निर्विरोध रूप से परिपुष्ट की है।[5]

(10) दशम ध्वनि विरोधी मत भट्टलोल्लट आदि रसवादी आचार्यों का है। उनके अनुसार रस ध्वनित न होकर उत्पन्न होता है, क्योंकि ध्वनित होने के लिए रस की पूर्व-स्थिति निश्चित होनी चाहिए, जबकि रस रसानुभूति के समय विभावादि के द्वारा उत्पन्न किया जाता है।

भट्टलोल्लट द्वारा उपस्थापित उपर्युक्त ध्वनि विरोधी मान्यता को आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोकलोचन' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया है। शोध-प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में आचार्य भरत के रस-सूत्र की व्याख्या में इस तथ्य का विस्तृत विवेचन प्राप्त होगा।

1- व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः ॥– ध्वन्यालोक, 1/13 पर वृत्ति

2- व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ॥– वही, 1/14

3- यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥– वही, 1/13

4- तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः। इतश्च नान्तर्भावः, यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरङ्गानि अलंकारगुणवृत्तय इति प्रतिपादयिष्यन्ते। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसि-द्धः। यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वम् न तन्निष्ठत्वमेव ॥– वही, 1/16 वृत्ति

5- प्राधान्यव्यवस्थायां हि ध्वनिः अलंकारस्य पर्यायोक्तस्य पृष्ठे कर्णकारं निषिद्धम्॥
— रसगंगाधर,

(11) एकादश ध्वनि विरोधी मत आचार्य भट्टनायक का है। उन्होंने आचार्य भरत के रससूत्र की व्याख्या करते समय अन्य सम्बन्धित आचार्यों की उत्पत्ति, अनुमिति तथा अभिव्यक्तिवाद सम्बन्धी मान्यताओं को निरस्त करते हुए अभिधाशक्ति द्वारा काव्य विभावादि के भावकत्व द्वारा साधारणीकृत रूप में ज्ञात होने पर भोजकत्व व्यापार से रत्यादि के भोग को स्वीकार किया है।[1]

आचार्य भट्टनायक की उपर्युक्त ध्वनि-विरोधी मान्यता के परिशमन-हेतु हम डा0 श्री जयमन्तमिश्र के शब्दों में कह सकते हैं कि व्यंजना या ध्वनि से उन रसादि की अभिव्यक्ति न मानने के कारण भट्टनायक ध्वनि विरोधी माने जाते हैं। परन्तु उनका इस प्रकार से ध्वनि का विरोध करना असंगत है, क्योंकि भावकत्व और भोजकत्व दोनों व्यापार पहले अप्रसिद्ध हैं और जिस रसानुभूति के लिए ये दोनों व्यापार माने जाते हैं वह तो एक व्यंजना-व्यापार से ही सिद्ध है।अर्थात् भावकत्व का कार्य कल्पना को उद्बुद्ध कराना है और भोजकत्व का कार्य सहृदय में वासना रूप से स्थित स्थायीभावों को जगाकर सहृदय को अखण्ड आनन्द-निमग्न कराना है। भावकत्व का सम्बन्ध कल्पना या बौद्धिक अंश से है और भोजकत्व का सम्बन्ध वासनाजन्य रूप के विकसीकरण से। ये दोनों कार्य व्यंजना द्वारा हो जाते हैं। अर्थात् व्यंजना या ध्वनि कल्पना को जागृत कर स्थायीभावों के चरम परिणाम के आनन्द का स्वाद भी कराती है। अतः शास्त्रसिद्ध व्यंजनारूप ध्वनि को ही मानना चाहिए न कि भावकता और भोजकता को। रत्यादि स्थायीभाव, जो पहले से ही सिद्ध रहते हैं वे ही रस रूप में परिणत होते हैं, अतः व्यंजना से उनकी अभिव्यक्ति मानने में कोई आपत्ति नहीं है।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन टीका में भट्टनायक की ध्वनि-विरोधी भ्रामक धारणा को स्वमत्या अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया है।[3]

1- तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः। किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्। भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्त्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूता व्यापाराः। तत्रैतद् भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगः ....। ध्वन्या0लोचन, 193

2- काव्यात्मक-मीमांसा, पृ0 209

3- तेन यदुक्तं। 'ध्वनिर्नामपरो योऽसौ व्यापारो व्यंजनात्मकः। तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात् काव्यांशत्वं न रूपिता। इति तदपहस्तितं भवति। तथाहि अभिधाभावनारसचर्वणात्मकेऽपि।

(12) द्वादश ध्वनि विरोधी मत व्यापारान्तर से ध्वनि का बाध मानने वाले आचार्यों का है। डा० राघवन के अनुसार व्यापारान्तर का अभिप्राय आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति व्यापार से है।[1] इसके विपरीत महामहिम कुप्पुस्वामी शास्त्री ने इसका अभिप्राय आनन्दवर्द्धनाचार्य के के अनिर्वचनीयतावाद से सिद्ध किया है।[2]

उपर्युक्त ध्वनि विरोधी प्रथम मान्यता वक्रोक्ति रूप व्यापारान्तर से ध्वनि का बाध मानना कथमपि उचित नहीं कहा जायेगा, क्योंकि विभिन्न अभिधा रूप वक्रोक्ति ध्वन्यर्थ की अवबोधिका नहीं हो सकती है। इसीप्रकार अनिर्वचनीयत्व रूप द्वितीय मान्यता भी इस आधार पर निरस्त कर दी जाती है कि आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों द्वारा ध्वनि का उपयुक्त लक्षण [3] प्रस्तुत किया गया है। यदि ध्वनि का लक्षण विद्यमान होने पर भी उसे अनिर्वचनीय कहा जायेगा तो ऐसा अनिर्वचनीयत्व सभी वस्तुओं के लिए प्राप्य होगा।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ध्वनि विरोधी आचार्यों ने अपने अथक प्रयास द्वारा ध्वनि के अस्तित्व को समाप्त करना चाहा है, किन्तु आनन्दवर्द्धनाचार्य तथा उनके मतानुयायी अभिनवगुप्त एवं मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों की उत्कृष्ट प्रज्ञा के समक्ष उनका यह प्रयास सफल नहीं हो सका। यही कारण है कि आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यभाववादियों की पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती मान्यताओं का मनन करने के पश्चात् ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही ध्वनि के अस्तित्व को मान्यता प्रदान की है।[4]

तृतीये काव्ये रसचर्वणा तावन्नीतिर्भूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति। यदुक्तं त्वयैव 'काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्' इति। तद् यदलंकाररसध्वन्यभिप्रायेणागमकत्वम् इति। सिद्धसाधनम्। रसध्वन्यभिप्रायेण तु स्वाभ्युपगमप्रसिद्धिसंवेदनविरुद्धमिति।—

— ध्वन्यालोक लोचन, पृ0 40

1- शृंगार-प्रकाश, पृ0 150

2- वही, पृ0 150 से

3- ध्वन्यालोक, 1/13

4- तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरिव चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।— ध्वन्यालोक, 1/1 वृत्ति

(6) काव्यात्मरूप ध्वन्यर्थ का स्वरूप

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने 'ध्वन्यालोक' नामक अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में प्रारम्भ में ध्वन्यभाववादियों की मान्यताओं का संक्षिप्त निराकरण करने के पश्चात् ध्वन्यर्थ के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। उन्होंने ध्वन्यर्थ को प्रतीयमान अर्थ की संज्ञा से अभिहित करते हुए बताया है कि सहृदयों द्वारा प्रशंसनीय प्रतीयमान अर्थ को ही काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।[1] यह प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है जो महाकवियों की वाणी में अंगनाओं के नेत्र तथा मुख आदि समस्त शारीरिक अंगों से पृथक् प्रतीत होने वाले लावण्य की भाँति वाच्यार्थ से सर्वथा पृथक् प्रतीत होता है।[2] वस्तुतः यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य में आत्मस्थान का अधिकारी है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी तार्किक प्रज्ञा द्वारा इस तथ्य को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है।[3]

यह प्रतीयमान अर्थ वस्तु, अलंकार तथा रस रूप में ध्वनित होकर तीन प्रकार का हो जाता है, किन्तु इस स्थिति पर भी उसका स्वरूप वाच्यार्थ से सर्वथा पृथक् होता है। विधि, निषेध तथा उभयरूप के आधार पर यह प्रतीयमान अर्थ अनेकानेक भेदों में परिलक्षित होता है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इस तथ्य को ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में विस्तृत रूप में प्रतिपादित किया है।[4]

1- योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।
काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः ......। ध्वन्यालोक 1/2 तथा वृत्ति

2- प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥—ध्वन्यालोक, 1/4

3- वस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किंतु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः, स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च मुख्यतयात्मेति।
— ध्वन्यालोक लोचन, पृ0 50

4- स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्।— ध्वन्यालोक 1/4 वृत्ति

(7) ध्वनि के भेदोपभेद

सामान्यतया ध्वनि एक ही है, किन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यावहारिक दृष्टि को आधार मानकर उसे अनेक भेदोपभेदों में विभाजित कर दिया है। उन्होंने सर्वप्रथम ध्वनि को दो मुख्य भेदों में प्रतिष्ठापित किया है —

(1) लक्षणामूलाध्वनि।

(2) अभिधामूलाध्वनि।

(1) लक्षणामूलाध्वनि :—

मूल में लक्षणा होने के कारण इसे लक्षणामूला ध्वनि कहते हैं। जहाँ लक्ष्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ लक्षणामूला ध्वनि होती है। वाच्यार्थ की विवक्षा न होने के कारण इसे 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' भी कहा जा सकता है। ध्वनिवादी आचार्यों ने अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के रूप में इसके दो भेद किए हैं[1]—

(क) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि :—

अर्थान्तरसंक्रमित का अर्थ है — दूसरे अर्थ में संक्रमित (परिवर्तित) हो जाना। इस प्रकार जहाँ मुख्यार्थ के बाधित हो जाने के कारण वाच्यार्थ की विवक्षा (उपयोग) न होने पर वाच्य अपने दूसरे अर्थ में परिणत हो जाता है, वहाँ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि होती है।[2] यथा —

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥[3]

यहाँ 'वच्मि' तथा 'वच्मि' पद अपने वाच्यार्थ को छोड़कर 'उपदेश' तथा 'सुनिश्चित' रूप अन्य अर्थ में संक्रमित हो गये हैं।

1- अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्।— ध्वन्यालोक, 2/1
अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।— काव्यप्रकाश, 4/1

2- यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरूपेऽर्थान्तरे परिणमति तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमितत्वाद् अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम्।— साहित्यदर्पण 4/3 वृत्ति

3- काव्यप्रकाश, 4/1 वृत्ति भाग से अवतरित।

(ब) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि :—

वाच्यार्थ के अत्यन्त तिरस्कृत होने के कारण इसे 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' कहते हैं। इस प्रकार जहाँ शब्द अपने वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार करके अपने से भिन्न अर्थ में परिणत हो जाते हैं, वहाँ अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि होती है।[1] यथा —

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्।[2]

यहाँ लक्षणा द्वारा 'उपकृत' तथा 'सुखितमास्स्व' आदि शब्दों के अर्थ सर्वथा तिरस्कृत होकर 'अपकृत' तथा 'दुःखमास्स्व' आदि अर्थों में परिणत हो गये हैं।

(2) अभिधामूलध्वनि :—

मूल में अभिधा होने के कारण इसे अभिधामूलध्वनि कहते हैं। इस प्रकार जहाँ वाच्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ वाच्यार्थ अभिधामूलध्वनि होती है।[3] इसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि भी कहते हैं, क्योंकि इसमें वाच्यार्थ की अन्यपरक विवक्षा का समावेश होता है। अन्यपरक का तात्पर्य यह है कि वाच्यार्थ मुख्य रूप से व्यंग्यार्थ की अभिव्यंजना में ही समायुक्त रहता है। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की अभिव्यंजना का क्रम कहीं स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है और कहीं नहीं परिलक्षित होता है, अतः अभिधामूलध्वनि के दो भेद हो जाते हैं[4]—

(क) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि।

(ख) संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि।

(क) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि :—

जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में पूर्वापर का क्रम न लक्षित होता हो अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ के पूर्वापर का क्रम तो हो, किन्तु शीघ्रता के कारण वह प्रतीत

1- यत्र पुनः स्वार्थं सर्वथा परित्यजन्नर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्यात्यन्ततिरस्कृतत्वादत्यन्त-तिरस्कृतवाच्यम्। — साहित्यदर्पण, 4/3 वृत्ति।

2- काव्यप्रकाश, 4/1 वृत्ति भाग से अवतरित।

3- विवक्षितान्यपरवाच्यस्त्वभिधामूलः अतएवात्र वाच्यं विवक्षितम्। अन्यपरं व्यंग्यनिष्ठम्। अत्र हि वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यंग्यार्थस्य प्रकाशकः। — साहित्यदर्पण, 4/2 वृत्ति

4- विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः।
कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यंग्यो लक्ष्यव्यंग्यक्रमः परः। — काव्यप्रकाश, 4/2

(1) शब्दशक्त्युद्भवसंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि :—

जहाँ वाच्यार्थावबोध के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति जिस शब्द के द्वारा होती है, जो [illegible] निर्दिष्ट करने वाली शक्ति, उसके पर्यायवाची शब्द में न होकर केवल उसी शब्द में होती है, वहाँ शब्दशक्त्युद्भवसंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि होती है। इसे वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि रूप दो उपभेदों में विभाजित किया गया है —

(अ) वस्तुध्वनि :—

जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति में किसी अलंकार का अस्तित्व नहीं दिखायी पड़ता है, वहाँ वस्तुध्वनि होती है। यथा —

पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस॥[1]

यहाँ वाच्यार्थ रूप इस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है कि यह पथरीला गाँव है। यहाँ बिछावन नहीं मिलेगा। अतः यदि उठे हुए बादलों को देखकर पथिक रुकना चाहे तो यह रह जाय। वाच्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् 'स्रस्तर' एवं 'पयोधर' शब्दों के द्वारा इस व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है कि यहाँ परस्त्रीगमन सम्बन्धी शास्त्रों का कोई विचार नहीं किया जाता, और यदि पथिक ग्राम-स्त्री के उन्नत स्तनों को देखकर रुकना चाहे तो रुक सकता है। इस उदाहरण में प्रयुक्त स्रस्तर तथा पयोधर शब्दों के पर्यायवाचीशब्द व्यंग्यार्थ की प्रतीति में सर्वथा अयोग्य सिद्ध होंगे।

(ब) अलंकार ध्वनि :—

जहाँ व्यंग्यार्थ में कोई अलंकार ध्वनित होता है, वहाँ अलंकार ध्वनि होती है। यथा — 'निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।[2]

यहाँ सामान्य चित्रकारों से भगवान् शंकर में वैशिष्ट्य प्रतीत करने के कारण व्यतिरेक अलंकार ध्वनित हो रहा है। यहाँ व्यतिरेक अलंकार को ध्वनित करने वाले 'चित्र' तथा 'कला' शब्दों के पर्यायवाचीशब्द इस कार्य में असमर्थ सिद्ध होंगे।

---

4. क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः॥— ध्वन्यालोक, 2/20

1- काव्यप्रकाश बालबोधिनी, पृ0 133 से उद्धृत।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में ध्वनि के शुद्ध 51 भेदों का परिगणन किया है और उन्हें मुख्य रूप से दो आधारों पर प्रतिष्ठापित किया है —(1)वाच्यता-खण्ड (2) वाच्यता-खण्ड। इनमें से वाच्यता खण्ड को अविवक्षित तथा विवक्षित नामक दो प्रकार की संज्ञाओं से विभूषित किया गया है। यहाँ अविवक्षित तथा विवक्षित संज्ञाएँ क्रमशः वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि की अवबोधिका सिद्ध हुई हैं। वाच्यता - खण्ड को रसध्वनि की संज्ञा से अभिहित किया गया है क्योंकि वह वाच्यार्थ को वहन करने में सर्वथा असमर्थ होती है। इस प्रकार वस्तुध्वनि , अलंकारध्वनि तथा रस ध्वनि के रूप में ध्वनि के मुख्य तीन भेद हैं। वैसे काव्य प्रकाशकार द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के शुद्ध 51 भेदों के साथ वर्ण, पद, वाक्य तथा प्रबन्ध आदि के भेदोपभेदों एवं संकर तथा संसृष्टि के सम्मिश्रण से ध्वनि-भेद आधिक्य की चरम सीमा पर अधिष्ठित हो जाता है।

(8) ध्वनि तथा अन्य काव्यात्म तत्व

ध्वनि सिद्धान्त के पूर्व कालीन आचार्यों ने रस, अलंकार तथा रीति नामक तत्वों को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का अथक प्रयास किया था। इनमें से रस-तत्व पर्याप्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक को भी उसका महत्व मुक्तकण्ठ से स्वीकार करना पड़ा है। ध्वनि सिद्धान्त के पश्चात् कुछ आचार्यों ने वक्रोक्ति तथा औचित्य नामक तत्वों को काव्य की आत्मा सिद्ध करना चाहा है। इस प्रकार रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य काव्यात्म तत्व सिद्ध होते हैं। इनसे साथ ध्वनि का सम्बन्ध इस रूप में निरूपित किया जा सकता है —

(1) ध्वनि तथा रस

ध्वनि के भेदोपभेदों का निरूपण करते समय आनन्दवर्धनाचार्य ने विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि नामक भेद में रसादि के स्वरूप का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने रस को काव्य की आत्मा न कहकर ध्वनि को ही इस महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी सिद्ध किया है। रस विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के माध्यम से काव्य में ध्वनित होता है। इस प्रकार रस की अवस्थिति ध्वनि पर ही आधारित सिद्ध होती है। ध्वनि का क्षेत्र रस की अपेक्षा व्यापक सिद्ध होता है। रस-रहित वस्तु तथा अलंकार रूप परिवेश ध्वनि की परिधि में समाहित होता है। किन्तु ध्वनि के अभाव में रस की कल्पना निराधार कही जायेगी। ऐसी स्थिति में रस की अपेक्षा ध्वनि का महत्व अत्यन्त सरलतापूर्वक

रसादिध्वनि रूप काव्यात्मा के ही उत्कर्ष होते हैं। आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने इसी आधार पर ध्वनि के आत्मरूप शृंगार आदि रसों में यमक आदि अलंकारों के समावेश को सर्वथा अनुचित बताया है।[1] उनकी मान्यता के अनुसार काव्य में अलंकारों का समायोजन रस को प्रधान मानकर करना चाहिए, अलंकारों को प्रधान मानकर नहीं।[2] इस प्रकार ध्वनि की अपेक्षा अलंकार की स्थिति कुछ भिन्न प्रतीत होती है।—

(3) ध्वनि तथा रीति

रीति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वामन ने जिस गुणविशिष्ट पद रचनारूप रीति को काव्य की आत्मा के रूप में मान्यता प्रदान की है, उसे ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने संघटना की संज्ञा से अभिहित किया है। उन्होंने इस पद संघटना को असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा के रूपमें तीन प्रकार की बताया है।[3] इसके वैशिष्ट्य का निरूपण करते हुए उन्होंने आगे लिखा है कि माधुर्य आदि गुणों के आश्रय से अवस्थित रहने वाली यह पद संघटना रसों को अभिव्यक्त करती है।[4] इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्यों ने जिस प्रकार अलंकारों को रसादि ध्वनि का उपकारक सिद्ध किया है। उसी प्रकार पदसंघटना रूप इस रीति को भी रसादि का उपकार करने वाली निश्चित कर दिया है। ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यता के अनुसार जिस प्रकार सुन्दर शारीरिक संगठन से शरीर का उत्कर्ष न होकर आत्मा का ही उत्कर्ष होता है, उसी प्रकार संघटना रूप रीति द्वारा रसादि ध्वनि का ही उत्कर्ष होता है। इस प्रकार वर्णों की सुन्दर संघटना रूप रीति रसादि ध्वनि की उपकारिणी सिद्ध होती है। काव्य में रसादिध्वनि के साथ गुणों का सम्बन्ध नित्य होता है अतः गुणों के आश्रय से अवस्थित रहने वाली रीति का सम्बन्ध भी रस के साथ स्थायी सिद्ध होता है।

---

1. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
   शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः। — ध्वन्यालोक, 2/15
2. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
   काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता। वही, 2/18
3. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
   तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता। — वही, 3/5
4. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
   रसान् ------। वही, 3/6

आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित करने वाले आचार्य ध्वनि तत्व से पूर्णतया परिचित थे, किन्तु उचित आधार के अभाव में उसकी व्याख्या करने में असमर्थ हो गये। अतः उन्होंने उसे रीति के रूप में ही लिपिबद्ध कर दिया था।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इस तथ्य की प्राप्ति होती है कि ध्वनि तथा रीति के स्वरूप में पर्याप्त पार्थक्य विद्यमान है। ध्वनि का कार्य क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत तथा रीति का अत्यन्त सीमित। इसके अतिरिक्त रीति का महत्व ध्वनि के अंगभूत रसादि का उपकार करने में होता है अतः यह ध्वनि का अंग हो जाती है। इस प्रकार रीति का अस्तित्व ध्वनि की परिधि में समाविष्ट हो सकता है।

(4) ध्वनि तथा वक्रोक्ति

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक का परिगणन ध्वनि-विरोधी आचार्यों में किया गया है। वह मुख्य रूप से अभिधावादी आचार्य हैं। उन्होंने अपनी इस अभिधावृत्ति को इतना व्यापक सिद्ध किया है कि लक्षणा व्यञ्जना आदि अन्य वृत्तियाँ इसकी परिधि में अनायास समाविष्ट हो जाती हैं। आचार्य कुन्तक ने व्यञ्जनावृत्ति द्वारा अभिव्यक्त होने वाली रसादिध्वनि सम्बन्धी ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यता को अमान्य सिद्ध करने के पश्चात् उसे अपनी विचित्र अभिधावृत्ति का विषय बनाया है। इस सम्बन्ध में डा० राममूर्ति त्रिपाठी का यह कथन सर्वथा युक्ति-युक्त सिद्ध होगा कि आचार्य कुन्तक ने ध्वनिवादियों का विरोध करते हुए बताया है कि कवि के अभिप्रेत अर्थ को प्रस्तुत करने वाला शब्द ही काव्योचित शब्द है। व्यावहारिक शब्द यथाकथंचित् व्यवहारोपयोगी अर्थ तक ही सीमित रहते हैं, उनमें सौन्दर्य का ध्यान नहीं रहता। कवि और व्यवहारी दोनों ही अपने-अपने अभिप्रेत अर्थ के बोधक शब्द का प्रयोग करते हैं। इस दृष्टि से दोनों ही शब्दों को कुन्तक अभिधायक ही कहना चाहते हैं। परन्तु अन्तर इतना अवश्य मानना चाहते हैं कि व्यावहारिक शब्द में अभीप्सित अर्थ प्रदान करने की क्षमता होती है — वह विशिष्ट अभिधा कही जानी चाहिए। ध्वनिवादियों की बात महत्व ये भी अतिरिक्त अर्थ को देना चाहते हैं — अन्तर इतना ही है जिसको इस अभिप्रेत अतिरिक्त अर्थ की बोधकता को ध्वनिवादी व्यंजना कहना चाहेंगे वहाँ

---

1. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।— ध्वन्यालोक, 3/46

वे विचित्र अभिधा का प्रयोग करेंगे।[1] इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त में भी ध्वनि की स्थिति को स्वीकार किया गया है, किन्तु वहाँ उसकी स्वीकारोक्ति आविष्कृत न होकर अभिधेय है। अतः ध्वनि तथा वक्रोक्ति के स्वरूप का मुख्य पार्थक्य यही सिद्ध होता है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर इस तथ्य की प्राप्ति होती है कि आचार्य कुन्तक ने ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी उसे वक्रोक्ति की परिधि में समाविष्ट करना चाहते थे। उनकी वक्रोक्ति विवेचना में अनेकानेक स्थानों पर ध्वनि का स्वरूप प्राप्त होता है। विचित्र नामक मार्ग के स्वरूप का विवेचन करते समय प्रतीयमान शब्द को प्रयुक्त करते हुए उन्होंने लिखा है कि जहाँ वाच्य-वाचक वृत्ति से पृथक् किसी वाक्यार्थ की प्रतीयमानता प्रतिपादित की जाती है, वहाँ विचित्र मार्ग होता है।[2] इसी प्रकार उन्होंने रूपक, व्यतिरेक, निदर्शना, दीपक तथा उपमा आदि अलंकारों के वाच्यत्व को व्यंग्यत्व की भी स्वीकृति प्रदान की है।[3] इस परिप्रेक्ष्य में डा० राममूर्ति त्रिपाठी का यह कथन अतीव उपयुक्त प्रतीत होता है कि ध्वनि सम्प्रदाय का उद्भव कुन्तक से पूर्व हो चुका था और यह इतना प्रबल तथा समादरणीय पक्ष है कि कुन्तक उसके विरोध में वक्रोक्ति को काव्य जीवित कह कर भी ध्वनि या व्यंजकता का खण्डन नहीं कर सके। एक नहीं अनेक स्थलों पर उन्होंने 'ध्वनि', 'प्रतीयमान', तथा 'व्यंजना' की चर्चा की है। अतः वक्रता की परिधि में इन्होंने ध्वनि के महत्व को स्पष्टतः स्वीकृत किया है। इतना अन्तर अवश्य माना है कि जहाँ ध्वनिवादी सौन्दर्य एवं व्यंजकता में अविच्छेद्य और अनिवार्य सम्बन्ध मानते हैं वहाँ कुन्तक सौन्दर्य और वक्रता में।[4]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य कुन्तक ने अभिधा द्वारा वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने पर भी विविध वक्रताओं की प्रतीति के लिए जिस विचित्र अभिधा को स्वीकार किया है वह प्रकारान्तर से व्यंजना की स्वीकारोक्ति ही कही जायेगी। इसी प्रकार उन्होंने वक्रोक्ति के विविध भेदों में ध्वनि के यत्किंचित् स्वरूप को समाविष्ट करने में जो सफलता प्राप्त की है उससे ध्वनि के महत्व पर कोई प्रभाव नहीं सिद्ध हो सकेगा। ऐसी स्थिति में आचार्य कुन्तक का ध्वनि-विरोध सर्वमान्य नहीं हो सका। ध्वनिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति के महत्व को स्वीकार करते हुए भी उसे एक विशिष्ट अलंकार की ही मान्यता प्रदान की है।

1- भारतीय काव्यशास्त्र, पृ0 116 सम्पादक डा0 उदयभानु सिंह।

2- प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते। वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्॥ वक्रोक्तिजीवित, 1/40

3- वाच्यत्वेनेति नोक्तं व्यंग्यत्वेनापि प्रतिपादनसम्भवात्॥— वही, 3/ वृत्ति

4- भारतीय काव्यशास्त्र, 127

(5) ध्वनि तथा औचित्य

औचित्य सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य क्षेमेन्द्र ने ध्वन्यालोक की आधार भूमि पर अवस्थित होकर औचित्य को काव्य की आत्मा रूप महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया था। ध्वन्यालोक रूप आधार-भूमि के अभाव में वे सम्भवतः काव्यशास्त्रीय इतिहास में प्रायः अपने महत्व को सीमित स्वरूप प्रदान करने के लिए सर्वथा विवश होजाते। ध्वन्यालोक के रचयिता आचार्य आनन्दवर्धन ने मुक्तकण्ठ से औचित्य के महत्व को स्वीकार किया है। रसादि के वैशिष्ट्य का विवेचन करते समय उन्होंनेउनके साथ औचित्य की संयोजना को सर्वथा आवश्यक बताया है। उनका कथन है कि महाकवियों को रसादि के अनुकूल गुण तथा अलंकार आदि वाच्य वाचकों का औचित्यपूर्ण समायोजन करना चाहिए।[1] क्योंकि अनौचित्य ही रसभंग का एक मात्र कारण होता है।[2] काव्य में अंगी रूप ध्वनि की स्थापना करने के पश्चात् उन्होंने अंग रूप गुण, संघटना तथा वृत्ति अलंकार आदि के साथ औचित्य के सामंजस्य को आवश्यक बतायाहै।

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य के औचित्य के महत्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है, किन्तु उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित करना उचित नहीं समझा है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धनाचार्य ने रसध्वनि की दृष्टि से औचित्य के महत्व को स्वीकार किया था। नीरस काव्यों में औचित्य का महत्व समाप्त प्राय हो जाता है। लोचनकार के अनुसार उचित शब्द से रस-विषयक औचित्य का ही ग्रहण कियाजाता है, अतः औचित्य रसध्वनि का जीवित सूचित होता है। रसध्वनि के अभाव में यह औचित्य किसकेप्रति होगा?[3] ऐसी स्थिति में औचित्य की अवस्थिति ध्वनि के अंग रूप में निश्चित हो जाती है।यही कारण है कि आनन्दवर्धनाचार्य ने अंग रूपऔचित्य को काव्य कीआत्मा न कहकर अंगी रूप ध्वनि को उक्त महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठितकिया है।

1- वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः।— ध्वन्यालोक, 3/32

2- अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।— वही, 3/14 वृत्ति।

3- उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षया इदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यते इति भावः।— ध्वन्यालोक, 1/1 पर लोचन टीका

समालोचना :—

'ध्वनि' शब्द का अर्थ, ध्वनि का प्रेरणास्रोत, ध्वनि का ऐतिहासिक विकास क्रम ध्वनि की परिभाषा ध्वनि का विरोध तथा उसका परिहार्य फलस्वरूप ध्वन्यर्थ का स्वरूप, ध्वनि के भेदोपभेद एवं ध्वनि तथा अन्य काव्यतत्व आदि विविध शीर्षकों पर ध्वनि सम्प्रदाय एवं ध्वनि तथा अन्य काव्यतत्व का विस्तृतविवेचन करने के उपरान्त निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि वैयाकरण आचार्यों द्वारा प्रतिपादित स्फोटवाद नामक सिद्धान्त से प्रेरणा लेकर ध्वनि सिद्धान्त अपनीविकसित अवस्था को प्राप्त करने में समर्थ सिद्ध हुआ है। ध्वनि सिद्धान्त की अतिप्राचीनता को उसके सैद्धान्तिक प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धनाचार्य ने स्वयं स्वीकार किया है। ध्वनि सिद्धान्त को सैद्धान्तिक स्वरूप प्रदान करने में उसके प्रवर्तक को विरोधियों की अनेकानेक तार्किक मान्यताओं का सामना करना पड़ा है। आनन्दवर्धनाचार्य ने विरोधियों की उन मान्यताओं को अपनी कुशाग्र बुद्धि द्वारा निरस्त कर देने के पश्चात् निर्विरोध रूप से ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की। उनके पश्चात् मुकुलभट्ट, प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट तथा धनंजय-धनिक आदि कुछ आचार्यों ने पुनः ध्वनिसिद्धान्त की सैद्धान्तिक मान्यताओं को अमान्य सिद्ध करने का प्रयास किया, अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने तार्किक प्रत्युत्तर से उनके इस प्रयास को भी व्यर्थ सिद्ध कर दिया। इसके पश्चात् ध्वनि सिद्धान्त का स्वरूप स्थायित्व प्राप्त करने में सर्वथा समर्थ सिद्ध हो गया।

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि के स्वरूप को इतने सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादित किया है कि सामान्य सहृदय भी उसे देखकर आकृष्ट हो जाता है। यही कारण है कि आगे चलकर रस अलंकार रीति वक्रोक्तितथा औचित्य आदि काव्यात्मरूप महत्वपूर्ण तत्व उसके अंग सिद्ध हो गये हैं। ध्वनि का कार्य-क्षेत्र इतने विस्तृत रूप में विद्यमान हो गया कि उपसर्ग, निपात, प्रकृति, प्रत्यय, समास, पद, वाक्य, तथा प्रबन्ध आदि काव्यके लघु से लेकर विस्तृत स्तरों को उसकी परिधि में समाविष्ट होना पड़ा। वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक विशिष्ट ध्वनि दृष्टिगोचर होने लगी।

ध्वनि का स्वरूप मुख्य रूपसे वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि के रूप में प्राप्त होता है। रसवादी आचार्यों ने इनमें से वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि के आधार पर काव्यत्व के स्वरूप को अमान्य घोषित किया है। उनका कथन है कि रस केअभाव में ऐसे काव्य उक्ति मात्र सिद्ध होंगे। इसके विपरीत ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को मुख्य रूप से

विवक्षा न होने पर भी उक्त सौन्दर्य के आधार पर वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों में काव्यत्व को स्वीकार किया है। इस प्रकार ध्वनि को काव्य की आत्मा मान लेने पर वस्तु तथा अलंकार के सौन्दर्य को भी काव्यत्व प्राप्त हो जाता है। केवल रस को काव्य की आत्मा मान लेने पर काव्य का पर्याप्त अंश काव्यत्व की सीमा से वंचित रह जाता है। अतः वस्तु एवं अलंकार के सौन्दर्य को भी काव्यत्व की सीमा में समाविष्ट करके आनन्दवर्धनाचार्य ने अपनी अपूर्व उदारता का परिचय दिया है। यद्यपि काव्य में सौन्दर्याधिक्य की प्राप्ति रसध्वनि के आधार पर ही होती है और आनन्दवर्धनाचार्य ने 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः'[1] के रूप में इस तथ्य को स्वीकार किया है, किन्तु केवल रसध्वनि को काव्य की आत्मा न कहकर उन्होंने वस्तु, अलंकार तथा रस रूप ध्वनित्रय के सम्मिलित स्वरूप को काव्य की आत्मा कहा है। यदि वह ऐसा न करते तो रस-रहित काव्यों में अकाव्यत्व की प्रतीति होने लगती। वाच्य अर्थ की अपेक्षा वस्तु-ध्वनि तथा अलंकारध्वनि के उत्कृष्ट रूप में विद्यमान होने के कारण उनमें काव्यत्व के औचित्य की परिपुष्टि होती है। इस प्रकार वस्तु, अलंकार तथा रस के समन्वित रूप की अभिव्यक्ति करने वाली ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

---

1. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥— ध्वन्यालोक, 1/5

सप्तम अध्याय

वक्रोक्ति - सम्प्रदाय

'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' — कुन्तक

सप्तम अध्याय

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

"प्रत्येक सम्प्रदाय काव्य की आत्मा का निर्धारण अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार करता है, किन्तु साहित्यशास्त्र का निष्पक्ष दृष्टि से मन्थन करने वाले विभिन्न आचार्यों की अब तक की उपलब्धियों से यह स्पष्ट है कि इन सबमें वक्रोक्तिसिद्धान्त ही सर्वाधिक व्यापक तथा सामंजस्यपूर्ण काव्य-सिद्धान्त है।"[1]

—— डा० रामगोपाल शर्मा

रस, अलंकार, रीति एवं ध्वनि नामक तत्वों से काव्य की आत्मा का निदर्शन न होते देख आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' नामक नवीन तत्व की उद्भावना की। आचार्य कुन्तक के अनुसार साहित्यिक रचना दो रूपों में सम्पन्न होती है। प्रथम रूप शास्त्रीय रचना से सम्बन्धित होता है, इसमें लेखक प्रसिद्ध व्यावहारिक शब्दों की संयोजना करता है। द्वितीय रूप काव्य रचना से सम्बन्धित होता है, इसमें कवि अव्यावहारिक शब्दार्थ का संयोजन करके एक नवीनता को प्रकाशित करता है। इस प्रकार अशास्त्रीय एवं अव्यावहारिक शब्दार्थ से युक्त काव्य का अध्ययन करने से सहृदय को एक वैचित्र्यपूर्ण सौन्दर्य की अनुभूति होती है। काव्य के वैचित्र्यपूर्ण सौन्दर्य की अनुभूति का कारण 'वक्रोक्ति' है।[2] यह वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा सिद्ध होती है, क्योंकि इसके अभाव में काव्य निर्जीव प्रतीत होता है।

वक्रोक्ति शब्द दो शब्दों के योग से निर्मित हुआ है —— वक्र + उक्ति = वक्रोक्ति। इस प्रकार इसका शाब्दिक अर्थ हुआ —— टेढ़ी उक्ति। आचार्य कुन्तक के अनुसार वैदग्ध्य भंगीभणिति 'वक्रोक्ति' कहलाती है।[3] इसके स्पष्टीकरण में उनका कथन है कि प्रसिद्ध कथन से परिमुक्त एवं अलौकिक प्रतिपादन-प्रणाली वक्रोक्ति कहलाती है।[4] वक्रोक्ति के उक्त लक्षण में आगत 'वैदग्ध्य' शब्द का अर्थ है —— चतुर कवि की काव्य-निर्माण शक्ति की कुशलता, भंगी शब्द का अर्थ है — विच्छित्ति अथवा चारुत्व एवं 'भणिति' शब्द का

1- काव्यशास्त्र, पृ० 130 सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

2- विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। — वक्रोक्तिजीवित 1/10 की वृत्ति

3- वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते। — वही, 1/10

4- वक्रोक्तिः, प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। — वही, 1/10 की वृत्ति

अर्थ है — प्रतिपादित करना। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि काव्य-निर्मायिका शक्ति की कुशलता के अलौकिक चामत्कारिक कथन-प्रणाली 'वक्रोक्ति' कही जायेगी।[1]

लौकिक व्यवहार में अर्थ-ज्ञान के लिए शब्द-प्रयोग सामान्य अर्थ में किया जाता है। किन्तु काव्य में कवि का लक्ष्य सहृदय-हृदय को चामत्कारिक अनुभूति कराना होता है। अतः कवि काव्य में ऐसे चामत्कारिक शब्दार्थ का प्रयोग करता है, जिनके अवबोध से सहृदय-हृदय अलौकिक आनन्दानुभूति से प्रफुल्लित हो जाता है। इस प्रकार कवि के चामत्कारिक शब्दार्थ-प्रयोग से ही 'वक्रोक्ति' का कृतकार्यत्व नहीं सिद्ध हो जाता है, क्योंकि शब्दार्थ-प्रयोग की चामत्कारिक प्रणाली तब तक उपयोगी न हो सिद्ध हो सकेगी जब तक कि सहृदय-हृदय आनन्दानुभूति से सर्वथा संतृप्त न हो जाय। इस तथ्य की परिपुष्टि करते हुए आचार्य कुन्तक ने लिखा है कि काव्य-विशेषज्ञ सहृदयों के आह्लादकारक सुन्दर वक्र कवि-व्यापार से युक्त रचना में सुव्यवस्थित शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप काव्य कहलाता है।[2]

(1) वक्रोक्ति का ऐतिहासिक विकास-क्रम

आचार्य कुन्तक द्वारा काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषित 'वक्रोक्ति' सिद्धान्त के विकास की एक निश्चित परम्परा है, जिसके द्वारा क्रमशः विकसित होकर वह काव्य की आत्मा रूप महत्वपूर्ण स्थान को प्राप्त करने में समर्थ सिद्ध हुआ है। सामान्यरूप में वक्रोक्ति से सम्बन्धित पदों की प्राप्ति अथर्ववेद, मेघदूत, कादम्बरी एवं अमरूकशतक नामक सामान्य ग्रन्थों में होती है, किन्तु इसके काव्यशास्त्रीय स्वरूप की प्राप्ति का श्रीगणेश आचार्य भामह के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यालंकार' से होता है।

1- वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्म कौशलम् तस्य भंगी विच्छित्तिः तया भणितिः।
— वक्रोक्तिजीवित, 1/10 की वृत्ति

2- शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ — वक्रोक्तिजीवित, 1/7

3-(क) अयंयोवक्रोविपरूर्व्यङ्गो मुखानिवक्रा वृजिना कृणोषि।— अथर्ववेद, 7/54/4

(ख) वक्रःपन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशाम्।— मेघदूत (पूर्व) 29

(ग) वक्रोक्ति निपुणेन विलासिजनेन।एवापि बुध्यते एव एतावतीवक्रोक्तिः॥—कादम्बरी, (पूर्वभाग) पृ0 296

वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यान परिचय चतुरेण।— वही, पृ0 87

(घ) सापत्युः प्रथमपराधसमये सख्योपदेशं विना। नो जानाति सविभ्रमांगवलना वक्रोक्तिसंसूचनम्।
— अमरूशतक, 23

भामह :—

वक्रोक्ति के काव्यशास्त्रीय विकास की प्रारम्भिक स्थिति आचार्य भामह के 'काव्यालंकार' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में दृष्टिगोचर होती है। उसके रचयिता ने वक्रोक्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि काव्य में सौन्दर्य ~~की~~ का प्रतिपादक तत्व अलंकार है एवं अलंकार के अस्तित्व की सम्भावना वक्रोक्ति पर ही आधारित है।[1] वक्रोक्ति के अभाव में कोई भी वाक्य वक्ता की वाणी का निस्सरित रूप ही कहा जायेगा।[2] हेतु, सूक्ष्म एवं लेश नामक अलंकार वक्रोक्ति के अभाव में अलंकारत्व की श्रेणी से पृथक् प्रतीत होते हैं।[3] आचार्य भामह ने वक्रोक्ति के लक्षण का स्पष्टीकरण नहीं प्रस्तुत किया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी मान्यता में वक्रोक्ति औरअतिशयोक्ति की समानता थी। अतिशयोक्ति का लक्षण प्रतिपादित करते हुए उन्होंने लिखा है कि जब कवि की उक्ति लोकातिक्रान्त होकर अतिरमणीय हो जाती है तब वह अतिशयोक्ति के रूप में परिणत हो जाती है।[4] ध्वन्यालोक-लोचन के रचयिता आचार्य अभिनवगुप्त ने इस वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति को काव्यजीवित के रूप में स्वीकार किया है।[5] आचार्य भामह की वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति की महत्ता का समर्थन ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा भी किया गया है।[6] इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि यद्यपि आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को स्पष्ट शब्दों में काव्यात्मा या काव्यजीवित के रूप में उद्घोषित नहीं किया है, किन्तु काव्य में उसकी अनिवार्यता को सर्वथा स्वीकार किया है।

1- सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।— काव्यालंकार, 2/85 भामह

2- गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तमिनां प्रचक्षते।— काव्यालंकार, 2/87 भामह

3- हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्य नाभिधानतः। — वही, 2/86 भामह

4- निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा॥— वही, 2/81 भामह

5- तेनातिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम्।
तथा ह्यनयातिशयोक्त्यार्थः। सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते तथा प्रमदोद्यानादिर्विभावतां नीयते विशेषेण च भाव्यते रसमयीक्रियते। अथ सा काव्य-

दण्डी :——

आचार्य दण्डी ने भामह के समान वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का आधार स्वीकार किया है, किन्तु इस स्वीकारोक्ति में कुछ पार्थक्य की प्राप्ति होती है। उन्होंने सम्पूर्ण वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति रूप दो भागों में विभाजित करने के पश्चात् जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य रूप पदार्थों के विविध प्रकार के स्वाभाविक कथनों में स्वभावोक्ति या जाति नामक अलंकार को आदि अलंकार की संज्ञा प्रदान कर उसके अतिरिक्त अवशिष्ट उपमा आदि समस्त अलंकारों को वक्रोक्ति के रूप में अन्तर्निहित कर दिया है।[1] इस वक्रोक्ति के सौन्दर्य की अभिवृद्धि का कारण श्लेष को बताया गया है।[2]

आचार्य दण्डी ने भामह के समान वक्रोक्ति एवं अतिशयोक्ति के एकत्व को मान्यता प्रदान की है। अतिशयोक्ति के लक्षण का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है कि लोकातीत अर्थाभिधायिका उक्ति अतिशयोक्ति कहलाती है, यह सभी आलंकारिक उक्तियों में श्रेष्ठ सिद्ध होती है।[3] बृहस्पति आदि देवताओं द्वारा प्रशंसित इस अतिशयोक्ति को आचार्यों ने सभी अलंकारों का आधार स्वीकार किया है।[4]

जीवितत्वेन तु विवक्षिता — लोचन, पृ0 269 अभिनवगुप्त

6- यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यतीति कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्येनोत्कर्षमावहेत्।
— काव्यालंकार, 7/39 की वृत्ति रू0

1- (क) श्लेषः द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। – काव्यादर्श, 2/362

(ख) नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥– वही, 2/7

(ग) वक्रोक्तिशब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलंकारा उच्यन्ते। वही, 2/8 पर हृ0टी0

2- श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।– वही, 2/362

3- विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनि
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा॥– वही, 2/214

4- अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥– वही, 2/220

इस प्रकार आचार्य दण्डी की उपर्युक्त वक्रोक्ति सम्बन्धी मान्यता से यह निश्चित हो जाता है कि उन्होंने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों की आधारभूमि बनाकर विस्तृत परिक्षेत्र का स्वामी सिद्ध कर दिया है। इसके अतिरिक्त अतिशयोक्ति से सर्वथा उसका साम्य प्रदर्शित करते हुए स्वभावोक्ति से पार्थक्य सिद्ध कर दिया है। इस पार्थक्य सम्बन्धी विवेचन में उन्होंने बताया है कि वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति के कार्यक्षेत्र में पर्याप्त पार्थक्य प्राप्त होता है। वक्रोक्ति का कार्य-क्षेत्र मात्र काव्य-क्षेत्र ही नियत है किन्तु स्वभावोक्ति की प्राप्ति काव्य के अतिरिक्त शास्त्रीय परिक्षेत्र में भी होती है।[1]

वामन :—

आचार्य वामन के अनुसार सादृश्य के आधार पर प्रस्फुटित होने वाली लक्षणा 'वक्रोक्ति' कहलाती है।[2] लक्षणा के प्रस्फुटित होने के कई कारण हो सकते हैं, किन्तु वक्रोक्ति का आविर्भाव सादृश्य पर आधारित लक्षणा से ही होता है, सामीप्यादि अन्य आधारों से नहीं।[3] जैसे भगवान् भास्कर का प्रकाशित रूप आधार प्राप्त कर कमल प्रफुल्लित हो उठे, किन्तु कुमुदिनी मुकुलित हो गयी।[4] यहाँ उन्मीलन और निमीलन, जो नेत्र के धर्म हैं, क्रमशः कमल के प्रफुल्लित एवं कुमुद के मुकुलित होने का संकेत करते हैं। इस प्रकार यहाँ कमल एवं कुमुद के क्रमशः प्रफुल्लित एवं मुकुलित रूप सादृश्यमूलक लक्षणा द्वारा वक्रोक्ति की परिपुष्टि हो जाती है। आचार्य वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार के रूप में स्वीकार किया है, जबकि अन्य उत्तरवर्ती आचार्यों ने उसे शब्दालंकारों में परिगणित किया है। आचार्य रूद्रट ने उसे प्राकृत पर आश्रित शब्दालंकार की मान्यता प्रदान करते हुए काकुवक्रोक्ति एवं श्लेषवक्रोक्ति के रूप में दो प्रकार का सिद्ध किया है।[5] इसी प्रकार अग्निपुराणकार ने काकु और वक्रोक्ति

1- शास्त्रेष्वस्यैवसाम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्। काव्यादर्श, 2/13

2- सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति। 4/3/8

3- बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्। तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति। असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः। — काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 4/3/8 की वृत्ति

4- उन्मीलकमलं सरसीनां, कैरवंचनिमिमीपुरस्तात्।— काव्यालंकार सूत्रवृत्ति

5- वक्ता तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।

वचनं यत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः।
विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति।

अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः॥— काव्यालंकार, 2/14, 16 रूद्रट

के रूप में वाकोवाक्य नामक शब्दालंकार में काकु तथा श्लेष की संज्ञा प्रदान करते हुए वक्रोक्ति को दो भेदों में विभाजित किया है।[1]

आनन्दवर्धन :—

आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा विरचित 'ध्वन्यालोक' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में वक्रोक्ति के स्पष्ट स्वरूप की उद्घोषणा न प्राप्त होते हुए भी उसके विविध स्वरूप की सांकेतिक स्थिति प्राप्त होती है। उन्होंने आचार्य भामह द्वारा स्वीकृत वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति को अपने विवेचन का आधार बनाया है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है क सभी अलंकार अतिशयोक्ति के आधार पर पल्लवित एवं पुष्पित होते हैं। महाकवियों द्वारा प्रतिपादित इस अतिशयोक्ति के संपर्क से काव्य अलौकिक सौन्दर्य का आधायक सिद्ध हो जाता है। प्रस्तुत विषय के औचित्य से समाविष्ट अतिशयोक्ति का सम्बन्ध काव्य के उत्कर्ष के अभिवर्द्धक सिद्ध होता है। इसी सन्दर्भ में आचार्य भामह के 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' रूप इस कथन की अवतारणा करते हुए उन्होंने बतलाया है कि कवि की अलौकिक प्रतिभा से आविर्भूत अतिशयोक्ति का संसर्ग जिस अलंकार को प्राप्त होता है, वही सौन्दर्यातिशय का अधिकारी सिद्ध होता है। उसके संसर्ग के अभाव में अलंकार अलंकार की संज्ञा मात्र की उद्भावना का कारण रह जाता है। इस प्रकार अतिशयोक्ति सभी अलंकारों का प्रतिनिधि सिद्ध हो जाता है।[2]

अभिनवगुप्त :—

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने लोचन टीका में वक्रोक्ति के स्वरूप को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है कि भामह ने जिस अतिशयोक्ति के स्वरूप को प्रदर्शित किया है, वह वक्रोक्ति का ही स्वरूप या लक्षण समझना चाहिए। यह वक्रोक्ति सभी अलंकारों का प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि वक्र अर्थ के अभिव्यंजक शब्दों का कथन ही अलंकाराभिधान की अवतारणा

---

1. उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं वाकोवाक्यं द्विधैव तत्।
   ऋजु वक्रोक्तिभेदेन तत्राद्यं सहजं वचः॥
   वक्रोक्तिस्तु भवेद् भङ्ग्या काकुतेन कृता द्विधा।— अग्निपुराण, 343/32, 33

2. तत्र प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यछविं पुष्यतीति कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्। तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात् तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलंकारमात्रतैवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालंकाररूपा इत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः। — ध्वन्यालोक 3/36 की वृत्ति

करता है। वक्रता का अभिप्राय अलौकिक अवस्थिति प्रतीत होता है। इस प्रकार शब्द तथा अर्थ की वक्रता रूप अलौकिक आधिक्य से समायुक्त कथन ही अतिशयोक्ति के स्वरूप का प्रकाशक सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त विवेचन से यह सर्वथा निश्चित हो जाता है कि काव्यमें सौन्दर्य के आधान का आधार अतिशयोक्ति है, जिसका संस्पर्श प्राप्तकर काव्य अलौकिक शोभा की अवधारणा से सहृदयों को अपनी चामत्कारिक अनुभूति कराता हुआ कृतकृत्य हो जाता है।[1]

भोजराज :—

वक्रोक्ति के विकास की पूर्ण रूपरेखा का प्रतिपादन करने वाले आचार्यों में भोजराज का महत्वसर्वोपरि सिद्ध होता है। उन्होंने शृंगारप्रकाश' एवं 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में वक्रोक्ति के विकास की परम्परा का प्रतिपादन किया है। उन्होंने समग्र साहित्य को वचन एवं काव्य रूप दो रूपों में विभाजित करते हुए बताया है कि शास्त्र तथा लौकिक परिवेश में जो अवक्र वचन विद्यमान है, उन्हें वचन कहा जायेगा एवं अर्थवाद आदि में समुपस्थित वक्रता 'काव्य' की संज्ञा से अभिहित की जायेगी।[2] वक्रता के आधिक्य से संयुक्त काव्य एवं वचन में जो तात्पर्य होता है, वह ध्वनि का प्रतिपादक सिद्ध होता है।[3] अलंकारों में इस वक्रोक्तिमूलक सामान्य लक्षण का प्रयोग सर्वथा आवश्यक है, क्योंकि उसके अभाव में अलंकार समूह वक्रोक्ति रूप अभिधेय से वंचित हो जायेंगे। इसकी परिपुष्टि हेतु वक्रता ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट भूषण है, इस आचार्य भामह के कथन को उपस्थित किया जा सकता है।[4]

1- याति शयोक्तिलक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलंकारप्रकारः सर्वः। वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः इतिवचनात् शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवासावलंकारस्यालंकारभावः, लोकोत्तरतैव चातिशयः तेनातिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम्। तथा हि अनयातिशयोक्त्या अर्थः सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भण्यते। तथा प्रमदोद्यानादि विभावतानीयते विशेषेण च भाव्यते रसमयी क्रियते। — ध्वन्यालोक लोचन, पृ०499-500

2- यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमितिस्मृतिः। — शृंगारप्रकाश 9/60

3- तात्पर्यम् तदेव काव्येषु ध्वनिरितिप्रसिद्धः। तदुक्तम् - 'तात्पर्यमेववचसि ध्वनिरेव काव्ये।' — शृंगारप्रकाश,

आचार्य भोज ने वक्रोक्ति की व्यापकता का विवेचन करते समय उसे भामह दण्डी आदि आचार्यों की तुलना में अधिक विस्तार नहीं दिया है। आचार्य भामह ने स्वभावोक्ति एवं रसवदादि सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति में ही सन्निविष्ट कर दिया था, इसी प्रकार आचार्य दण्डी ने स्वभावोक्ति का वक्रोक्ति से पार्थक्य सिद्ध करने के पश्चात् रसवदादि का उसमें सन्निवेश करके उसकी व्यापकता का निर्देशन किया है। इनके विपरीत आचार्य भोज ने स्वभावोक्ति एवं रसवदादि दोनों को वक्रोक्ति से पृथक् प्रतिपादित करके सम्पूर्ण वाङ्मय को वक्रोक्ति, रसोक्ति एवं स्वभावोक्ति के रूप में तीन भेदों में विभाजित किया है।[1] ऐसी स्थिति में आचार्य भोज द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति के स्वरूप में स्वभावोक्ति एवं रसवदादि के अतिरिक्त सभी अलंकारों का अन्तर्भाव सिद्ध हो जाता है।

मम्मट :—

आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार के रूप में स्वीकार करते हुए उसे काकु तथा श्लेष के वैशिष्ट्य से दो भेदों में विभाजित किया है।[2] इसके अतिरिक्त विशेष नामक अलंकार के विवेचन में उन्होंने वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का प्राण स्वीकार किया है।[3] अपनी इस स्वीकारोक्ति में उन्होंने सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति' इत्यादि को प्रामाणिक वचन के रूप में उपस्थित किया है। आचार्य मम्मट द्वारा वक्रोक्ति को शब्दालंकार के रूप में विनिर्दिष्ट स्वीकारोक्ति को हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, वाग्भट, विश्वनाथ, केशव, मिश्र एवं अच्युतराय आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी स्वी-

---

4- इत्येवमपि सर्वालंकारसाधारणं लक्षणमनुसर्तव्यम्। अस्मिन् सति सर्वालंकारजातमेव वक्रोक्त्यभिधान वाच्या भवन्ति। तदुक्तम् — वक्रत्वमेव काव्यानां परा भूषेति भामहः।— शृंगारप्रकाश

1- वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।— सरस्वतीकण्ठाभरण, 5/9

2- यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।— काव्यप्रकाश, 9/78

3- सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्।
— काव्यप्रकाश, 10/136 की वृत्ति

कार किया है।[1]

कुन्तक :—

आचार्य कुन्तक के बाहुबल पर ही वक्रोक्ति का साम्राज्य प्रतिष्ठित है। उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति काव्य का महत्वपूर्ण तत्व है। इसीलिए उसके महत्व का पूर्ण विवेचन करने के पश्चात् उन्होंने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक काव्य में उसे काव्य की आत्मा के रूप में उपस्थित किया है। आचार्य कुन्तक ने भामह आदि के सामान्यकथन से वक्रोक्ति को अलौकिक सिद्ध दिखाई और अन्ततः काव्य के सौन्दर्य के प्रतिपादक सभी तत्वों को इसमें अन्तर्भूत कर दिया है।

1-(क) उक्तस्यान्येनान्यथा श्लेषाद्युक्तिर्वक्रोक्तिः।— काव्यानुशासन, पृ0 234

(ख) वाक्यं यत्रान्यथैवोक्तमन्यो व्याकुरुतेऽन्यथा।
काक्वा श्लेषेण वा तस्मात् सा वक्रोक्तिर्द्विधा मता॥— अलंकारमहोदधि, 9/23

(ग) वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां (अपरार्थे) वाच्यार्थान्तरकल्पनम्।— चन्द्रालोक, 5/162

(घ) वाक्यं यदन्यथोक्तं केनाप्यन्येन योज्यतेऽपरथा।
तत् काकुश्लेषाभ्यां यदि वक्रोक्तिस्तदा स्फुरति।— एकावली, 8/7।

(ङ) अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काक्वा श्लेषेण वा भवेत्।
अन्यथा योजनं यत्र सा वक्रोक्तिर्निगद्यते॥— प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ0 410

(च)(1) परोक्तस्य श्लेषेण काक्वा वान्यथोक्तिर्वक्रोक्तिः। काव्यानुशासन, पृ0 49 वाग्भट

(2) प्रस्तुतादपरं वाक्यमुपादायोत्तरप्रदः।
भंगश्लेषमुखेनाह यत्र वक्रोक्तिरेव सा॥— वाग्भटालंकार, 4/14

(छ) अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद् यदि।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा। साहित्यदर्पण 10/11

(ज) अन्याभिप्रायेणोक्तं वाक्यमन्येनान्यथार्थकतया यद् योज्यते – सा वक्रोक्तिः।
श्लेषेण काकोवाक्यमुच्यते। — अलंकारशेखर, पृ0 39

(झ) श्लेषेण काक्वा वा अन्यार्थः कल्पितवक्रोक्तिरीर्यते॥— साहित्यसार, 8/288

विविध आलंकारिक ग्रन्थों के विद्यमान होने पर भी आचार्य कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक आलंकारिक ग्रन्थ की रचना इस उद्देश्य से सम्पन्न की थी कि जिससे उनकी अलौकिक प्रतिभा का प्रतिपादक अलौकिक चामत्कारिक आनन्दानुभूति का उत्पादक तथा अन्य आचार्यों के आलंकारिक वैशिष्ट्य का समापक 'वक्रोक्ति' काव्य की तत्त्व का स्थान ग्रहण करने में समर्थ सिद्ध हो जाय।[1] उक्त वैशिष्ट्य से सम्पन्न वक्रोक्ति का लक्षण प्रतिपादित करते हुए उन्होंने लिखा है कि काव्य के अन्तस्तत्त्व के ज्ञाता सहृदयों को प्रफुल्लित करने वाले वक्र कवि व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप काव्य की संज्ञा का अभिधायक होता है।[2] इसके विशिष्ट विवेचन में उनका कथन है कि प्रसिद्ध परम्परिक कवि-उक्ति से भिन्न स्वरूपवाली उक्ति 'वक्रोक्ति' कहलाती है। यह उक्ति वैदग्ध्य की भंगिमा से परिपूर्ण होती है। वैदग्ध्य का अभिप्राय कवि की काव्य-रचना रूप कर्म की चामत्कारिक कुशलता से है। कवि की यह चामत्कारिक कुशलता ही वक्रोक्ति कहलाती है।[3] इसके स्वरूप की विविधता का निर्देश उन्होंने तीन स्थानों पर किया है[4]———

(1) शास्त्र आदि में प्रसिद्ध शब्द तथा अर्थ के प्रयोग से भिन्न प्रयोग।

(2) लोक आदि में प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न शब्द तथा अर्थ का प्रयोग।

(3) लोक में प्रसिद्ध शब्द तथा अर्थ के व्यावहारिक मार्ग को अतिक्रान्त करने वाले शब्दार्थ का प्रयोग।

1- लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते॥— वक्रोक्तिजीवित, 1/2

2- शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।— वक्रोक्तिजीवित, 1/7

3- वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। — वक्रोक्तिजीवित, 1/1 की वृत्ति

4(क) शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि।— वही, 1/7 की वृत्ति

(ख) प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि — वही, 1/18 की वृत्ति

(ग) अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणि — वक्रोक्तिजीवित, पृ० 193

आचार्य कुन्तक द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति के उपर्युक्त विवेचन के महत्व के सम्बन्ध में डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित की निम्नलिखित पंक्तियाँ सर्वथा युक्ति-युक्त प्रतीत होती हैं —

"कुन्तक ने जिसे वक्रोक्ति कहा उसे ही वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति, वैचित्र्य एवं विच्छित्ति भी कहा। इन शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि उन्होंने काव्यभाषा को साधारणभाषा से पृथक् करके देखा, केवल अलंकार-जनित चमत्कार को नहीं, बल्कि काव्य के समस्त संगठन में व्याप्त वैचित्र्य को चमत्कार माना और उसी में सौन्दर्य भी स्वीकार किया। इस सौन्दर्य का प्रभाव भी अलंकारवादियों के द्वारा उपस्थापित काव्य-प्रयोजन से भिन्न तथा रसवादियों के अनुकूल आह्लाद बताया गया। यह आह्लाद भी साधारण नहीं, बल्कि पारलौकिक या आध्यात्मिक आह्लाद के समान होता है, जिसे जानने वाला ही जानता है।[1]

इस प्रकार आचार्य कुन्तक द्वारा उपस्थापित वक्रोक्ति सम्बन्धी उपर्युक्त विचारसरणि का समीक्षात्मक अध्ययन करने से यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य की वर्णनात्मक शैली के दो रूप हैं —— प्रथम, लोक तथा शास्त्र आदि की सामान्य शैली एवं द्वितीय, अलौकिक तथा चामत्कारिक रूप असामान्य शैली। इनमें से वक्रोक्ति का आधार असामान्य शैली ही प्रतीत होती है। अतः आचार्य कुन्तक की मान्यता के अनुसार अलौकिक एवं चामत्कारिक तत्वों से परिपूर्ण असामान्य शैली में लिखा हुआ काव्य ही वस्तुतः काव्य की संज्ञा से अभिहित किया जाना चाहिए। इस प्रकार क्रमशः विकास को प्राप्त होता हुआ आचार्य कुन्तक द्वारा काव्यात्म रूप में प्रतिपादित वक्रोक्ति-सिद्धान्त सर्वथा महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी सिद्ध हुआ है। इस सम्बन्ध में आचार्य शिवप्रसाद भारद्वाज की निम्नलिखित पंक्तियाँ वास्तविकता का उन्मीलन करने में सर्वथा समर्थ सिद्ध होंगी ——

"ध्वनि यदि वस्तु अलंकार और रस तक व्यापक हो सकती है तो वक्रोक्ति भी उतनी ही व्यापकता रखने में समर्थ है, यही सिद्ध करना आचार्य कुन्तक को अभीष्ट था। परन्तु वक्रोक्ति को उन्होंने भी अलंकार माना है और वह भी विचित्र, अपूर्व अलंकार। इस प्रकार वक्रोक्ति की विशद विवेचना हो जाने पर अलंकार-सम्प्रदाय के क्षेत्र में एक अन्य उपकूल ने बाहें फैलायी, जिससे अलंकार-सम्प्रदाय का तट-कूल और घना हो गया।

1- काव्यशास्त्र, पृ० 55 सम्पादक — आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

2-

तथा अलंकार से व्यापकता कुन्तक द्वारा प्रमाणित हो गयी। इस प्रकार वक्रोक्ति का अलंकार-क्षेत्र से अटूट सम्बन्ध रहा तथा काव्य का महत्वपूर्ण अंग अलंकार वक्रोक्ति के बल पर अन्य सम्प्रदायों से टक्कर लेता रहा और भावाभिव्यक्ति का साधन होने के कारण अपनी स्थिति काव्य-क्षेत्र में आज तक दृढ़ बनाये हुए है।[1]

(2) वक्रोक्ति के भेदोपभेद

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के भेदोपभेदों का निरूपण इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि उसमें काव्य के अन्य सभी आवश्यक तत्वों का भी समावेश हो जाता है। उन्होंने सर्वप्रथम इसे मुख्य छः भेदों में विभाजित किया है[2]———

(1) वर्णविन्यास वक्रता

(2) पदपूर्वार्द्ध -वक्रता

(3) पदपरार्द्धवक्रता

(4) वाक्य-वक्रता

(5) प्रकरण वक्रता

(6) प्रबन्ध वक्रता

(1) वर्णविन्यास-वक्रता :—

आचार्य कुन्तक के अनुसार वर्णविन्यास वक्रता के अन्तर्गत व्यंजनवर्णों के सौन्दर्य के वैचित्र्य का विवेचन किया जाना चाहिए। किसी भी रचना में एक, दो या दो से अधिक व्यंजनवर्णों का कुछ-कुछ अन्तर के साथ बार-बार उपनिबन्धन होने पर वर्णविन्यास वक्रता का

---

1. भारतीय काव्यशास्त्र, पृ0 70-71: सम्पादक डा0 उदयभानु सिंह

2. कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट्।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशालिनः।
वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्द्धवक्रता।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः।
वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति।
वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धेऽप्यस्ति यादृशः।
उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः ॥— वक्रोक्तिजीवित, 1/18-21

प्रादुर्भाव हो जाता है।[1] इस वर्णविन्यास वक्रता के दो उपभेद हैं। प्रथम, उपभेद के द्वारा एक वर्ण की आवृत्ति से, दो वर्णों की आवृत्ति से तथा दो से अधिक वर्णों की आवृत्ति से अनुप्रास का शुभागमन न होता है। द्वितीय उपभेद में माधुर्य एवं ओज आदि गुण, उपनागरिका, परुषा एवं कोमला आदि वृत्तियाँ जो कुछ आचार्यों द्वारा वैदर्भी, गौड़ी एवं पांचाली आदि रीतियों के नाम से अभिहित की गयी हैं, का अन्तर्भाव हो जाता है। इनके अतिरिक्त यमक की आलंकारिक भावना का भी इसमें प्रकाशन हो जाता है। इस प्रकार वर्णों की समस्त चामत्कारिक स्थितियों का इस वक्रता द्वारा समाधान प्राप्त हो जाता है। इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्तक ने वर्णविन्यास की वैधानिकता के प्रदर्शन में कुछ नियमों का निदर्शन किया है —

(अ) वर्णविन्यास के सन्दर्भ में कवि को प्रकृष्ट आग्रह से मुक्त होना चाहिए, क्योंकि वर्णिक आग्रह के विद्यमान होने पर वह अर्थ की गुरुता का विस्मरण कर देता है। काव्य शब्द और अर्थ का समन्वित समन्वय होता है। अतः उसकी दृष्टि शब्द और अर्थ पर समान रूप से होनी चाहिए। कवि के वर्णिक ममत्व से काव्य का स्वरूप उसी प्रकार विकृत हो जाता है, जिस प्रकार उदर रोग से प्रपीड़ित व्यक्ति का बाहुल्य और स्थूलता से सुशोभित हो कर अपने बहुमान का प्रदर्शन करता है किन्तु अन्य शारीरिक अंग सूखकर अपनी हीनता का प्रदर्शन करते हैं। अतः जिस प्रकार उदर के आधिक्य का प्रदर्शन होने पर भी अन्य अंगों के मांसाभाव के कारण शरीर सौन्दर्य का आधायक नहीं कहा जा सकता है, उसी प्रकार वर्णिक चमत्कार के विद्यमान होने पर भी आर्थिक चमत्कार के अभाव में काव्य सौन्दर्य से समायुक्त नहीं हो सकता।[2] इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण सर्वथा युक्ति-युक्त प्रतीत होता है —

वद तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत् किं त्वदीयं मे॥
अनुरणन्मणिमेखलमविरलसिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम्।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते॥

1- एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः-पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यास वक्रता॥— वक्रोक्तिजीवित, 2/1

2- व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेः वाच्यवाचकयोः परस्परस्पर्धित्वलक्षण-साहित्यविरहः पर्यवस्यति॥— वही, पृ0 84

यहाँ कवि की वर्णिक योजना का आग्रह इतना प्रकृष्ट दिखायी देता है कि उससे शब्दार्थ का समन्वित रूप पूर्णतया विलुप्त हो गया है। इसका वर्णिक चमत्कार तो सर्वथा रमणीय कहा जायेगा, किन्तु अर्थभाव की रमणीयता से वर्णिक रमणीयता का सर्वस्व समाप्त हो गया है। अतः इस प्रकार कवि की शब्दार्थ-समन्वित भावना के अभाव में यह काव्य निम्न कोटि में परिगणित किया जायेगा।

आचार्य मम्मट ने अर्थ की उपस्थिति के अभाव में इस उदाहरण को अपुष्टार्थ दोष की संज्ञा से विभूषित किया है।[1]

(ब) वर्णों का समायोजन वर्णनीय वस्तु के सादृश्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए। सादृश्य या औचित्य की अनवधानता में काव्य के वैशिष्ट्य का अभाव हो जायेगा।

(स) वर्ण-विन्यास में वर्णिक सौन्दर्य का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। सौन्दर्य के अभाव में वर्ण विन्यास काव्य के सौन्दर्य को नष्ट कर देता है। अतः वर्ण विन्यास में कठोर वर्णों को नहीं प्रयुक्त करना चाहिए।

(द) वर्ण विन्यास में वैचित्र्य का समावेश सर्वथा आवश्यक है। इसके लिए पूर्व आवृत्त वर्णों को परित्यक्त करते हुए नवीन वर्णों को ग्रहण करना चाहिए।

(य) वर्ण-विन्यास में ~~वैचित्र्य~~ प्रसाद गुण का समावेश अत्यावश्यक रूप में होना चाहिए। यदि वर्ण विन्यास का उद्देश्य यमक अलंकार को प्रकाशित करना हो तो प्रसाद की आवश्यकता अवश्यम्भावी होगी।

(र) वर्ण-विन्यास श्रुति-सुखद के साथ-साथ औचित्य से परिपूर्ण होना चाहिए। इस प्रकार उक्त सभी नियमों का परिपालन करने से काव्य-रचना सर्वोत्कृष्ट सिद्ध हो जाती है।[2]

1- अत्र वाच्यस्य विचिन्त्यमानं न किञ्चिदपि चारुत्वं प्रतीयते। इत्यपुष्टार्थतैव अनुप्रासस्य वैफल्यम्। — काव्यप्रकाश, पृष्ठ 770 वामनी टीका।

2- नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता
पूर्वावृत्तपरित्याग नूतनावर्तनोज्ज्वला।
समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम्।
औचित्ययुक्तमाद्यादि नियतस्थानशोभियत्॥
वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी।
वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः॥— वक्रोक्तिजीवित, 2/1-6

(2) पदपूर्वार्द्ध-वक्रता :——

किसी भी शब्द की रचना धातु या प्रातिपदिक रूप पद एवं प्रत्यय के संयोग से सम्पन्न होती है। अतः प्रातिपदिक धातु रूप पदपूर्वार्द्ध की वक्रता अर्थात् विन्यास-वैचित्र्य को पदपूर्वार्द्धवक्रता कहते हैं। इसे दूसरे शब्दों में प्रकृति-वक्रता के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस पदपूर्वार्द्धवक्रता को अनेक उपभेदों में विभाजित किया गया है ——

(क) रूढ़िवैचित्र्यवक्रता

(ख) पर्याय-वक्रता

(ग) उपचार वक्रता

(घ) विशेषण वक्रता

(ङ) संवृतिवक्रता

(च) वृत्ति-वक्रता

(छ) भावैचित्र्य-वक्रता

(ज) लिङ्गवैचित्र्यवक्रता

(झ) क्रियावैचित्र्यवक्रता

(ञ) प्रत्ययवक्रता

(क) रूढिवैचित्र्य-वक्रता :——

जहाँ पारम्परिक कथन की विचित्रता की प्रतीति होती है, वहाँ रूढ़िवैचित्र्यवक्रता होती है। इसमें कवि का लक्ष्य किसी वस्तु का अलौकिक ढंग से तिरस्कार करना अथवा अलौकिक ढंग से उत्कर्ष का प्रस्तुतीकरण करना होता है।[1] आचार्य कुन्तक ने आनन्दवर्द्धनाचार्य द्वारा प्रस्तावित लक्षणामूलध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक दोनों भेदों को रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता में अन्तर्निहित कर लिया है। इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्तक द्वारा प्रस्तावित निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं ——

> तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
> रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥

यहाँ द्वितीय कमल शब्द लक्ष्मीपात्रत्व आदि अनेकगुणों से विभूषित कमल के पुष्प की लोकोत्तर उत्कृष्टता का प्रकाशन करता है।

> कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।
> वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥

यहाँ कवि के द्वारा राम और वैदेही शब्दों से रूढ़ि की विचित्रता का प्रतिपादन कियागयाहै।

1- लोकोत्तरतिरस्कार श्लाघ्योत्कर्षाभिधित्सया।
वाच्यस्य सोच्यते कापि रूढ़िवैचित्र्यवक्रता॥
— वक्रोक्तिजीवित, 2/9

(ख) पर्यायवक्रता :—

समानार्थक शब्दों की औचित्यपूर्ण प्रायोगिक स्थिति पर्यायवक्रता कहलाती है। समानार्थक शब्द सामान्यतया प्रयुक्त होने पर एक सामान्य अर्थ का प्रतिपादन करता है, किन्तु वही औचित्यपूर्ण प्रायोगिक स्थिति प्राप्त कर लेने पर विशिष्ट अर्थ का द्योतक हो जाता है। इस सम्बन्ध में 'कुमारसम्भव' महाकाव्य का निम्नलिखित श्लोक ध्यातव्य होगा—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारः

प्रथममपि मनो मे पंचबाणः क्षिणोति।

किमुत मलयवातान्दोलित पाण्डुपत्रै-

रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वंकुरेषु॥

यहाँ पर औचित्यपूर्ण प्रायोगिक स्थिति को प्राप्त कर विशिष्ट अर्थ का प्रकाशक 'पंचबाण' शब्द पर्याय-वक्रता की परिपुष्टि करता है। यहाँ पंचबाण के समानार्थक शब्द कामदेव, कन्दर्प, अनंग, मनसिज, पुष्पबाण एवं पुष्पधन्वा आदि विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध होंगे।

(ग) उपचारवक्रता :—

आचार्य कुन्तक के अनुसार जहाँ अन्य वस्तु का साधारण धर्म, पर्याप्त पार्थक्य प्रतीत होने वाले पदार्थ पर किंचित् समानधर्मता के कारण आरोपित किया जाता है, वहाँ उपचार का आविर्भाव हो जाता है। उपचार के आविर्भाव से काव्य में एक विचित्रता से परिपूर्ण सरसता का आगमन हो जाता है। यह विचित्रता रूपक आदि अलंकारों का आधार सिद्ध हो जाती है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है-

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं,

रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।

सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं।

तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूः विक्लवास्ताः॥[2]

1- यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात्, सामान्यमुपचर्यते।
लेशेनापि भवत्कांचित् वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम्।
यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः॥
उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते॥— वक्रोक्तिजीवित, 2/13,14

2- मेघदूत, पूर्व) 39 कालिदास

इस उदाहरण में 'सूचिभेद्यैः' पद उपचारवक्रता का ज्ञापक है। सुई द्वारा किसी ठोस वस्तु में ही छेद किया जा सकता है, किन्तु यहाँ पर निराधार अन्धकार का सुई द्वारा भेदन करने की योजना बतायी गयी है। ऐसी स्थिति में यह निश्चित हो जाता है कि यहाँ अन्धकार पर ठोस पदार्थ का आरोप किया गया है। यहाँ पर कवि का अभि-प्राय चामत्कारिक ढंग से अन्धकार के आधिक्य का उपस्थापन करना है।

(घ) [illegible] विशेषण-वक्रता :—

आचार्य कुन्तक के अनुसार विशेषण, क्रिया अथवा कारक के माहात्म्य से जब कोई वाक्य सौन्दर्य से विभूषित हो जाता है, तब वह विशेषण-वक्रता का कारण कहा जाता है।[1] विशेषण वक्रता काव्य का महत्व पूर्ण तत्व है। औचित्यपूर्ण समावेश प्राप्त करने पर यह काव्य की जीवात्मा सिद्ध हो जाता है, क्योंकि रस की उत्कृष्टता का यह सर्वोत्तम आधार है।[2] [illegible] इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण सर्वथा ध्यातव्य है —

दाहोऽम्भः प्रसृतिंपचः प्रचयवान् बाष्पः प्रणालोचितः,
श्वासाः प्रेङ्खितदीपदीपकलिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः।
किञ्चान्यत् कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते॥[3]

यहाँ दाह, बाष्प, श्वास तथा वपु नायिका के वर्णनीय विषय हैं, जिनमें स्वतः किसी चामत्कारिता का अन्तर्भाव नहीं प्रतीत होता है, किन्तु अपने उचित विशेषणों का साहाय्य प्राप्त कर ये चामत्कारिकता की निधि बन जाते हैं।

(ङ) संवृतिवक्रता :—

'संवृति' का अर्थ है — संवरण या छिपाना। जहाँ विचित्रता की विवक्षा के लिए कोई वस्तु सर्वनाम आदि शब्दों के द्वारा छिपा दी जाती है, वहाँ संवृतिवक्रता

1- विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा।
यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषणवक्रता॥ — वक्रोक्तिजीवित, 2/15

2- एतदेव विशेषणवक्रत्वं नाम प्रस्तुतौचित्यानुसारि सकलसत्काव्यजीवितत्वेन लक्ष्यते, यस्मादनेनैव रसः परां परिपोषपदवीमवतार्यते। — वक्रोक्तिजीवित, पृ0 105

3- विद्धशालभञ्जिका, 2/21 राजशेखर

की प्रतीति होती है।[1] संवृति का स्वरूप अनेक प्रकार के सर्वनामों द्वारा सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में 'कुमारसम्भव' का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है —

निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः
पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते।
शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्॥[2]

यहाँ 'किमपि' शब्द संवृति-वक्रता का सूचक है। उसके द्वारा किसी अवर्णनीय तथा अकल्पनीय तथ्य का प्रकाशन हो रहा है। इसे अन्य रूप में प्रकाशित नहीं किया जा सकता है।

(च) प्रत्यय - वक्रता :—

कभी-कभी प्रत्यय अपनी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए ऐसे औचित्यपूर्ण तथ्यों को उपस्थित कर देते हैं कि उनके द्वारा रहस्यपूर्ण भावों का उद्गम अवश्यम्भावी हो जाता है।[3]

जाने सख्यास्तव मयि मनः सम्भृतस्नेहमस्मा
दित्थं भूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
वाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत्॥[4]

यहाँ 'सुभगंमन्य' पद प्रत्यय-वक्रता का द्योतक है। इस पद में 'खश्' प्रत्यय करने के पश्चात् 'मुम्' का आगम हुआ है — आत्मानं सुभगं मन्यते' इति सुभगंमन्यः' आत्ममाने खश्' इति खश् मुमागमश्च। इसका वैचित्र्य यह है कि यक्ष स्वयं को कृत्रिम सौन्दर्य से पृथक् प्रतिपादित करते हुए इस तथ्य की परिपुष्टि करता है कि उसकी प्राणप्रिया विरहिणी पत्नी उसके स्वाभाविक सौन्दर्य पर गर्व करती है। इस प्रकार इस वैचित्र्य की परिपुष्टि प्रत्यय के ही सामंजस्य से सम्पन्न हुई है। अतः इसे प्रत्यय-वक्रता का उदाहरण कहा जायेगा।

1- यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया।
सर्वनामादिभिः कैश्चित् सोक्ता संवृतिवक्रता॥— वक्रोक्तिजीवित, 2/16

2- कुमारसम्भव, 5/83

3- प्रस्तुतौचित्यविच्छित्तिं स्वमहिम्ना विकासयन्।
प्रत्ययः पदमध्ये न्यामुल्लासयति वक्रताम्॥— वक्रोक्तिजीवित, 2/17

4- मेघदूत (उत्तर) 3।

(छ) वृत्ति - वक्रता :—

जहाँ अव्ययीभाव आदि मुख्य वृत्तियों की रमणीयता के समावेश से काव्य की रमणीयता में अभिवृद्धि होती है, वहाँ वृत्ति वक्रता के स्वरूप की प्राप्ति होती है।[1] उपर्युक्त तथ्य की परिपुष्टि में निम्नलिखित श्लोक सर्वथा युक्ति-युक्त सिद्ध होगा —

तरुणिमनि कलयति कला-

मनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे।

अधिवसति सकलललना-

मौलिमियं चकितहरिणी चलनयना॥

यहाँ किसी नव-युवती की युवावस्था में प्रस्फुटित सौन्दर्य से उस वैचित्र्य की अभिव्यक्ति हो रही है कि कुसुमायुध के धनुष रूपी आचार्य का संसर्ग प्राप्त कर भौंहों का अग्रभाग रूपी शिष्य चंचलता की शिक्षा प्राप्त कर रहा है। वस्तुतः गुरु-शिष्य की यह कल्पना सर्वथा वैचित्र्य से परिपूर्ण है। इस वैचित्र्य का आविर्भाव 'इमनिच् (तरुणिमनि) प्रत्यय, अव्ययीभावसमास (अनुमदनधनुः ~~[illegible]~~ धनुः समीपे') एवं 'कर्मभूत आधार' (ललना-मौलिम्) आदि विविध वृत्तियों से हुआ है।

(ज) भाववैचित्र्य वक्रता :—

जहाँ किसी वैचित्र्य की अनुभूति के अभिप्राय से भाव के साध्य रूप को तिरस्कृत करके सिद्ध रूप में प्रतिपादित किया जाता है, वहाँ भाववैचित्र्य-वक्रता कही जाती है।[2] इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण सर्वथा ध्यातव्य है —

पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाङ्कुराणां

दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च।

नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा

पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा॥

1- अव्ययीभावमुख्यानां वृत्तीनां रमणीयता।
यत्रोल्लसति सा ज्ञेया वृत्तिवैचित्र्यवक्रता॥ — वक्रोक्तिजीवित, 2/19

2- साध्यतामनादृत्य सिद्धत्वेनाभिधीयते।
यत्र भावो भवत्येषा भाववैचित्र्यवक्रता॥ — वही, 2/20

यहाँ 'भाव' रूप 'विनिवृत्ता' पद 'क्त' प्रत्यय के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। 'क्त' प्रत्यय के संसर्ग से कोई भी भाव साध्य के स्थान पर सिद्ध रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार यहाँ सिद्ध रूप 'विनिवृत्ता' का अभिप्राय यह सिद्ध हो जाता है कि मानिनी स्त्रियों के मान का स्वरूप सर्वथा समाप्त हो गया है।

(ड) लिङ्गवैचित्र्य-वक्रता :—

लिङ्ग के पार्थक्य का प्रतिपादन करने वाले शब्दों का एक ही स्थान में समानधर्मत्व प्रतीत होने पर, सौन्दर्य के आविर्भाव-हेतु अन्य लिंगों को तिरस्कृत करके स्त्री-लिंग का प्रयोग करने पर एवं औचित्य को दृष्टि में रखते हुए शब्द को किसी विशिष्ट लिंग में परिवर्तित करने पर लिंग वैचित्र्य-वक्रता के स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।[1]

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता

तं मार्गमेताः कृपया लता मे।

अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवन्त्यः

शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥[2]

यहाँ 'वृक्ष' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ 'लता' शब्द वैचित्र्य से परिपूर्ण है। 'वृक्ष' नपुंसक लिंग के स्थान पर लता स्त्रीलिंग का प्रयोग करके कवि दया तथा कारुण्य भाव के आधिक्य का प्रदर्शन करना चाहता है।

(ञ) क्रिया-वक्रता :—

जिस प्रकार उचित विशेषण या समानार्थक शब्द से कोई वाक्य चामत्कारिक स्थिति से परिपूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार वह क्रिया के वैचित्र्य से भी मनोज्ञ बन जाता है। क्रिया वक्रता का यह स्वरूप विविध रूपों में प्राप्त किया जा सकता है।[3]

1- सति लिंगान्तरे यत्र स्त्रीलिंगं च प्रयुज्यते।
शोभानिष्पत्तये यस्मात् नाम्नैव स्त्रीति पेशलम्।
विशिष्टं योज्यते लिंगमन्यस्मिन् सम्भवत्यपि।
यत्र विच्छित्तये साऽन्या वाच्यौचित्यानुसारतः ॥ — वक्रोक्तिजीवित, 2/21-23

2- रघुवंश, 13/24

3- कर्तुरत्यन्तरंगत्वं कर्त्रन्तरविचित्रता।
स्वविशेषणवैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता।
कर्मादिसंवृतिः पंच प्रस्तुतौचित्यचारवः।
क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारास्त इमे स्मृताः। — वही, 2/24-25

(3) पदपरार्द्ध वक्रता :—

किसी पद के उत्तर भाग में समवस्थित सुप्, तिङ् आदि प्रत्ययों का प्रायोगिक वैचित्र्य पदपरार्द्ध-वक्रता के रूप में प्रसिद्ध है। इसे प्रमुख सात भेदों में विभाजित किया गया है —

(क) कालवैचित्र्य-वक्रता

(ख) कारक - वक्रता

(ग) वचन- वक्रता

(घ) पुरुष - वक्रता

(ङ) उपग्रह-वक्रता

(च) प्रत्यय-वक्रता

(छ) पद-वक्रता

(क) कालवैचित्र्य-वक्रता :—

जहाँ औचित्य के संसर्ग से काल-वैचित्र्य काव्य में सौन्दर्य का समावेश समुपस्थित कर देता है, वहाँ कालवैचित्र्य-वक्रता होती है।[1]

समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसंचाराः।

अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः।

यहाँ 'भविष्यन्ति' पद कालवैचित्र्य-वक्रता का पूर्ण प्रतिपादक सिद्ध होता है।

(ख) कारक-वक्रता :—

जहाँ किसी विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादन-हेतु कारकों में परिवर्तन कर दिया जाता है अथवा जहाँ अचेतन पदार्थ में चेतनत्व का अध्यारोप कर देने से रस की सर्वथा परिपुष्टि हो जाती है, वहाँ कारक-वक्रता कही जाती है।[2]

स्तनद्वन्द्वं मन्दं स्नपयति बलाद् वाष्पनिवहो

हठादन्तः कण्ठं लुठति सरसः पंचमरवः।

शरज्ज्योत्स्नापाण्डुः पतति च कपोलः करतले।

न जानीमस्तस्याः क इव हि विकारव्यतिकरः॥

1- औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम्।
याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता॥ वक्रोक्तिजीवित, 2/26

2- यत्र कारकसामान्यं प्राधान्येन निबध्यते।
तत्त्वाध्यारोपणान्मुख्यगुणभावाभिधानतः।
परिपोषयितुं कांचिद् भंगीभणितिरम्यताम्।
कारकाणां विपर्यासः सोक्ता कारकवक्रता॥— वही, 2/27-28

यहाँ नहलाना, लोटना तथा गिरना रूप चेतन व्यक्ति के व्यापारों को अचेतन पदार्थ पर अध्यारोपित किया गया है। लौकिक परम्परा के अनुसार अचेतन आँसुओं के द्वारा किसी को नहलाया जाता है, किन्तु यहाँ वे स्वयं नहलाने का कार्य कर रहे हैं। अतः यहाँ 'करण' के स्थान पर 'कर्ता' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार हथेली पर रखा जाता है, किन्तु यहाँ वह स्वयं ही हथेली पर गिर रहा है। यहाँ कर्म के स्थान पर कर्ता कारक को परिवर्तित कर दिया गया है। इस प्रकार कारकों के परस्पर विपर्यास से नायिका की विरह व्यथित स्थिति का वैचित्र्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है।

(ग) वचन - वक्रता :—

जहाँ एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग करने से अथवा बहुवचन के स्थान पर एक वचन या द्विवचन का प्रयोग कर देने से काव्य में मनोवांछित अर्थ की प्राप्ति हो जाती है, वहाँ वचन-वक्रता या संख्या-वक्रता होती है।[1]

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमती,
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं।
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥[2]

यहाँ राजा दुष्यन्त वक्ता के रूप में एकाकी विद्यमान हैं। अतः एकवचन 'अहं' का ही प्रयोग होना चाहिए, किन्तु उसके स्थान पर बहुवचन का प्रयोग करके कवि ने उसकी उदासीनता रूप वैचित्र्य का प्रतिपादन करना अपना लक्ष्य बनाया था।

(घ) पुरुष - वक्रता :—

जहाँ काव्य में वैचित्र्य का प्रतिपादन करने के लिए पुरुषों का परिवर्तन किया जाता है, वहाँ पुरुष वक्रता होती है।[3]

अतोऽत्र किंचित् भवतीं बहुक्षमां
द्विजातिभावादुपपन्नचापलः॥

1- कुर्वन्ति काव्यवैचित्र्य विवक्षा परतन्त्रिताः।
यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदुः॥— वक्रोक्तिजीवित, 2/29

2- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/24

3- प्रत्यक्तापरभावश्च विपर्यासेन योज्यते।
यत्र विच्छित्तये सैषा ज्ञेया पुरुषवक्रता॥— वक्रोक्तिजीवित, 2/30

अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने

न चेद् रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि॥[1]

यहाँ वक्ता भगवान् शंकर स्वयं को लक्षित कर रहे हैं। अतः उत्तम पुरुष का प्रयोग सर्वथा अपेक्षित था, किन्तु उसके स्थान पर 'अयं जनः' रूप प्रथम पुरुष का प्रयोग किया गया है। इस पुरुषविपर्यय का कारण भगवान् शंकर की कोमल भावनाओं का प्रदर्शन ही प्रतीत होता है।

(ङ) उपग्रहवक्रता :— जहाँ दो पदों में से अर्थ के औचित्य के कारण एक ही विशिष्ट पद में क्रिया पद का प्रयोग किया जाता है, वहाँ उपग्रह वक्रता होती है।[2]

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान् मुमुक्षोः।

कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः।

त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः

प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि॥[3]

यहाँ 'बिभिदे' क्रिया विशिष्ट आत्मनेपद में प्रयुक्त होकर वैचित्र्य का पूर्ण प्रतिपादनकरतीहै।

(च) प्रत्यय-वक्रता :—

जहाँ प्रत्ययों के प्रयोग से काव्य में किसी कमनीयता का प्रकाशन होता है, वहाँ प्रत्यय वक्रता के स्वरूप का ज्ञान होता है।[4]

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा बहिः।

वन्द्यौ द्वावपि तावुभौ कविवरौ वन्द्येतरां तं पुनः।

यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः॥

यहाँ 'वन्द्येतराम्' पद में प्रयुक्त 'तरप्' प्रत्यय के वैशिष्ट्य से यह सिद्ध हो जात है कि कवियों की अपेक्षा आलोचक का महत्त्व अधिक होता है।

1- पदयोरुभयोरेकमौचित्याद् विनियुज्यते।

शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम्। — वक्रोक्तिजीवित, 2/31

2- रघुवंश 9/58

3- विहितः प्रत्ययादन्यः प्रत्ययः कमनीयताम्।

यत्र कामपि पुष्णाति सान्या प्रत्ययवक्रता।— वक्रोक्तिजीवित, 2/32

(3) पद-वक्रता :—

वाक्य का जीवित रूप जो रसादि होता है उसे काव्य में उपसर्ग और निपातों द्वारा प्रकाशित किए जानेपर उसे पद-वक्रता होती है।[1]

अयमेकपदे तया वियोगः

प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।

नववारिधरोदयादहोभि-

र्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥

यहाँ आचार्य कुन्तक के अनुसार प्रिया-वियोग एवं वर्षाकाल की समकालिकता के सूचक दो 'च' रूप निपातों का प्रयोग किया गया है। उनके वैशिष्ट्य से यह विचित्रता प्रतीत होती है कि जिसप्रकार अग्नि की ज्वाला को उद्दीप्त करने से दोनों का संसर्ग अत्यन्त उत्तेजक सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार वर्षा-काल के सान्निध्य से विरह का स्वरूप अत्यन्त भयंकर हो जाता है। इसी प्रकार 'सु' और 'दुर्' उपसर्गों के संयोग से प्रिया-वियोग के सर्वथा असह्य होने का संकेत किया गया प्रतीत होता है।

(4) वाक्य-वक्रता :—

पदसमूह या वाक्यविन्यास के सौन्दर्य को वाक्य वक्रता कहते हैं। इसे दूसरे शब्दों में वस्तु-वक्रता के नाम से भी अभिहित किया गया है। सहजा और आहार्य के रूप में इसे दो भेदों में विभाजित किया गया है। आचार्य कुन्तक ने इस वक्रता में अपने पूर्ववर्ती सभी आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट उपमा आदि अलंकारों को अन्तर्भावित करने का प्रयास किया है। अन्ततः रसवदादि अलंकारों को भी इसी वक्रता में समाविष्ट कर लिया है।

(5) प्रकरण-वक्रता :—

प्रबन्ध का एकदेश 'प्रकरण' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। विविध प्रकरणों के पारस्परिक साहाय्य से प्रबन्ध उत्कृष्टत्व को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रकरण के सौन्दर्य पर ही प्रबन्ध का सौन्दर्य आधारित होजाता है। इसीलिए आचार्य कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता का उल्लेख करने के पश्चात् प्रबन्ध-वक्रता का विवेचन उपस्थित किया है। प्रकरण-

---

1- रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।

वाक्यैकजीवितत्वेन सा परा पदवक्रता।— वक्रोक्तिजीवित, 2/33

2- जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ

द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ

वक्रता के उत्कृष्ट स्वरूप को निम्नलिखित रूपों में उपस्थित किया जा सकता है —

(क) पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करके प्रकरण वक्रता के स्वरूप को उपस्थित किया जा सकता है। रघुवंश महाकाव्य में राजा रघु से कौत्स द्वारा गुरुदक्षिणा की याचना किए जाने पर राजकोष रिक्त होने के कारण कुबेर पर आक्रमण करके याचित धनराशि देने की इच्छा करने पर राजा रघु का राजकोष सुवर्ण से परिपूर्ण हो जाता है। राजा रघु कौत्स को याचित धनराशि से अधिक मात्रा को ग्रहण करने का आदेश देते हैं, किन्तु वह अधिक मात्रा में नहीं स्वीकार करते हैं।[1] इस प्रकार कविवर कालिदास द्वारा दाता रघु एवं याचक कौत्स के चारित्रिक वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करके प्रकरण वक्रता के प्रथम स्वरूप को उपस्थित किया गया है।

(ख) नवीन प्रकरण की उद्‌भावना करके प्रकरण वक्रता के स्वरूप को उपस्थित किया जा सकता है।कविवर कालिदास ने महाभारत में न विद्‌यमान होने वाले दुर्वासा ऋषि के शाप को अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अंक में उपस्थित करके नवीन प्रकरण की उद्‌भावना की है।इससे राजा दुष्यन्त के चारित्रिक वैशिष्ट्य की सर्वथा परिपुष्टि होजाती है। इस प्रकार दुर्वासा ऋषि के शाप रूप नवीन प्रकरण की उद्‌भावना करके महाकवि कालिदास ने प्रकरण-वक्रता के द्‌वितीय स्वरूप को उपस्थित कर दिया है।

(ग) मुख्य कथावस्तु के साथ उचित प्रकरण का समावेश न होने पर उसे परिवर्तित करके नवीन औचित्यपूर्ण प्रकरण को समुपस्थित करके प्रकरण वक्रता के स्वरूप को प्रस्तुत किया जा सकता है।[2] मायुराज नामक कवि द्‌वारा विरचित उदात्तराघव नाटक में प्रकरण में छिपकर मारे जाने वाले बालिवध के प्रकरण को परित्यक्त करके मारीचवध के प्रकरण में कुछ परिवर्तन किया गया है। रामायण की कथा के अनुसार राम-चन्द्र जी द्‌वारा मारीचवध के लिए प्रस्थान करना तथा उनकी प्राण-रक्षा के लिए भगवती सीता द्‌वारा लक्ष्मण को भेजना उचित नहीं प्रतीत होता है। लक्ष्मण द्‌वारा सम्पन्न होने वाले मारीच-वध रूपी सेवा-कार्य से रामचन्द्र जी का प्रस्थान करना एवं सर्वशक्तिसम्पन्न उनकी प्राण-रक्षा-हेतु जगज्जननी जानकी द्‌वारा लक्ष्मण को भेजना, दोनों अनौचित्यपूर्ण सिद्ध हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में'उदात्तराघव'

गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी

नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च।— रघुवंश, 5/31।

2- इतिवृत्तप्रयुक्तेऽपि कथावैचित्र्यवर्त्मनि।
उत्पाद्‌यलवलावण्यादन्या भवति वक्रता।
तथा यथा प्रबन्धस्य सकलस्यापि जीवितम्।
भाति प्रकरणं काष्ठाधिरूढरसनिर्भरम्॥— वक्रोक्तिजीवित, 4/3, 4

के रचयिता ने उक्त अभाव को समाप्त करने के लिए मारीच -यज्ञकेतु राक्षस को नियुक्त किया है एवं पुनः उनकी प्राण रक्षा के लिए जानकी जी ने रामचन्द्र जी को भेजा है।[1] इस प्रकार कविवर द्वारा परिवर्तित प्रकरण की उपर्युक्त नवीनता से प्रकरण-वक्रता के तृतीय स्वरूप का ज्ञान होता है।

(घ) प्रबन्ध विविध प्रकरणों का संकलित रूप होता है। अतः उन्हें परस्पर उपकार्योपकारकभाव से समायुक्त होना चाहिए। उसकी कथावस्तु का उपस्थापन इस प्रकार होना चाहिए कि उसकी प्रत्येक घटना एक ही कार्य के साथ अपना सामंजस्य रख सके।[2] इसे दूसरे शब्दों में 'कार्यान्वय' (यूनिटी आफ ऐक्शन) की संज्ञा से भी अभिहित किया जा सकता है।

आचार्य कुन्तक ने कार्यान्वय के उदाहरण में 'उत्तर रामचरित' के प्रथम अंक में प्रतिपादित 'चित्रदर्शन' को उपस्थित किया है। इस दृश्य में वर्णित घटनाओं का सामंजस्य नाटक के विविध अंकों में परिलक्षित होता है।

(ङ) कवि की अलौकिक प्रतिभा के प्रभाव से एक सामान्य कथानक उचित विस्तार प्राप्त कर रसयुक्त हो जाता है एवं विविध अवान्तर घटनाओं के सान्निध्य से परिपुष्ट होकर सौन्दर्य सम्पन्न हो जाता है।[3]

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे,
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो,
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति॥[4]

1- भारतीय साहित्यशास्त्र भाग 2 पृ0 418 आचार्य बलदेव उपाध्याय

2- प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धानुबन्धवान्।
उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः परिस्फुरन्।
असामान्यसमुल्लेखप्रतिभाप्रतिभासिनः।
सूते नूतनवक्रत्वरहस्यं कस्यचित् कवेः॥— वक्रोक्तिजीवित, 4/5, 6

3- प्रतिप्रकरणं प्रौढप्रतिभाभोगयोजितः।
एक एवाभिधेयात्मा बध्यमानः पुनः पुनः॥
अन्यूननूतनोल्लेखरसालंकरणोज्ज्वलः।
बध्नाति वक्रतोद्भेदभङ्गीमुत्पादिताद्भुताम्॥— वक्रोक्तिजीवित, 4/7, 8

4- रघुवंश, 9/80

यहाँ मृगयावर्णन रूप सामान्य कथानक के विस्तार में कविवर कालिदास ने वसन्त के आगमन को निर्दिष्ट करने के पश्चात् मृगया का स्वाभाविक चित्रण करते हुए इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि राजा दशरथ को तपस्वी द्वारा प्रदत्त अभिशाप वरदान प्रतीत हो रहा है।

(ख) किसी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति के लिए जहाँ एक प्रकरण में दूसरे प्रकरण को अन्तर्नीहित किया जाता है, वहाँ प्रकरण-वक्रता के एक अन्य स्वरूप की प्राप्ति होती है।[1] कविवर भवभूति द्वारा विरचित उत्तररामचरित के सप्तम अंक में गर्भाङ्क रूप एक प्रकरण में दूसरे प्रकरण को अन्तर्नीहित किया गया है। भगवान् राम तथा भगवती सीता के पुनर्मिलन के प्रतिपादन में यह गर्भाङ्क अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

(6) प्रबन्ध-वक्रता :—

समस्त दृश्य तथा श्रव्य ग्रन्थों की गणना 'प्रबन्ध' के स्वरूप की परिचायिका है। जहाँ कवि का प्रमुख उद्देश्य प्रबन्ध में सौन्दर्य की स्थापना करना होता है, वहाँ प्रबन्ध वक्रता होती है।[2] पूर्वोक्त वक्रताएँ प्रबन्ध-वक्रता का अंग सिद्ध हो जाती हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य इसकी परिपुष्टि करना ही होता है। कवि का चरम लक्ष्य प्रबन्ध-वक्रता के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करना ही होता है। इस प्रकार प्रबन्ध वक्रता का परिक्षेत्र पर्याप्त विस्तृत सिद्ध हो जाता है। इसके अनेक भेदों में कुछ इस प्रकार हैं —

(क) जहाँ मुख्य कथावस्तु के रस को परिवर्तित करके नवीन वैचित्र्यपूर्ण रस का आविर्भाव कर लिया जाता है, जिससे कथा का स्वरूप पूर्णतया रसप्लावित हो जाता है तथा श्रोताओं को विशिष्ट आनन्दानुभूति होती है, वहाँ प्रबन्धवक्रता के स्वरूप की प्राप्ति होती

1- सामाजिकजनाह्लादनिर्माणनिपुणैर्नटैः।
तद्भूमिकां समास्थाय निर्वर्तितनटान्तरम्।
क्वचित् प्रकरणस्यान्तः स्मृतं प्रकरणान्तरम्।
सर्वप्रबन्धसर्वस्वकल्पं पुष्णाति वक्रताम्॥— वक्रोक्तिजीवित, 4/12, 13

2- वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः
उच्यते सहजाहार्य सौकुमार्यमनोहरः॥— वक्रोक्तिजीवित, 1/21

है।[1] आचार्य भट्टनायक द्वारा विरचित 'वेणीसंहार' नामक नाटक महाभारत की मूल कथावस्तु में शान्त रस-प्रधान है, किन्तु यहाँ शान्तरस को परिवर्तित करके वीररस प्रधान बनाया गया है। इसमें पाठक पूर्ण रसानुभूति प्राप्त करते हैं।

(ख) जहाँ प्रबन्ध काव्य के नीरस भाग का परित्याग करके एक सरस भाग का पूर्ण विवेचन किया जाता है, इतिहास का आंशिक आश्रय लिया जाता है एवं नायक की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया जाता है, वहाँ प्रबन्ध वक्रता होती है।[2] महाकवि भारवि द्वारा विरचित 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य में दुर्योधन की समाप्ति तक की कथावस्तु अभीष्ट थी, किन्तु नायक की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करने के लिए उसे पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति तक ही सीमित कर दिया गया है।

(ग) जहाँ नायक कवियों द्वारा अभीप्सित कथानक के एक फल के अतिरिक्त अन्य फलों की भी प्राप्ति कर लेता है, जिससे उसे पर्याप्त यशः प्राप्ति हो जाती है, वहाँ प्रबन्ध-वक्रता होती है।[3] 'नागानन्द' नाटक में नायक जीमूतवाहन अपने पिता की सेवा के उद्देश्य से जंगल के लिए प्रस्थान करता है, किन्तु वहाँ अपने गुणों की कमनीयता से वह मलयवती के साथ विवाह सम्बन्ध भी स्थापित कर लेता है। इसके अतिरिक्त शंख-चूड़ नामक नाग की रक्षा करने के लिए अपने प्राणों को समर्पित करने के लिए भी वह तैयार हो जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप वह पर्याप्त यश का भी स्वामी बन जाता है।

1- इतिवृत्तान्यथावृत्तरसस्थितिमुपेक्षया।
रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्॥
तस्या एव कथामूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः।
विनेयानन्दनिष्पत्त्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता॥— वक्रोक्तिजीवित, 4/16, 17

2- त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा।
इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समापनम्॥
तदुत्तरकथावर्तिविरसत्वजिहासया।
कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रास्य वक्रता॥— वक्रोक्तिजीवित, 4/18, 19

3- यत्रैक फल सम्पत्तिसमुद्युक्तोऽपि नायकः।
फलान्तरेष्वनन्तेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु॥
धत्ते निमित्ततां स्फारयशः संभारभाजनम्।
स्वमाहात्म्यचमत्कारात् सा परा वास्य वक्रता॥— वही, 4/22, 23

(घ) जहाँ किसी विशेष घटना के आधार पर प्रबन्ध का नामकरण किया जाता है, वहाँ प्रबन्ध वक्रता के स्वरूप की प्राप्ति होती है।[1] नायिका शकुन्तला अभिज्ञान के द्वारा पहचानी जाती है, अतः महाकवि कालिदास द्वारा अपने तत्सम्बन्धी नाटक का नाम 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' रखना सर्वथा वैचित्र्यपूर्ण प्रतीत होता है — अभिज्ञानेन ज्ञाता शकुन्तला यस्मिन् — इति अभिज्ञानशाकुन्तलं नाटकम्।

(ङ) जहाँ कवि अपनी प्रतिभा अथवा रुचि से एक ही कथावस्तु को विविध रूपों में प्रतिपादित करते हुए प्रबन्ध में वैचित्र्य भाव को उपस्थित करते हैं, वहाँ प्रबन्ध वक्रता होती है।[2] कथावस्तु का आधार एक होते हुए भी वीरचरित', रामाभ्युदय एवं बालरामायण आदि विविध रूपों में प्रतिपादित किये गये हैं।

इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के प्रमुख छः भेदों का विस्तृत विवेचन किया है। इनमें काव्य के शोभाधायक सभी तत्वों का समावेश हो जाता है। इनके अतिरिक्त वक्रता के अन्य भेदों को भी उपस्थित किया जा सकता है। इनकी कल्पना स्वयं ही कर लेनी चाहिए।[3]

(3) वक्रोक्ति एवं अन्य काव्यशास्त्रीय तत्व :—

आचार्य कुन्तक द्वारा काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित वक्रोक्ति का रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, औचित्य, स्वभावोक्ति एवं चमत्कृति आदि विविध काव्यशास्त्रीय तत्वों के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध है।

(1) वक्रोक्ति और रस :—

आचार्य कुन्तक चमत्कारवादी आचार्य हैं। उनका विशिष्ट चमत्कारवाद सहृदयों के हृदयों को सर्वथा आह्लादित करता है। साम्प्रदायिक आचार्यों की भाँति उन्होंने वक्रोक्ति रूप विशिष्ट तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। अतः अन्य सम्प्रदा-

---

1- आस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यमध्ये कामपि वक्रताम्।
प्रधानसंविधानाङ्कनाम्नापि कुरुते कविः ॥— वक्रोक्तिजीवित, 4/24

2- अप्येककथया क्लृप्ताः काव्यबन्धाः कवीश्वरैः।
पुष्णन्त्यनवधिमन्योन्यवैलक्षण्येन वक्रताम्॥— वही, 4/25

3- एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिताः। शिष्टाश्च सहस्रशः सम्भवन्तीति महाकविप्रवाहे स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयाः ॥— वही, 1/19 की वृत्ति

यिक तत्वों को उन्होंने वक्रोक्ति शैली समाहित करने का प्रयास किया है। इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने रस के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसे वक्रोक्ति के सहायक अंग के रूप में स्वीकार किया है। काव्य के प्रयोजन, लक्षण एवं गुण आदि विविध विषयों के विवेचन में उन्होंने रस के महत्व का प्रतिपादन किया है।

काव्य के प्रयोजन का विवेचन करते हुए आचार्य कुन्तक ने लिखा है कि काव्य के मर्म को समझने वाले सहृदयों के अन्तःकरण में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप फल को भी तिरस्कृत कर देने वाला काव्यामृत का रस अपूर्व आनन्द का प्रतिपादक होता है।[1] यहाँ रसानन्द काव्य का परम प्रयोजन प्रतीत होता है।

काव्य के लक्षण का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है कि वक्र कवि व्यापार से संयुक्त एवं काव्य के मर्म को जानने वाले सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने वाले स्वरूप से युक्त शब्द और अर्थ काव्य हैं।[2] यहाँ काव्य को सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने वाला सिद्ध करना रस के महत्व को स्वीकार करना प्रतीत होता है।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि आचार्य कुन्तक द्वारा विवेचित काव्य का आनन्द रसानन्द की सर्वथा परिपुष्टि करता है एवं काव्यमर्मज्ञ या सहृदय के रसादि तत्व के ज्ञाता होने की परिपुष्टि करता है। सुकुमार मार्ग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि रसादि परम तत्व के ज्ञाता सहृदय के मनोनुकूल होने के कारण यह सुकुमार मार्ग सुन्दर है।[3] इसके अतिरिक्त सौभाग्य गुण के सम्बन्ध में उनका कथन है कि रसप्लावित आत्मा वाले सहृदयों के मन में अलौकिक आनन्द को प्रदान करने वाला तथा सम्पूर्ण सामग्रियों से सम्पन्न होने योग्य काव्य का प्राणभूत वह सौभाग्य नामक गुण कहलाता है।[4]

1- चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ — वक्रोक्तिजीवित, 1/5

2- शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥— वही, 1/7

3- रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः।— वही, 1/26

4- सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम्।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम्॥— वही, 1/56

आचार्य कुन्तक ने विविध प्रकार की वक्रताओं क्रम में प्रबन्ध-वक्रता को सर्वोत्कृष्ट माना है। इस प्रबन्ध वक्रता का भी प्राण रूप उन्होंने रस को स्वीकार करते हुए लिखा है कि कवि की वाणी निरन्तर रसों को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों पर अवलम्बित रहती है, कथामात्र पर नहीं।[1] इसका तात्पर्य यह है कि कथामात्र का प्रतिपादन करने से कोई व्यक्ति कवि का वास्तविक स्वरूप नहीं प्राप्त कर सकता है। कथामात्र पर आश्रित रहने वाली कविवाणी चमत्कार-शून्य एवं निर्जीव प्रतीत होती है, किन्तु निरन्तर सरसता का आश्रय लेकर अवस्थित रहने पर वह वस्तुतः जीवन शक्ति से सम्पृक्त हो जाती है।

आचार्य कुन्तक ने काव्य की वस्तु के विवेचन में भी रस के महत्व को स्वीकार किया है। उन्होंने स्वभाव-प्राधान्य एवं रस-प्राधान्य रूप दो प्रकार की वर्णनीय वस्तुओं में से रस-प्राधान्य वस्तु को ही उत्कृष्ट रूप में स्वीकार किया है। इसी प्रकार चेतन एवं अचेतन रूप दो प्रकार की वस्तुओं में उन्होंने चेतन वस्तु को ही काव्य में प्रश्रय प्रदान करना उचित समझा है, क्योंकि रत्यादि भाव इसी में अक्लिष्ट रूप से परिपुष्ट होकर रसत्व की प्राप्ति करते हैं।[2]

आचार्य कुन्तक ने रस को उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्यों की भाँति वाच्य न मानकर व्यंग्य के रूप में स्वीकार किया है। उद्भट ने रस को कहीं स्व शब्द से अर्थात् शृंगार, हास्य आदि शब्दों से, कहीं स्थायी भावों से, कहीं संचारीभावों से, कहीं विभावों से एवं कहीं अभिनय से वाच्य रूप स्वीकार किया है।[3] इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्तक का अभिमत है कि यदि शृंगार आदि शब्दों से ही रसानुभूति हो जायेगी तो घृत एवं अपूप आदि शब्दों के उच्चारण मात्र से उनके आस्वादन की अनुभूति भी सम्भव हो जायेगी। इसे सर्वथा असम्भव ही कहा जायेगा। ऐसी स्थिति में रसादि को व्यंग्य ही कहा जाना चाहिए, वाच्य नहीं।

1- निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः ।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ।— वक्रोक्तिजीवित, 4/11

2- मुख्यमक्लिष्टरत्यादिपरिपोषमनोहरम्।— वही, 3/7

अक्लिष्टः कदर्थनाविरहितः प्रत्यग्रतमनोहरो यो रत्यादिः स्थायिभावः, तस्य परिपोषः। शृंगारप्रभृतिरसत्वापादनम्, स्वाद्यैव रसो भवेदिति न्यायात्। तेन मनोहरं हृदयहारी।— वही, 3/7 पर वृत्ति

3- रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादि रसोदयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्॥— वही, 4/4

आलंकारिक आचार्यों की मान्यता के अनुसार रस को रसवत् अलंकार का स्थान दिया गया है, जिसे आचार्य कुन्तक ने सर्वथा अनुचित बताया है। उन्होंने उसे अलंकार्य के रूप में स्वीकार किया है। इस कीआलंकारिक मान्यता को अनुचित सिद्ध करने में आचार्य कुन्तक का कथन है कि रस को अलंकार का स्थान देना इसलिए उचित नहीं है कि वहाँ रस के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की अलंकार के रूप में प्रतीति नहीं होती है।[1] यदि रस तत्व की संयोजना से कोई अलंकार सहृदयों को रस के समान आनन्दानुभूति कराने में समर्थ हो तो उसे रसवत् अलंकार की संज्ञा दी जा सकती है, वह अलंकार अन्य अलंकारों का जीवन रूप सिद्ध हो जायेगा।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्तक ने रस को सर्वोपरि मान्यता दी है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि उन्होंने रस को काव्य की आत्मा न कहकर 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' के रूप में वक्रोक्ति को उक्त महत्वपूर्ण पद पर क्यों प्रतिष्ठित किया है? इस जिज्ञासा के परिशमन में यह कहा जा सकता है कि काव्य में रस की सत्ता वक्रोक्ति पर अवलम्बित है: उसके अभाव में रस के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है, जबकि इसके विपरीत वक्रोक्ति सर्वथा स्वतंत्र तत्व है उसे रस के सहयोग की सर्वथा आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने रस के आधार रूप वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। वस्तुतः रस और वक्रोक्ति का महत्वपूर्ण सम्बन्ध है।

(2) वक्रोक्ति और अलंकार :—

सामान्यतया वक्रोक्ति और अलंकार को एक ही कोटि में परिगणित किया जा सकता है, क्योंकि वक्रोक्ति-सिद्धान्त अलंकार सिद्धान्त का रूपान्तर प्रतीत होता है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के स्वरूप का विवेचन करते समय बताया है कि शब्दार्थ को अलंकार्य मान-

---

1- अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतेरपि।— वक्रोक्तिजीवित, 3/11

2- यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते॥— वही, 3/14

कर वैदग्ध्य भङ्गी भणिति रूप वक्रोक्ति को उनका अलंकार माना जा सकता है।[1] आचार्य कुन्तक की इस भावना को डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने इस प्रकार व्यक्त किया है —

"कुन्तक ने जिसे वक्रता कहा उसे ही वैदग्ध्य भङ्गीभणिति, वैचित्र्य और विच्छित्ति भी कहा। इन शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि उन्होंने काव्य-भाषा को साधारण भाषा से पृथक् करके देखा केवल अलंकार-जनित चमत्कार को नहीं, बल्कि काव्य के समस्त संगठन में व्याप्त वैचित्र्य को चमत्कार माना और उसी में सौन्दर्य भी स्वीकार किया। इस सौन्दर्य का प्रभाव भी अलंकारवादियों के द्वारा उपस्थापित काव्य-प्रयोजन से भिन्न तथा रसवादियों के अनुकूल आल्हाद बताया गया। यह आल्हाद भी साधारण नहीं बल्कि पारलौकिक या आध्यात्मिक आल्हाद के समान होता है, जिसे जानने वाला ही जानता है।"[2]

वक्रोक्ति तथा अलंकार में पर्याप्त समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। दोनों में काव्य-सौन्दर्य मूलतः वस्तुगत माना गया है जो कवि-कौशल पर आधारित है। दोनों में वर्ण-सौन्दर्य से लेकर प्रबन्ध-सौन्दर्य तक वैचित्र्य का ही साम्राज्य प्रतीत होता है। अलंकार-सम्प्रदाय में यह चमत्कार अलंकार रूप है तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त में अलंकार्य रूप। दोनों सिद्धान्तों में रस आदि को कथन का ही एक रूप माना गया है।

इस प्रकार वक्रोक्ति और अलंकार की उपर्युक्त समानताओं के आधार पर उनके एकत्व का औचित्य सिद्ध हो जाता है, किन्तु समानताओं के साथ ही साथ उनमें कुछ ऐसी विषमताएँ भी हैं, जो उनके एकत्व की भावना को सर्वथा समाप्त कर देती हैं। वक्रोक्ति का कार्य-क्षेत्र अलंकार से अधिक व्यापक है। वक्रता के अनेक रूप यदि अलंकाररूप सिद्ध होते हैं तो अनेक रूप अलंकार की परिधि में समाविष्ट नहीं हो पाते। वक्रोक्ति सिद्धान्त में रस को परम तत्व मानकर रसवत् को अलंकार्य कहा गया है, इसके विपरीत अलंकार-सिद्धान्त में उसे एक सामान्य अलंकार की मान्यता दी गयी है। वक्रोक्ति सिद्धान्त में स्वभावोक्ति को अलंकार्य रूप एक उत्कृष्ट स्वरूप प्रदान किया गया है, इसके विपरीत सिद्धान्त में उसे एक सामान्य अलंकार के रूप में ही परिगणित किया गया है। वक्रोक्ति का चमत्कार काव्य के अन्तर्मन की उद्भावना करता है, इसके विपरीत आलंकारिक चमत्कार काव्य के बाह्य स्वरूप को ही प्रकाशित करता है।

---

1. उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥ — वक्रोक्तिजीवित, 1/10

2. काव्यशास्त्र, पृ0 55 सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी॥

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति और अलंकार में पर्याप्त समानता होने पर भी उन्हें पूर्णतया एकत्व की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। वक्रोक्ति सिद्धान्त अलंकार सिद्धान्त की अपेक्षा व्यापक तथा श्रेष्ठ है। दोनों सिद्धान्तों की समानता और असमानता के प्रतिपादन में डा0 आनन्दप्रकाश दीक्षित की निम्नलिखित पंक्तियाँ युक्ति युक्त प्रतीत होती हैं —

"वक्रोक्ति सिद्धान्त अलंकार सिद्धान्त का ही विकास सा है। दोनों का आधार कल्पना है, यह बात और है कि अलंकार का आधार चमत्कारमूलक कल्पना है और वक्रोक्ति का आधार कवि प्रतिभा नामवाली मौलिक कल्पना। इसी तरह शब्द स्थापना तो वक्रोक्ति में है, किन्तु उसका क्षेत्र वर्ण-चमत्कार, शब्द-सौन्दर्य, विषय-वस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत विधान और प्रबन्ध-कल्पना से लेकर अलंकार रीति, ध्वनि, और रस तक होने के कारण अति विस्तीर्ण है और वह कवि कल्पना के अनेक रूप उद्घाटित करती है। अलंकार सिद्धान्त के अन्तर्गत ये सब बातें ग्रहण ही नहीं की गयी और की भी गयीं तो उनको शब्द स्थापना और उक्ति वैचित्र्य के सामने उपेक्षित कर दिया गया। इसके विपरीत कुन्तक ने काव्य वस्तु की स्वभाव-रमणीयता के प्रति विश्वास प्रकट किया और उसकी अभिव्यक्ति में सहज-आगत वक्रोक्ति को माना। उनकी स्थापना यह नहीं थी कि वस्तु कैसी भी हो, उसे अलंकृत करके काव्योचित का रूप दिया जा सकता है, बल्कि उनका मत यह था कि काव्य वस्तु स्वभावतः ऐसी हो, जो सहृदय आल्हाद में समर्थ हो। यदि वस्तु वैसी हो तो उक्ति स्वयं तदनुकूल रमणीय रूप में उपस्थित होगी। फिर भी इस रमणीयता का उद्घाटन कोई प्रतिभाशाली ही कर सकता है, जन सामान्य नहीं। प्रतिभा के अभाव में केवल शब्द-सौन्दर्य या वक्रता कथनीय वस्तु में सौन्दर्य नहीं ला सकती। यही नहीं, यदि कथनीय वस्तु अपने आपमें पर्याप्त समृद्ध है तो भी कवयिता के प्रतिभाशाली न होने पर समर्थ शब्द के प्रयोग के अभाव में वह भी चमत्कारी नहीं बन सकता। तात्पर्य यह है कि शब्द तथा अर्थ की सौन्दर्य-प्रणाली और विषय वस्तु दोनों को ही कुन्तक ने समभाव से परस्पर स्पर्धी रूप में महत्व दिया और उनके नियोजन के लिए उन्होंने कवि व्यापार को आधार स्वरूप ग्रहण किया।"[1]

1- काव्यशास्त्र, पृ0 54-55 सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

(3) वक्रोक्ति और रीति-गुण :—

आचार्य कुन्तक ने रीति को वक्रोक्ति के अंग रूप में स्वीकार किया है, जबकि रीति-सम्प्रदाय के आचार्यों ने उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। वक्रोक्तिजीवित-कार द्वारा 'रीति' के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया गया है उन्होंने काव्यशास्त्रीय परि-क्षेत्र में प्रचलित वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रूप रीतियों के लिए क्रमशः सुकुमार-मार्ग, विचित्र-मार्ग एवं मध्यम-मार्ग नामक संज्ञाओं की अवतारणा की है। इन मार्गों की अवतारणा उन्होंने पूर्व प्रचलित भौगोलिक आधार पर आधारित रीतियों को अवैज्ञानिक समझकर कवि-स्वभाव को आधार मानकर की थी। कवि-स्वभाव की संख्या का आनन्त्य ज्ञात होने पर भी उन्होंने तीन मार्गों को ही स्वीकार किया है। इस प्रकार आचार्य कुन्तक द्वारा निर्धारित रीति की नीति सर्वथा प्रशंसनीय सिद्ध होती है।

इसी सन्दर्भ में आचार्य कुन्तक ने वामन आदि अन्य आचार्यों की भाँति गुणों की भी मौलिक कल्पना प्रस्तुत की है। वामन आदि आचार्यों ने गुणों को रीतियों का आधार सिद्ध करते हुए उनकी संख्या बीस बताया है। इसी प्रकार आचार्य कुन्तक ने भी कवि स्व-भाव को मार्ग या रीति का आधार बताकर उनके साथ गुणों के सम्बन्ध की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने सामान्य तथा विशेष के रूप में गुणों को दो भेदों में विभाजित किया है। इनमें से सामान्य के अन्तर्गत औचित्य और सौभाग्य को प्रतिष्ठित किया गया है तथा विशेष के अन्तर्गत माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य को परिगणित किया गया है। इनमें से सामान्य गुणों का सम्बन्ध प्रत्येक मार्ग से होता है, किन्तु विशेष गुण प्रत्येक मार्ग में पृथक्-पृथक् रूप में प्रतिपादित किए जाते हैं।

वामन आदि आचार्यों ने रीतियों के पारस्परिक महत्व का विश्लेषण करते हुए बताया था कि सम्पूर्ण गुणों से विभूषित वैदर्भी रीति सर्वश्रेष्ठ होती है एवं गौडी रीति निकृष्ट। इसके विपरीत आचार्य कुन्तक ने सभी मार्गों के गुणों की समानता को स्वीकार करते हुए सभी मार्गों को समान रूप से स्वीकरणीय बताया है।

आचार्य कुन्तक द्वारा काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित वक्रोक्ति तत्व रीति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। रीति का क्षेत्र मात्र पदों की संघटना तक सीमित है, जिसका समावेश वक्रोक्ति के वर्ण-वक्रता, प्रकृति-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता एवं वाक्य-वक्रता रूप अवयवों में ही हो जाता है। वक्रोक्ति के अवशिष्ट प्रकरण-वक्रता एवं प्रबन्ध-वक्रता रूप महत्त्वपूर्ण अंगों, जिनसे रसानुभूति की प्रतीति होती है, की समानता के अभाव में रीति का स्थान वक्रोक्ति की अपेक्षा निम्न निश्चित हो जाता है।

(4) वक्रोक्ति और ध्वनि :—

वक्रोक्ति और ध्वनि की समानता एवं असमानता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए दोनों ही तत्वों की वस्तुस्थिति को समझना अत्यावश्यक होगा। काव्य की आत्मा के रूप में प्रस्तावित तत्वों का खण्डन करने वाले अन्य आचार्यों की भांति आचार्य कुन्तक ने आनन्दवर्द्धनाचार्य द्वारा प्रस्तावित ध्वनि तत्व के विरोध में उक्त 'वक्रोक्ति' नामक नवीन तत्व की उद्भावना की। इस प्रकार काव्यशास्त्रीय इतिहास में उक्त नूतन तत्व की उद्भावना द्वारा उन्हें पर्याप्त महत्व अवश्य प्राप्त हुआ, किन्तु वे ध्वनि का पूर्णतः खण्डन नहीं कर सके। इस सम्बन्धमें डा0 राममूर्ति त्रिपाठी का निम्नलिखित कथन सर्वथा ध्यातव्य है —

"ध्वनि-सम्प्रदाय का उद्भव कुन्तक से पूर्व हो चुका था और वह इतना सशक्त तथा समादरणीय पक्ष है कि कुन्तक उसके विरोध में वक्रोक्ति को काव्यजीवित कहकर भी ध्वनि या व्यंजकता का खण्डन न कर सके। एक नहीं अनेक स्थलों पर उन्होंने ध्वनि, प्रतीयमान तथा व्यंजना की चर्चा की है। अतः वक्रता की परिधि में उन्होंने ध्वनि के महत्व को स्पष्टतः स्वीकार किया है। इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ ध्वनिवादी सौन्दर्य एवं व्यंजकता में अविच्छेद्य और अनिवार्य सम्बन्धमानते हैं वहाँ कुन्तक सौन्दर्य और वक्रता में।"[1]

वक्रोक्ति एवं ध्वनि दोनोंमें समानता और असमानता की समान प्राप्ति होती है। आचार्य कुन्तक के अनुसार प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा को वक्रोक्ति कहते हैं। आचार्य आनन्दवर्द्धनाचार्य के अनुसार जहाँ वाच्य अर्थस्वयं को एवं वाचक शब्द स्वयं को एवं अपने अर्थ को गौण बनाकर वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वहाँ ध्वनि काव्य होता है।[2] इन दोनों ही अर्थों में लोकप्रसिद्ध शब्दार्थ का अतिक्रमण बतलाया गया है। दोनों में 'वैचित्र्य' को सर्वथा आवश्यक बताया गया है। इसे आचार्य कुन्तक ने अभिधा व्यापार के रूप मेंस्वीकार किया है एवं ध्वन्यालोककार ने व्यंजना व्यापार के रूप में। इस वैचित्र्य की प्राप्ति के लिए दोनों सिद्धान्तों के प्रतिपादक आचार्यों द्वारा कवि में अलौकिक प्रतिभा का होना आवश्यक बताया गया है।

1- भारतीय काव्यशास्त्र, पृ0, 27 सम्पादक डा0 उदयभानु सिंह

2- यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

ध्वन्यालोक, 1/13

जिस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य ने प्रबन्ध के सूक्ष्मतम अंश वर्ण आदि से लेकर अतिव्यापक प्रबन्ध तक में ध्वनि की सत्ता को स्वीकार किया है, उसी प्रकार आचार्य कुन्तक ने भी वर्णवक्रता से लेकर प्रबन्धवक्रता तक सभी अंशों में वक्रता को स्वीकार किया है। जिस प्रकार ध्वन्यालोककार ने सुप्, तिङ्, वचन, कारक, कृत्, तद्धित, समास, उपसर्ग, निपात, एवं काल आदि सभी को ध्वनि का चमत्कार माना है, उसी प्रकार आचार्य कुन्तक ने सभी में वक्रता के वैचित्र्य को स्वीकार किया है। इसी प्रकार ध्वन्यालोक के उदाहरणों को वक्रोक्ति जीवित में अवतरित करके ध्वनि के समान उन्हें वक्रोक्ति के विवेचन में भी सार्थक बनाया गया है। उदाहरणार्थ— वक्रोक्तिजीवितकार ने ध्वन्यालोकके अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि के उदाहरण को अपने उपचारवक्रता की परिपुष्टि हेतु अवतरित किया है।[2] पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता की पर्याय-वक्रता पर्यायध्वनि का ही रूपान्तर है, इसे आचार्य कुन्तक ने स्वयं स्वीकार किया है।[3]

आचार्य कुन्तक ने ध्वनि सिद्धान्त के प्रतीयमान अर्थ को सर्वथा स्वीकार किया है। अपनी इस स्वीकारोक्ति के सम्बन्ध में उनका कथन है कि जहाँ वाच्य वाचक वृत्ति से पृथक् किसी वाक्यार्थ की प्रतीयमानता की प्रतीति होती है, वहाँ विचित्र मार्ग होता है।[4] वाच्य तथा प्रतीयमान रूप में अलंकारों को दो भागों में विभाजित करके भी वक्रोक्तिकार ने प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार किया है। वक्रोक्तिजीवितकार के अनुसार प्रतीयमान अलंकार वाच्य न होकर व्यंग्य होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन द्वारा वक्रोक्ति एवं ध्वनि की पर्याप्त समानता का ज्ञान होता है, किन्तु इस समानता के साथ ही साथ उनमें किंचिद् असमानताओं के भी दर्शन होते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रतिपादित ध्वनि-तत्व व्यंजनावृत्ति से व्यंजित होता है, इसके विपरीत आचार्य कुन्तक द्वारा प्रस्तावित वक्रोक्ति तत्व अभिधावृत्ति से वाच्य होता

1- सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥— वक्रोक्तिजीवित, 3/16

च शब्दात् निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते।— वक्रोक्तिजीवित, 3/16 वृत्ति

2- गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ।— ध्वन्यालोक, पृ0 182

3- एष एव शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य पदध्वनेर्विषयः । वक्रोक्तिजीवित, 1/40

4- प्रतीयमानता च वाक्यार्थस्य विवक्ष्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्।— वही, 1/40

है । आचार्य कुन्तक द्वारा मान्यता प्राप्तवाचक शब्द व्यंजकत्व और व्यंजक अर्थ को भी अन्तर्निहित कर लेता है। द्योत्य और व्यंग्य दोनों अर्थों के प्रत्येय अर्थात् ज्ञेय होने से उप-चार की समानता से वे भी वाच्य हैं तथा द्योतक औरव्यंजक शब्द भी वाचक है।[1]

इस प्रकार वक्रोक्तिऔर ध्वनि की समानता एवं असमानता का विशिष्ट विश्ले-षण करने के पश्चात् आचार्य कुन्तक की उदारवादी भावना का प्रस्फुट परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने ध्वनि की महत्ता को सर्वथास्वीकार किया है, किन्तु अपने वैशिष्ट्य के प्रदर्शन-हेतु उन्हें उसे वक्रोक्ति में अन्तर्भुक्त अवश्य करना पड़ा है। ध्वनि की अपेक्षा वक्रोक्ति का प्रद-र्शन करते हुए डा0 आनन्द प्रकाश दीक्षित ने लिखा है कि ——

"कुन्तक को अपने पूर्ववर्ती समस्त सिद्धान्तों को समझने परखने और उनसे लाभ उठाते हुए उनके प्रकाश में सार-पूर्ण बात कहने का अवसर मिला था, इसलिए उन्होंने कहीं अलंकारवादियों से शब्दावली, , कहीं रस तथा ध्वनिवादियों से तत्व ग्रहण किए और विचार की दिशा में आगे बढ़ गये। उनसे पूर्व आनन्दवर्धन ने बड़ी मार्मिकता और गहराई से काव्य सम्बन्धी अनेक प्रश्नों पर विचार किया था। ध्वनि सिद्धान्त की स्वीकृति में उन्होंने भी नितान्त व्यापक दृष्टिकोण से काम लिया था, किन्तु उनकी व्यापकता रस के साथ अलं-कार तथा वस्तु को भी मान्यता देने में दिखायी देती है। और कुन्तक की व्यापकता इस बात में है कि उन्होंने काव्य के अंग प्रत्यंग से सम्बन्धित करके अपने सिद्धान्त को सामने रखा।"[2]

इसी प्रकार आचार्य बलदेव उपाध्याय की निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्वनि की अपेक्षा वक्रोक्ति के वैशिष्ट्य का विवेचन करने में सर्वथा युक्ति-युक्त प्रतीत होती हैं ——

"कुन्तक विदग्ध आलोचक थे, उनकी वक्रोक्ति सचमुच काव्य का एक उदात्त तथा व्यापक सिद्धान्त है और इसीलिए उन्होंने ध्वनि को इसके अन्तर्गत मानकर अपनी उदा-रता का परिचय दिया है। यह हो नहीं सकता कि आनन्द के अर्वाचीन आलंकारिक उनके ध्वनि मत को आँख मूँदकर पी जाय। या तो वह खण्डन कर अपने मत की युक्तिमत्ता दिखलायेगा अथवा परम्परया मान्य तत्वों में उसका अन्तर्भाव दिखलायेगा। इनमें प्रथम पक्ष का महिम भट्ट और दूसरा का कुन्तक था। इसमें कुन्तक ही विशेष सफल तथा कृतकार्य हुए हैं। उनकी सफलता का सबसे अधिक प्रमाण यही है कि यद्यपि उनकी 'वक्रोक्ति' को

1- यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात् तौ(द्योतकव्यंजकौ)अपि वाचकावेव।एवं द्योत्यव्यं-ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यात् उपचारात् वाच्यत्वमेव॥— वक्रोक्तिजीवित 1/8 की वृत्ति

2- काव्याङ्कुर, पृ0 56 सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

वक्रोक्तिरूप से ध्वनिमतानुयायी आलोचकों ने अवश्य ही ग्रहण नहीं किया तो भी वक्रोक्ति के अनेकप्रकारों को उन लोगों ने ध्वनि के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है। यह कुन्तक की आलोचनाशक्ति का डिण्डिम घोष है।"[1]

(5) वक्रोक्ति और औचित्य :—

आचार्य कुन्तक द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति सिद्धान्त का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। रस, अलंकार, रीति एवं ध्वनि आदि अन्य काव्यात्मीय तत्वों की भाँति औचित्य तत्व के साथ भी उसका प्रकृष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। वक्रोक्तिजीवितकार द्वारा काव्य के लक्षण से लेकर प्रबन्ध वक्रता तक औचित्य को वक्रता का प्राण स्वीकार किया गया है।[2] इस स्वीकारोक्ति में कुछ स्थानों पर वक्रता ने औचित्य का स्वरूप ग्रहण कर लिया है।[3] काव्य के सभी मार्गों में औचित्य की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया गया है। उसके सामान्य अभाव में भी काव्य सहृदयों को आल्हादित करने में सर्वथा असमर्थ हो जायेगा।[4] इस प्रकार इस तथ्य का सर्वथा स्पष्टीकरण हो जाता है कि आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के साथ ही साथ औचित्य के महत्व को भी निर्विवाद रूप में स्वीकार किया है। उनकी उक्त रमणीय भावना की परिपुष्टि इस तथ्य से और भी हो जाती है कि उनकी मान्यता के अनुसार जिस प्रकार काव्य के प्रत्येक अंग में पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, क्रिया, कारक, लिंग एवं वचन आदि में वक्रता का समावेश सर्वथा अवश्यक है, उसी प्रकार काव्य के उक्त प्रत्येक अंग मेंऔचित्य की उपस्थिति भी परमावश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन-कार्य के पश्चात् एक स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि आचार्य कुन्तक ने औचित्य को वक्रोक्ति का प्राण कहकर भी उसे काव्य की आत्मा न स्वीकार करके वक्रोक्ति को ही उक्त महत्वपूर्ण पद पर क्यों प्रतिष्ठित किया? इस जिज्ञासा के परिशमन-हेतु यह कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्तक ने औचित्य को वक्रोक्ति का आधार मानकर उसके पार्थक्य का प्रतिपादन किया है। इससे यह भी निश्चित हो जाता है कि उनकी मान्यता के अनुसार वक्रोक्ति औरऔचित्य पृथक-पृथक तत्व हैं। वक्रोक्ति वस्तुनिष्ठ होने के कारण काव्य के अंगों से सर्वथा सम्बद्ध है, इसके विपरीत औचित्य विवेक-संयुक्त होने के

1- भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ0 325 आचार्य बलदेव प्रसाद उपाध्याय
2- तत्पदस्य तावदौचित्यं बहुविधभेदभिन्नो वक्रभावः।— वक्रोक्तिजीवित, 1/50 की वृत्ति
3- आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते। प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्॥—
वही, 1/53
4- उचिताभिधानजीवितत्वात् वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः।
वही, 1/57की वृत्ति

कारण रसादि के अधिक सन्निकट है। इस प्रकार काव्य के प्राण रूप रस के अधिक सन्निकट होने के कारण औचित्य वक्रोक्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट सिद्ध हो जाता है, किन्तु 'भिन्न रुचि-र्हि लोकः' के अनुसार आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा का पद प्रदान किया है।

(6) वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति :—

सामान्यतया जहाँ वर्णनीय वस्तु के स्वभाव, रूप एवं प्रकार आदि का अनुरूप वर्णन किया जाता है, वहाँ स्वभावोक्ति का कार्य-क्षेत्र होता है एवं जहाँ विशिष्ट वर्णन-प्रणाली द्वारा किसी वस्तु का वर्णन किया जाता है वहाँ वक्रोक्ति की स्वीकारोक्ति होती है। वक्रोक्ति के साथ स्वभावोक्ति के सम्बन्ध को समझने के लिए स्वभावोक्ति के स्वरूप का ज्ञान होना सर्वथा आवश्यक सिद्ध होगा।

स्वभावोक्ति रूप अलंकार तत्व की प्राप्ति सर्वप्रथम आचार्य भामह द्वारा विरचित 'काव्यालंकार' नामक आलंकारिक ग्रन्थ में होती है। उसके अनुसार किसी भी वस्तु के स्वभाव का तदनुकूल वर्णन कर देना स्वभावोक्ति कहलाती है।[1] स्वभावोक्ति का यह लक्षण आचार्य भामह द्वारा नहीं विरचित किया गया, वरन् यह कुछ अज्ञात आचार्यों की मान्यता का प्रतिफल है। स्वभावोक्ति का जो उदाहरण आचार्य भामह द्वारा प्रस्तुत किया गया है, उसे वार्ता मात्र कहा जायेगा।[2] 'कोऽलंकारोऽनया विना—' इस मान्यता के अनुसार यह निश्चित हो जाता है कि आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को अलंकारों का आधार स्वीकार किया है।

आचार्य दण्डी ने स्वभावोक्ति को प्रथम अलंकार की मान्यता प्रदान करते हुए बताया है कि विविध पदार्थों को उसी रूप में प्रस्तुत करना स्वभावोक्ति या जाति अलंकार कहलाता है।[3] उन्होंने वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति के एकत्व को अथवा एक में दूसरे के समाविष्ट हो जाने की भावना को सर्वथा अस्वीकार करते हुए सम्पूर्ण वाङ्मय को स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति रूप दो वर्गों में विभक्त करके उनके पार्थक्य को स्वीकार किया है।

1- स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित् प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥— काव्यालंकार, 2/93 भामह

2- गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं? वार्तामेनां प्रचक्षते॥— वही, 2/87

3- नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥— काव्यादर्श, 2/8 दण्डी

आचार्य उद्भट ने अपने व्यापार में संलग्न मृगशावक आदि के हेवाक अर्थात अपनी जाति के अनुसार लीला विशेष के वर्णन को स्वभावोक्ति का लक्षण बताया है।[1]

आचार्य वामन ने स्वभावोक्ति को अलंकार न स्वीकार करके उसे अर्थव्यक्ति नामक अर्थगुण में अन्तर्भावित कर दिया है।[2] दण्डी का अर्थव्यक्ति गुण, जिसमें अर्थ का अनेयत्व रहता है,[3] अपने अन्दर स्वभावोक्ति को अन्तर्भावित नहीं कर सकता, किन्तु आचार्य वामन का वस्तु स्वभाव स्फुटत्वरूप अर्थव्यक्तिगुण स्वभावोक्ति को अपने अन्दर अन्तर्भावित करने में सर्वथा समर्थ प्रतीत होता है।

आचार्य भोज ने अलंकारों को तीन वर्गों में विभाजित कि करके स्वभावोक्ति के महत्व का प्रतिपादन किया है।[4]

आचार्य रूद्रट ने वस्तु के पुष्टार्थ, रमणीयार्थ, अविपरीत, निरुपम, अनतिशय एवं अश्लेष रूप कथन को वास्तव की संज्ञा से अभिहित किया है।[5] इस वास्तव में वस्तुगत सौन्दर्य का वर्णन कल्पनात्मक अप्रस्तुत विधान के बिना ही पदार्थ के स्वाभाविक गुणों का वर्णन है। उन्होंने वास्तवमूलक तेरह अलंकारों में जाति नामक अलंकार को स्वभावोक्ति की संज्ञा दी है। जिस पदार्थ का जैसा संस्थान, अवस्थान, क्रिया आदि होता है, उसका उसी रूप में वर्णन प्रस्तुत करना 'जाति' अलंकार कहलायेगा।[6] इसी सन्दर्भ में आचार्य रूद्रट द्वारा विरचित 'काव्यालंकार' के टीकाकार आचार्य नमिसाधु ने लिखा है कि 'वास्तव' का

1- क्रियायां सम्प्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम्। काव्यालंकारसारसंग्रह, 3/5
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता॥

2- वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। — काव्यालंकारसूत्रवृत्ति। 3/2/14

3- अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य। काव्यादर्श, 1/73

4- वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।— सरस्वतीकण्ठाभरण5/9

5- वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमश्लेषम्। काव्यालंकार, 7/100 रूद्रट

6- संस्थानावस्थानक्रियादि यद् यस्य यादृशं भवति।
लोके चिरप्रसिद्धं तत् कथनमनन्यथा जातिः॥—काव्यालंकार 7/30 रूद्रट

वस्तुस्वरूप कथन उसके सभी भेदों में प्राप्त होता है, किन्तु जाति में एक ऐसा सजीव वर्णन होता है जो पाठक या श्रोता के हृदय में विशेषानुभूति के अनुभव को उद्भूत कर देता है।[1]

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति सम्बन्धी पर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं का आश्रय लेकर पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वभावोक्ति को अलंकार सिद्ध करने वाले आचार्यों की मान्यताओं का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है। उनका कथन है कि स्वभाव का वर्णन होने वाली स्वभावोक्ति को यदि सामान्य अलंकार स्वीकार कर लिया जायेगा, जो काव्य का शरीर होने के कारण अलंकार्य की संज्ञा से विभूषित है, तो उस स्वभाव-वर्णन से भिन्न काव्य शरीर का स्थानीय कौन सी ऐसी वस्तु है जो अलंकार्य सिद्ध हो सकेगी।[2] इस सन्दर्भ में स्वभावोक्ति को अलंकार मानने वाले आचार्य यह कहें कि जिस प्रकार आप अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं मानते उसी प्रकार हम लोग भी नहीं मानते तो आचार्य कुन्तक का इसके प्रत्युत्तर में कथन है कि पारमार्थिक दृष्टि से अलंकार और अलंकार्य में भेद न होने पर भी जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र में 'वर्णपदन्याय' से प्रकृति, प्रत्यय आदि की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार अपोद्धार बुद्धि से व्यवहार में अलंकार तथा अलंकार्य का भेद भी किया जाता है।[3] स्वभावोक्ति को अलंकार मान लेने पर उससे भिन्न कोई अलंकार्य हो सकता है, किन्तु स्वरूप कथन के अभाव में वस्तु का वर्णन ही असम्भव[4] हो जायेगा, क्योंकि स्वभाव[5] से रहित वस्तु आकाश-कुसुम की भाँति निरुपाख्य हो जाती है। स्वभाव की व्युत्पत्ति के अनुसार स्वाभाविक कथन से भिन्न वस्तु शशविषाण की भाँति अविद्यमान होने से स्वभावोक्ति अलंकार के अतिरिक्त उसका अलंकार्य भी विद्यमान न हो सकेगा।[6]

इस प्रकार जब स्वभाव-कथन काव्य-शरीर का स्थानीय है और वह शरीर ही यदि स्वभावोक्ति अलंकार हो जायेगा तो वह किस अलंकार्य को अलंकृत करेगा। एक ही तत्त्व अलंकार और अलंकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि संसार में कोई व्यक्ति अपने कन्धों पर स्वयं नहीं आरूढ़ होता है।[7]

1- यावत्सर्वं हि वस्तुस्वरूपकथनम्। तच्च सर्वेष्वपि तद्भेदेषु सहोक्त्यादिषु स्थितम्। जातिस्तु अनुभवं जनयति यत्र परस्य स्वरूपं वर्ण्यमानमेव अनुभवमितीवेति इति स्थितम्।। — काव्यालंकार 7/30 रुद्रट पर नमिसाधु की टीका

2- अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते।। — वक्रोक्तिजीवित, 1/11

3- अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता।। — वही, 1/6

इसके अतिरिक्त 'तुष्यतुदुर्जनन्याय' से स्वभावोक्ति को अलंकार मान लेने पर सभी जगह संसृष्टि और संकर का आधिपत्य हो जाने के कारण शुद्ध उपमादि का विषय अवशिष्ट न रह जाने से उनका लक्षण प्रतिपादित करना व्यर्थ हो जायेगा।[1]

इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने अपने उत्कृष्ट प्रयास से स्वभावोक्ति को अलंकार्य के रूप में संस्थापित किया, किन्तु ऐसी स्थिति पर भी महिमभट्ट नामक काव्याचार्य ने उनके उस प्रयास को व्यर्थ सिद्ध करने की भावना का प्रतिपादन किया है। उन्होंने सामान्य और विशिष्ट रूप में दो प्रकार की वस्तुओं का विभाजन करते हुए बताया है कि वस्तु का सामान्य रूप जनसामान्य का विषय होता है एवं विशिष्ट रूप प्रतिभाशाली कवियों का आविष्कारिक क्षेत्र होता है।[2] वस्तु का विशिष्ट रूप कवि-प्रतिभा का संसर्ग प्राप्त कर प्रत्यक्ष की भाँति दृष्टिगोचर होता हुआ अलंकार के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[3] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वक्रोक्ति जीवितकार ने वस्तु के विशिष्ट रूप को न देखकर मात्र सामान्य रूप को ही देखने का प्रयास किया है।[4] आचार्य महिमभट्ट के पश्चात् मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ एवं विश्वनाथ आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी स्वभावोक्ति को सामान्य अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

4- स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते॥ — वक्रोक्तिजीवित, 1/12

5- भवतः अस्मात् अभिधानप्रत्ययौ यौ इति भावः स्वस्य आत्मनोभावः स्वभावः।
वही, 1/12 की वृत्ति

6- वक्रोक्तिजीवित, 1/12 की वृत्ति

7- शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुते परम्।
आत्मनैवात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति॥ — वही, 1/13

1- भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे। भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा।
स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे संकरस्ततः। अलंकारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते।
— काव्यालंकार, 1/14, 15 रुद्रट

2- कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलंकारत्वमिष्यते। नहि स्वभावमात्रोक्तौ विशेषः कश्चनानयोः।
उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते। तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः।
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः। अत एवाभिधेयं ते श्यामलं बोधयन्त्यलम्॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः। स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥
— व्यक्तिविवेक, 2/113, 16 महिमभट्ट

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भामह एवं कुन्तक आदि आचार्यों का एक सामान्य वर्ग स्वभावोक्ति को अलंकार्य के रूप में स्वीकार करता है, किन्तु इसके विपरीत आचार्यों का एक विशिष्ट वर्ग उसे सामान्य अलंकार की कोटि में परिगणित करता है।

(4) पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति :——

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास में वक्रोक्ति' के स्वरूप का पूर्ण विवेचन प्राप्त होता है। पाश्चात्य काव्याचार्यों ने काव्य तथा नाटक में उसकी प्रायोगिक स्थिति को सर्वथा आवश्यक बताया है। पाश्चात्य विचारक अरस्तू(Aristotle) ने वक्रोक्ति के स्वरूप का संकेत करते हुए बताया है कि अपरिचित शब्दों के प्रयोग करने से काव्यरीति विशिष्ट और कौशलपूर्ण हो जाती है।[1]

इसीप्रकार रेटारिक (Rhetoric)नामक अपने ग्रन्थ में वक्रोक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है कि जो वस्तु साधारण प्रकार से विचित्र होती है, लोकव्यवहार से पृथक् होती है, उसकी हम प्रशंसा करते हैं। आश्चर्य उत्पन्न करने वाली वस्तु में हम आनन्द की अनुभूति करते हैं —— साधारण जीवन से पृथक् होने वाली वस्तुओं तथा व्यक्तियों के विषय में एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है।[2]

लॉन्जाइनस नामक पाश्चात्य समालोचक ने अरस्तू की ही भाँति वक्रोक्ति के सामान्य स्वरूप का संकेत करते हुए लिखा है कि जो वस्तु साधारण से विलक्षण होती है, अलौकिक होती है वह श्रोताओं के मस्तिष्क को ही अनुकूल तथा वश नहीं बनाती, अपितु उन्हें आह्लादित कर आनन्दमग्न कर देती है।[3]

---

1. The Diction becomes distinguished and non-prosaic by the use of unfamiliar terms, i.e. strange words, metaphors lengthened forms, and everything that deviates from the ordinary modes of speech.
   —— Poetics Sec.22 Page.75-
2. The reason is that such variation imparts greater dignity to style; for the people have the same feeling about style as about foreigners in comparison with their fellow citizens — they admire most what they know least --- we all admire any thing which is out of the way, and there is a certain pleasure in the object of wonder.
   —— Rhetoric III 2 (Welldon's translation Page 229)
3. For what is out of the common leads an audience, not to pursuasion, but to ecstasy (or transport)
   Longinus.

एडिसन (Addison)नामक पाश्चात्य काव्याचार्य के अनुसार जो शब्द रोजमर्रे के व्यवहार में, बातचीत में अक्सर आते हैं वे हमारे कानों के लिए सुपरिचित होते हैं और सामान्य लोगों की वाणी में रहने के कारण उनमें एक प्रकार की क्षुद्रता का भाव उत्पन्न हो जाता है। अतः कवि को सामान्य शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[1] एडिसन महोदय के इस कथन में वक्रोक्ति की भावना अन्तर्निहित है।

आचार्य कुन्तक द्वारा काव्यात्मा के रूप में प्रतिपादित 'वक्रोक्ति' तत्व के साथ पाश्चात्य काव्याचार्य बेनेडेत्तो क्रोचे (Benedetto Croce)ने अपने अभिव्यंजनावाद की समानता का प्रतिपादन किया है। जिसे पाश्चात्य समालोचना के परिवेश में भी पर्याप्त महत्व भी प्राप्त हुआ है किन्तु भारतीय समालोचना की दृष्टि से विचार करने पर वह वक्रोक्ति की अपेक्षा सर्वथा महत्वहीन सिद्ध हो जाता है। भारतीय समालोचकों द्वारा निर्धारित आनन्दवाद की अपेक्षा भी मात्र कोरा चमत्कारवाद सिद्ध कर देती है। अतः वक्रोक्ति के साथ अभिव्यंजनावाद की तुलना उपयुक्त नहीं कही जा सकती है किन्तु समालोचना के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण अवश्य कहा जा सकता है। अभिव्यंजनावाद का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है कि चित्रकार जिस दृष्टि से किसी वस्तु को देखता है, साधारण जन उसकी अनुभूति मात्र करता है अथवा उस वस्तु के अन्तस्तल में प्रविष्ट न होकर केवल बाहर बाहर देखता है।[2] वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक काव्य में कविव्यापार की प्रधानता स्वीकार

---

1. Since it often happens that the most obvious phrases, and those that are used in ordinary conversation, become too familiar to the ear, and contract a kind of meanness by passing through the mouths of the vulgar, a poet should take particular care to guard himself against idimatic ways of speaking.

— Addison (on Milton)

2. The painter is painter, because he sees what others only feel or see through but do not see.

— Croce

करते हैं और आचार्यों ने अभिव्यंजना-व्यापार की प्रधानता स्वीकार की। ऐसी स्थिति में दोनों के सिद्धान्तों का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। पाश्चात्य समीक्षा की दृष्टि से वक्रोक्ति के स्थान पर प्रयुक्त हुआ अभिव्यंजनावाद क्रोचेनीय सिद्धान्त होता है।

इसीप्रकार डा० जानसन(Johnson) एवं वर्ड्सवर्थ(Wordsworth) आदि पाश्चात्य काव्याचार्यों ने वक्रोक्ति के सम्बन्ध में यत्किंचिद् रूप में अपनी भावनाओं का प्रेस्तुतीकरण किया है।

समालोचना :——

वक्रोक्ति सिद्धान्त का उपर्युक्त समालोचनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि काव्यशास्त्रीय परिक्षेत्र में यह महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। भारतीय एवं पाश्चात्य सभी समालोचकों ने उसे सहर्ष स्वीकार किया है। हमारे इस कथन की परिपुष्टि में डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' की निम्नलिखित पंक्तियाँ सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होंगी ——

"कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त कितना महत्वपूर्ण है— इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इस सिद्धान्त ने केवल संस्कृत काव्य-सिद्धान्तों में ही समन्वय उपस्थित नहीं किया, अपितु आधुनिक, प्राच्य एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों के मतान्तरों में से भी सामंजस्य उपस्थित करनेकी बहुत बड़ी क्षमता उसमें निहित है। आधुनिक विद्वानों ने भी यह तथ्य निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का मौलिक सिद्धान्त है।"[1]

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन स्वीकार करके रस एवं ध्वनि आदि महत्वपूर्ण तत्वों के महत्व को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया। उन्होंने एक आस्तिक की भांति इस तथ्य को स्वीकार किया है कि काव्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व 'रस' है जो सहृदयों को सर्वथा अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। अपने प्रतिपादित सिद्धान्त की प्रकृष्टता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अन्ततः रस को वक्रता के विविध भेदों में अन्तर्निहित कर दिया है। उन्होंने रस की भांति अलंकार, रीति एवं ध्वनि को भी काव्य में आवश्यक बताया है और उसी प्रकार वक्रोक्ति की व्यापकता में इन्हें भी व्याप्त कर दिया है। इस प्रकार काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में वक्रोक्ति का महत्वपूर्ण स्थान सिद्ध हो जाता है।

1- काव्यशास्त्र, पृ० 13। सम्पादक- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

अष्टम अध्याय

औचित्य - सम्प्रदाय

'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।'

—— क्षेमेन्द्र

अष्टम अध्याय

औचित्य-सम्प्रदाय

जिस प्रकार मनुष्य के जीवन में औचित्य के महत्व का प्रतिपादन आवश्यक है, उसके अभाव में व्यावहारिक जीवन अव्यवस्थित और हास्यास्पद हो जाता है, उसी प्रकार काव्य में औचित्य की प्रयोगिक स्थिति का महत्व भी अत्यावश्यक होता है, उसके अभाव में वह भी उपहास का पात्र निर्मित हो जाता है। काव्य में रस, अलंकार, गुण तथा रीतिआदि विविध तत्वों के उचित सन्निवेश से एक चामत्कारिक अनुभूति प्राप्त होती है। उनके अभाव में अथवा अनुचित प्रायोगिक स्थिति से वह काव्य हास्यास्पद होकर अपने रचयिता को निन्दनीय पात्र के रूप में समुपस्थित कर देता है। संसार में सौन्दर्य का महत्व 'औचित्य' नामक काव्य-तत्व पर ही आधारित है। प्रत्येक वस्तु का अपना एक विशिष्ट तथा निर्दिष्ट स्थान है जहाँ से पतित होने पर उसके महत्व की समाप्ति हो जाती है। संसार में आभूषणों का निर्माण मानव शरीर को विभूषित करनेके लिए किया गयाहै। इन आभूषणों के सौन्दर्य का मूल्यांकन उन्हें उचित स्थानों पर धारण करने से ही होता है। यदि कोई व्यक्ति अनुचित स्थानों पर आभूषणों का प्रयोग करेगा तो वह आभूषणों के सौन्दर्य का विनाशक हो कर मूर्ख की संज्ञा से विभूषित होगा। कविवर बिहारी का निम्नलिखित पद उक्त कथन की सत्यता का प्रतिपादन करने में सर्वथा युक्ति-युक्त सिद्ध होगा —

जो सिर धरि महिमा मही, लहियत राजा राव।
प्रगटत जड़ता आपनी मुकुट पहिरियत पाव॥

आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य विचार चर्चा' नामक काव्य-ग्रन्थ में औचित्य के महत्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि औचित्य ही सौन्दर्य का मुख्य तत्व है। यदि कोई स्वरूपवती स्त्री अपने गले में करधनी, नितम्बों के ऊपर हार, हाथों में नूपुर और पैरों में केयूर पहन ले तो उसकी प्रचण्ड मूर्खता को देखकर कौन नहीं हँस पड़ेगा? इसी प्रकार यदि कोई पुरुष शरण में आये हुए व्यक्ति के ऊपर वीरता के स्वरूप का प्रतिपादन करे और शत्रु के ऊपर दया भाव प्रदर्शित करे तो उसकी कौन व्यक्ति आलोचना न करेगा? इसके विपरीत वास्तविकता तो यह है कि औचित्य के अभाव में न तो अलंकार सौन्दर्य को प्रस्फुटित कर सकते हैं और न गुण उसके प्रति आकर्षण का कारण बन सकते हैं।

कण्ठे मेखलया , नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया, नायान्ति के हास्यतां,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते, नालंकृतिर्नो गुणाः ॥[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार की प्रत्येक व्यावहारिक स्थिति में औचित्य के समावेश का प्राधान्य प्राप्त है। उसी प्रकार काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य का संयोजन अत्यावश्यक होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि यदि काव्य में अलंकार और गुणों का प्रयोग औचित्य के सहारे से नहीं हुआ है तो उस स्थिति में वे दोनों महत्वहीन सिद्ध हो जाते हैं —

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्या गणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥[2]

अलंकार काव्य की बाह्यशोभा के विधायक तत्व हैं एवं गुण उसके सामान्य वैशिष्ट्य के प्रतिपादक हैं, किन्तु औचित्य उसे चिरस्थायी बनाने वाला अन्तस्तत्व है, जिसके अभाव में वह निर्जीव सिद्ध हो जायेगा —

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥[3]

ऐसी स्थिति में यह निश्चित हो जाता है कि अलंकार और गुणों के अतिरिक्त भी औचित्य के अभाव में काव्य को रमणीय बनाने में असमर्थ सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार उचित मात्रा से पारद नामक रस पदार्थ का परिसेवन करने पर शरीर परिपुष्ट होकर चिरस्थायी हो जाता है, उसी प्रकार काव्य में औचित्य का प्रतिपादन होने से उसमें सौन्दर्य की अभिवृद्धि के साथ स्थायित्व का समावेश हो जाता है।[4]

1- औचित्यविचारचर्चा, 6 की व्याख्या से

2- वही, 4

3- वही, 4

4- परस्परोपकारकरूविरासार्थरूपस्य काव्यस्योपशोभाकारिणो ये प्रकुशलकारास्ते कटकमुकुट केयूरादिवदलंकारा एव, बाह्यशोभाहेतुत्वात्। येऽपि काव्यगुणाः केचन सत्याप्तविचारचेतसाम्नातास्तेऽपि गुणत्वस्य— शीलादिवत्, गुणा एव, आहार्यत्वात्। औचित्यं तु काव्यमानसस्य स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्। रसेन शृंगारादिना

काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य की अभिव्याप्ति के कारण ही आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषित किया था। औचित्य की इस व्यापकता को महामहोपाध्याय कुप्पु स्वामी शास्त्री ने चित्र द्वारा इस रूप में प्रदर्शित किया है[1] ——
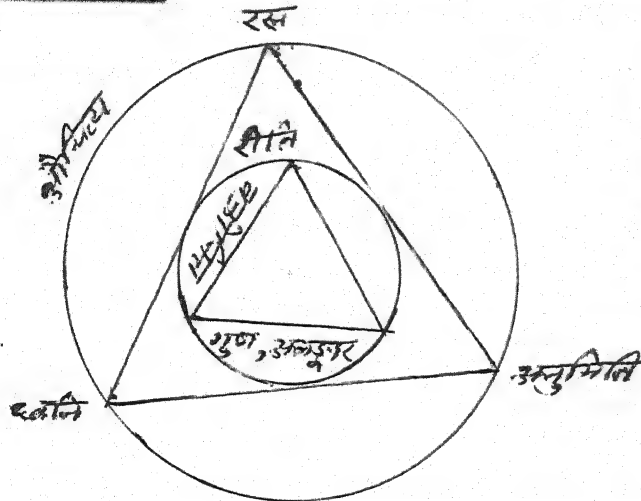
औचित्य की व्यापकता के प्रदर्शन हेतु महामहोपाध्याय द्वारा प्रस्तावित उक्त चित्र का विवेचन करते हुए डा0 मनोहरलाल गौड़ ने अपने 'औचित्य-सिद्धान्त' नामक निबन्ध में इस प्रकार लिखा है ——

"भारतीय काव्य-समीक्षा के इतिहास में तीन मार्गों की देन महत्वपूर्ण है, वे हैं : रस-मार्ग, ध्वनि-मार्ग, तथा औचित्य-मार्ग। इनमें भी औचित्य की क्षेत्र-सीमा सबसे अधिक है। इसके अन्तर्गत ध्वनि और रस का समावेश हो जाता है। इनकी चर्चा भी किसी न किसी रूप में प्रारम्भ से लेकर संस्कृत-समीक्षा के अन्त तक चलती रही है। महामहोपाध्याय प्रोफेसर एस0 कुप्पु स्वामी शास्त्री ने काव्य के वाङ्मय की दो वृत्तों द्वारा व्याख्या की है। एक वृत्त व्यापक है जो औचित्य का है और दूसरा व्याप्य अर्थात् सीमित है जो वक्रता का है। व्यापक वृत्त के अन्तर्गत काव्य के तीन गुण- ध्वनि, रस और अनुमान त्रिकोण बनाते हैं। छोटे त्रिकोण को वक्रता अपनी वृत्ताकार परिधि में व्याप्त कर लेती है। उसी प्रकार औचित्य रस, ध्वनि और अनुमान पर आत्मसात् किए रहता है। इस प्रकार वक्रता काव्य का व्यापक गुण ठहरता है, पर औचित्य उससे भी व्यापक गुण है। औचित्य के

सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य चारुताकरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः ॥

— औचित्यविचारचर्चा, 6 की व्याख्या।

1- हाइवेज एण्ड बाइवेज आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत— पृ0 27

क्षेत्र में वक्रता भी समा जाती है। यही कारण है कि इसकी चर्चा भारतीय काव्य-समीक्षा की भांति पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में भी हुई है। यह काव्य में सापेक्षता का सिद्धान्त है। इसके अनुसार काव्य-सौन्दर्य कोई अनपेक्ष केवल तत्व नहीं है। वह अपने प्रसंग तथा दूसरे सहयोगी गुणों की अपेक्षा रखता है। रस, अलंकार या ध्वनि कोई भी केवल अपनी सत्ता से सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते।"[1]

(1) औचित्य का स्वरूप

जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसे हम 'उचित' कहते हैं और उचित का जो भाव होता है, वह 'औचित्य' कहलाता है —

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते॥[2]

इसका तात्पर्य यह है कि किसी एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु का योग अनुरूप या अनुकूल होता है। उदाहरणार्थ —— किसी व्यक्ति के गले में माला का योग अनुरूप सिद्ध होगा, क्योंकि माला व्यक्ति के गले में ही सुशोभित होती हुई उचित प्रतीत होती है। अतः गले के साथ माला का योग औचित्य का उचित रूप सिद्ध होगा। उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी शृंगार रस के साथ माधुर्य गुण का योग तथा वीर रस के साथ ओज गुण का योग 'औचित्य' के उचित रूप का प्रतिपादन करेंगे। इसके विपरीत यदि माला का योग व्यक्ति के पैरों या कटिप्रदेश से करायेंगे या शृंगार रस के वर्णन में ओज गुण का तथा वीर रस के वर्णन में माधुर्य गुण का योग प्रतिपादित करेंगे तो यह अनौचित्य या मूर्खता की चरम सीमा सिद्ध होगी।

औचित्य के मधुर स्वरूप का स्पष्ट अवलोकन निम्नलिखित श्लोक के विश्लेषण से हो जायेगा—

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयः, तूष्णीं बहिः स्थीयतां,
स्वल्पं जल्प बृहस्पते, जडमते, नैषा सभा वज्रिणः।
वीणां संहर नारद, स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो,
सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लंकेश्वरः॥

इस श्लोक में जनकनन्दिनी सीता के ~~सीता के~~ सौन्दर्य से विक्षिप्त होकर लंकापति रावण व्याकुल हृदय होकर अचेत पड़ा हुआ है। उसी समय ब्रह्मा, बृहस्पति, तथा

1- भारतीय काव्यशास्त्र, पृ0 153 सम्पादक — डा0 उदयभानु सिंह

2- औचित्यविचारचर्चा—7

नारद इत्यादि देवता एवं देवर्षि रावण के प्रताप से भयभीत होकर उसके यशोगान में तल्लीन हैं। ऐसी स्थिति पर दुवारपाल उन्हें फटकारता हुआ क्लिष्ट शब्दों में कह रहा है कि हे प्रद्युम्न, यह समय वैदिक मन्त्रों के उच्चारण का नहीं है, आप यहाँ से जाकर बाहर चुपचाप खड़े रहिए। अरे मूर्ख बृहस्पति, अपना बकवाद बन्द करो, आप यह नहीं जानते कि यह सभा वज्र धारण करने वाले इन्द्र की नहीं है। नारद जी, आप अपनी वीणा की तन्त्री उतार लीजिए। तुम्बुरु महाशय, आप स्तुति करना बन्द कर दीजिए। आज लंका के महाराज सीता के माँग रूपी भाले से विद्ध हृदय होगये हैं। उनका चित्त अनुकूल नहीं है।

यह श्लोक अत्यन्त मधुर तथा मनोरम है। इसमें विशिष्ट अर्थों की अभिव्यंजना के लिए शब्दों का औचित्यपूर्ण सन्निवेश किया गया है। सरस्वती के अवतार आचार्य बृहस्पति के लिए 'जड़मति' का प्रयोग करके उनके कथन को 'जल्पना' कहना सर्वथा उचित तथा सामयिक अर्थ का प्रतिपादक कहा जायेगा। देवराज इन्द्र के लिए 'वज्री' शब्द का प्रयोग करके उनके औद्धत्य रूप कार्यों की ओर प्रकाश डाला गयाहै, जो सर्वथा औचित्यपूर्ण है। इन्द्र उद्दण्डता का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें कोमल कलाओं के आस्वाद लेने की क्षमता का सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार भगवती सीता के सिन्दूर से चर्चित माँग की उपमा रक्तरंजित भाले से देना सर्वथा औचित्यपूर्ण ही कहा जायेगा।

उचित शब्दों का प्रयोग न होने से काव्य का आनन्द सर्वथा समाप्त हो जाता है। कोई भी काव्य अलंकारों से सर्वथा सुशोभित होने पर भी औचित्य के अभाव में चामत्कारिक आनन्दानुभूति से रहित सिद्ध हो जाता है —

~~लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः वसतश्चिन्ताज्वरो निर्मितः~~ ।

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्ताज्वरो निर्मितः ।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता,
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता ॥

इस श्लोक में किसी रमणीक रमणी की रमणीय प्रशंसा अन्तर्निहित है। विधाता इस तन्वी की देहरूपी यष्टि की रचना करके अपने किस लाभ के चिन्तन में चिन्तित हो गये कि सौन्दर्यरूपी धन के व्यय का स्मरण न कर सके? उन्होंने इसके निर्माण-कार्य में समुद्भूत क्लेशों की चिन्ता न करते हुए स्वच्छन्द एवं सुखमय जीवन व्यतीत करने

वाले पुरुष के हृदय में चिन्ता का समावेशकर दिया। इसके साथ ही साथ अनुरूप रमण के अभाव में इस बेचारी को भी दुःखानुभूति का सम्बल प्राप्त होगा। इसके समान गुण एवं स्वरूप वाले पुरुष के अभाव में उस विधाता ने किस अद्वितीय धन की प्राप्ति की?

काव्य के दृष्टिकोण से अत्युत्तम इस श्लोक में अन्तर्निहित भावना सर्वथा प्रशंसनीय है, किन्तु कवि ने तकार रूप अनुप्रास अलंकार के लोभ में उस रमणीय रमणी के लिए 'तन्वी' शब्द का प्रयोग करके श्लोक की सम्पूर्ण चामत्कारिक भावना को समाप्त कर दिया है। स्त्री के सौन्दर्य का विवेचन करने हेतु 'रमणी' या 'सुन्दरी' आदि शब्दों का प्रयोग ही यहाँ उचित सिद्ध होता। काव्य में 'तन्वी' शब्द का प्रयोग वहीं किया जाता है जहाँअपने पति के वियोगमें कोई स्त्री व्याकुल होकर तड़पती हुई अपने शरीर को एकदम दुबला-पतला बना लेती है —

तन्वीपदं तु विरहविधुररमणीवर्णने प्रयुक्तमौचित्यं शोभां जनयति।"[1]

(2) औचित्य का ऐतिहासिक विकास-क्रम

आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित औचित्य-सिद्धान्त के विकास-क्रम की एक निश्चित परम्परा है, जिसके आधार पर यह विकसित एवं पल्लवित होकर काव्यशास्त्र के प्रकोष्ठ में महत्वपूर्ण स्थान पर समवस्थित है।

भरत :—

काव्यशास्त्रीय इतिहास में आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित 'नाट्यशास्त्र' का अद्वितीय स्थान है। साहित्यशास्त्र या काव्यशास्त्र की हर विधा के ऐतिहासिक-विकास-क्रम का प्रारम्भ इसी ग्रन्थ से होता है। औचित्य के विकास के प्रारम्भिक रूप में इसमें बतलाया गया है कि नाटक का अभिनय करते समय लौकिक नियमों से परिपुष्ट धर्मों को ग्रहण करना चाहिए,[2] क्योंकि 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' अर्थात् प्रत्येक में व्यक्तियों की रुचियाँ भिन्न होती हैं। अतः उनका ग्रहण उसी रूप में करना चाहिए।[3] 'नाट्यशास्त्र' में यद्यपि औचित्य पद को व्यावहारिक रूप में समुपस्थित नहीं किया गया है, किन्तु नाटक

1- औचित्यविचारचर्चा,

2- लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते॥— नाट्यशास्त्र, 26/113

3- नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः॥— वही, 26/119

का अभिनय करने-हेतु उसके रचयिता ने जिन निर्देशों को लिपिबद्ध किया है, उनसे औचित्य के स्वरूप का स्पष्ट परिज्ञान प्राप्त हो जाता है। आचार्य भरत ने लिखा है कि नाटक के पात्रों की वेशभूषा उनके वेश और और आयु के अनुरूप होनी चाहिए। जो वेशभूषा वेश के अनुरूप न नहीं होगी वह सौन्दर्य के प्रतिपादन में सर्वथा अयोग्य सिद्ध होगी।[1] नाटक के अभिनय में वेशभूषा आयु के अनुसार होनी चाहिए, गति एवं क्रियाएँ वेश के अनुसार होनी चाहिए, संवाद आदि गति के अनुकूल होने चाहिए तथा अभिनय को संवाद आदि का अनुसरण करना चाहिए।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह निश्चित हो जाता है कि यद्यपि नाट्यशास्त्र में औचित्य शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु उसका अन्तर्निहित स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। अतः आचार्य भरत औचित्य के उद्भावक सिद्ध हो जाते हैं।

भामह :—

आचार्य भामह द्वारा प्रतिपादित 'काव्यालंकार' नामक काव्य-ग्रन्थ में औचित्य के स्वरूप का सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है। आचार्य भामह के अनुसार यदि वास्तविकता के साथ विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि काव्य में औचित्य महत्वपूर्ण गुण के रूप में विद्यमान है। उन्होंने अनौचित्य को काव्य के भयंकर दोष के रूप में स्वीकार किया है। दोषों का विवेचन करते समय औचित्य के स्वरूप का सूक्ष्म रूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि दुष्ट उक्ति भी उचित स्थान प्राप्त कर उसी प्रकार सूक्ति के रूप में प्रतीत होने लगती है, जिस प्रकार किसी माला के मध्य भाग में स्थान प्राप्त कर नील पलाश का पुष्प सौन्दर्य से विभूषित होकर सुन्दर पुष्प के रूप में प्रतीत होने लगता है[3] अथवा जिस प्रकार किसी रमणी के नेत्रों में काले गुणों से विभूषित काजल उसके सौन्दर्य में अभिवृद्धि प्रतिपादित करता है, उसी प्रकार कोई असुन्दर वस्तु अपने आश्रय की सुन्दरता से शोभा-

---

1- अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते।— नाट्यशास्त्र, 23/69

2- वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥ वही 14/68

3- सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव। काव्यालंकार, 1/54 भामह

सम्पन्न हो जाती है।[1] इसी प्रकार अन्य बहुत से असुन्दर पदार्थ औचित्य से परिपूर्ण होकर सौन्दर्य-युक्त हो जाते हैं।[2] पुनरुक्त दोष को यद्यपि दोष के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु भय, शोक, असूया, हर्ष तथा विस्मय आदि भावों की अभिव्यक्ति का संसर्ग प्राप्त कर वह निर्दोष सिद्ध हो जाता है।[3] 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के 'न खलु न खलु बाणः[4]' इत्यादि श्लोक में आगत पुनरुक्ति से उसके सौन्दर्य में अभिवृद्धि हो जाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह निश्चित हो जाता है कि औचित्य के सहयोग से दोष-युक्त वस्तु निर्दोष सिद्ध हो जाती है, जिससे आचार्य भामह की औचित्य सम्बन्धी भावना का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। आचार्य भरत ने नाट्य के लिए जिस औचित्य को स्वीकार किया था आचार्य भामह ने उसे काव्य के लिए उचित उद्घोषित कर दिया है। अतः आचार्य भामह की दृष्टि में औचित्य काव्य का वरणीय तत्व सिद्ध हो जाता है।

<u>दण्डी :—</u>

आचार्य दण्डी ने अपने काव्य-ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में अपने पूर्ववर्ती आचार्य भामह के समान दोषों का विवेचन करते समय औचित्य के स्वरूप का सांकेतिक परिचय प्रदान किया है। उनका कथन है कि समूहात्मक अर्थशून्य वाक्य तो अपार्थ नामक दोष से संयुक्त हो जाता है, किन्तु वही अपार्थ दोष पागल, मदिरा से उन्मत्त मनुष्य, बालकों के आलाप तथा अस्वस्थ आदि व्यक्तियों के प्रलाप आदि में दोष की संज्ञा से सर्वथा परिमुक्त हो जाते हैं।[5] इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले व्यर्थ नामक दोष

1- किंचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥ — काव्यालंकार 1/55 भामह

2- अनयान्यदपि ज्ञेयं शिष्टायुक्तमसाध्वपि। —काव्यालंकार, 1/56 भामह

3- भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाऽऽह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद् विदुः॥ —वही, 4/14

4- न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्।
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः॥
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते॥ अभिज्ञानशाकु0, 1/10

5- समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते। उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति॥
इदमस्वस्थचित्तानामभिधानमनिन्दितम्। इतरत्र कविः को वा प्रयुञ्जीतैवमादिकम्॥ काव्यादर्श 4/5-6

का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि एक ऐसी भी विरह आदि की अवस्था होती है, जो कवि की विरुद्ध अर्थवाली वाणी दोष का परित्याग करके गुणत्व को प्राप्त कर लेती है।[1] आचार्य दण्डी ने देश, काल, कला, लोक, न्याय तथा आगम के प्रतिकूल कथन को काव्य में 'विरोध' नामक दोष के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु विशेष परिस्थितियों में कवि की कुशलता से यह विरोध रूप दोष भी निर्दोष सिद्ध हो जाता है।[2] आचार्य दण्डी द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि गुण और दोष के पार्थक्य का कारण 'औचित्य' होता है। उसके सामंजस्य के बिना गुण के गुणत्व और दोष के दोषत्व का स्पष्टीकरण सर्वथा असम्भव होता है। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि जिस कार्य के लिए जो वस्तु उचित होती है, उसमें उसके प्रतिपादन से गुण और उसमें जो उचित नहीं होती है, उसके प्रतिपादन से दोष की उद्भावना होती है। अतः गुण का मूल है औचित्य और दोष का मूल है अनौचित्य। इस सम्बन्ध में आचार्य मुनिचन्द्र का निम्नलिखित कथन सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है ——

औचित्यमेकमेकत्र गुणानां राशिरेकतः।
विषायते गुणग्रामः औचित्यपरिवर्जितः॥[3]

अर्थात् औचित्य मात्र की उपस्थिति से गुणों का समुदाय एकत्रित हो जाता है और उसके अभाव मात्र से वह गुण समुदाय विष के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

इसी प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि श्रुतिकटुत्व आदि दोष शृंगार रस में त्याज्य होने के कारण दोष के रूप में परिगणित हैं किन्तु वीर तथा रौद्र रस में अनुकूल होने के कारण त्याज्य न होकर ग्राह्य हो जाते हैं।[4] अतः ये अनित्य दोष

1- अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गस्य चेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती।— काव्यादर्श 4/10

2- विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते॥ — काव्यादर्श, 4/57

3- धर्मबिन्दुटीका — पृ0 29 — मुनिचन्द्र

4- श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः॥— ध्वन्यालोक, 2/11

"नापि गुणेभ्यो व्यतिरिक्तत्वम् दोषत्वम्। बीभत्सहास्यरौद्रादौ त्वेषामस्माभिरुपगमात् शृंगारादौ च वर्जनादनित्यत्वं च दोषत्वं च समर्थितमेवेति भावः॥— ध्वन्यालोकलोचन, पृ0226

सिद्ध हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में दोषों के नित्यानित्य स्वरूप का प्रतिपादक औचित्य सिद्ध हो जाता है।

<u>यशोवर्मा :—</u>

आचार्य दण्डी के पश्चात् यशोवर्मा नामक आचार्य ने औचित्य के स्वरूप पर कुछ विवेचन करने का प्रयास किया है। आचार्य यशोवर्मा द्वारा 'रामाभ्युदय' नामक एक नाटक विरचित किया गया है, जिसका उल्लेख -'शृंगार प्रकाश एवं ध्वन्यालोक-लोचन' आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। यह नाट्यग्रन्थ अपने मूल रूप में अभी तक नहीं प्राप्त हो सका है। आचार्य यशोवर्मा ने औचित्य सम्बन्धी विचारों का विवेचन करते हुए लिखा है कि नाटक के पात्रों का कथन उनकी प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए। इसके अतिरिक्त रस का सन्निवेश उचित अवसर पर ही उपयुक्त प्रतीत होता है, जो पात्र की अवस्था और प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए।[1] इस प्रकार आचार्य यशोवर्मा ने वचन तथा रस के औचित्य का निर्देशन करके साहित्यशास्त्रीय औचित्य तत्व की सर्वथा परिपुष्टि की है।

<u>व्यास :—</u>

'अग्निपुराण' के रचयिता आचार्य व्यास ने रीति, वृत्ति और रस के विषयानुकूल होने पर 'औचित्य' नामक अलंकार का उल्लेख किया है,[2] जो काव्यशास्त्रीय औचित्यतत्व का भी निर्देश कर देता है।

<u>भट्टलोल्लट :—</u>

आचार्य भट्टलोल्लट 'नाट्यशास्त्र' में आगत रस-सूत्र के प्रथम व्याख्याता के रूप में प्रख्यात हैं। राजशेखर, हेमचन्द्र एवं नमिसाधु नामक काव्याचार्यों ने उनके नाम से कुछ पद्यों की अवतारणा की है। ये पद्य औचित्य के स्वरूप का तथ्यपूर्ण प्रतिपादन करते हैं। काव्य का प्रमुख उद्देश्य पाठक को रस की अनुभूति कराना होता है। अतः उसी उद्देश्य को सामने रखकर उसके प्रतिपादक तत्वों का काव्य में समावेश करना चाहिए। ऐसी स्थिति में सरसता को ध्यान में रखकर ही काव्य-रचना में संलग्न होना चाहिए। इस सम्बन्ध में मज्जन, पुष्पचयन, सन्ध्या एवं चन्द्रोदय आदि विविध मनोरम तथ्यों के वर्णन के सामने मुख्य रस का विस्मरण कदापि न होना चाहिए।[3] नदी, पर्वत, समुद्र, नगर, अश्व, एवं रथ आदि

1- औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचितम्,
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ, प्रौढिश्च शब्दार्थयोः। ([illegible])

का विशिष्ट चित्रण काव्य के उद्देश्य की प्राप्ति में बाधक सिद्ध हो जाते हैं।[1] इसी प्रकार यमक, चक्र, पद्म एवं मुरजबन्ध आदि रस-विरोधी तत्वों का प्रतिपादन भी मात्र कवि की अहंकार-भावना के द्योतक सिद्ध होते हैं।[2]

रुद्रट :—

'औचित्य' नामक काव्यात्म-तत्व के स्वरूप का विवेचन करने वाले आचार्यों में आचार्य रुद्रट का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भामह एवं दण्डी नामक आचार्यों की भांति औचित्य को गुण तथा अनौचित्य को दोष के रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि अनुप्रास एवं यमक आदि अलंकारों का सन्निवेश आवश्यकता के अनुसार ही करना चाहिए, इसके विपरीत अनुचित प्रयोग सर्वथा आलोचनीय सिद्ध होगा।[3] गुण और दोषों का आविर्भाव औचित्य के सद्भावाभाव पर ही सम्भाव्य होता है। देश, कुल, जाति, विद्या, धन, आयु, स्थान एवं पात्रों के व्यवहार, स्वरूप, वेशभूषा एवं वचनों में औचित्य के अभाव से उद्भूत होने वाला ग्राम्यत्व दोष उसका सद्भाव होने पर निर्दोष होकर गुण के रूप में परिवर्तित हो जाता है। पुनरुक्त नामक दोष काव्य में सर्वथा निकृष्ट-रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि इससे कवि के शब्दाभाव या अर्थाभाव का परिज्ञान होता है, किन्तु औचित्य का साहाय्य प्राप्त कर यह अपने दोष रूप से परिमुक्त होकर गुण के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[5] यथा —

वद वद जितः स शत्रुः
न हतो जल्पंश्च तव तवास्मीति।
चित्रं चित्रमरोदीत्
हा हेति परस्य पुत्रे॥[6]

1- यत्तु सरित्सागरपुरतुरगरथादि वर्णने यत्नः।
कविशक्तिख्यातिफलः विततधियां नो मतः स इह॥—काव्यमीमांसा, पृ० 11

2- यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदोऽतिरस विरोधिन्यः।
अभिमानमात्रमेतद् गड्डरिकादि प्रवाहो वा॥— काव्यानुशासन, पृ० 285

3- एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः॥
इति यमकविशेषं सम्यगालोचयद्भिः सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तुवौचित्यविद्भिः। सुविहितपदबन्धं सुप्रसिद्धाभिधानं तदनुविरचनीयं सर्ववर्गेषु सम्यक्॥—काव्यालंकार, 2/32, 3/59 रुद्रट

(शेष अगले पृष्ठ पर)

इस श्लोक में 'यह यह', 'तन तन', 'चित्रं चित्रम्' एवं 'हा हा' रूप पुनरुक्त दोष से युक्त पद क्रमशः हर्ष, भय, विस्मय एवं शोक रूप औचित्य का साहाय्य प्राप्त कर निर्दोष होकर गुणों के रूप में परिणत हो गये हैं।

इस प्रकार आचार्य रूद्रट की उपर्युक्त औचित्य सम्बन्धी भावना का निदर्शन करने पर यह निश्चित हो जाता है कि काव्य-सौन्दर्य के अभिवर्धक तत्वों के साथ औचित्य का साहाय्य सर्वथा अपेक्षित होता है। इसके सहयोग से दोषों का दोषत्व दूर होकर गुणों के रूप में परिणत हो जाता है। काव्य के प्रमुख उद्देश्य रसानुभूति की प्राप्ति औचित्य पर ही आधारित होती है। अतः आचार्य रूद्रट द्वारा प्रस्तावित रसौचित्य का विवेचन-कार्य सर्वथा सराहनीय सिद्ध होता है।

<u>आनन्दवर्द्धन :—</u>

औचित्य-सिद्धान्त के विकास में आचार्य आनन्दवर्द्धन तथा उनके ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' का सराहनीय सहयोग रहा है। ध्वन्यालोककार ने सूक्ष्म एवं विस्तृत दो रूपों में औचित्य के स्वरूप का प्रतिपादन करने का प्रयास किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तावित उसके सामान्य स्वरूप को रस रूप महनीय तत्व के साथ उसका सान्निध्य बतलाकर उन्होंने आचार्य क्षेमेन्द्र के समक्ष जिस औपचारिक भावना का प्रस्तुतीकरण किया है वह सर्वथा स्तुत्य है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसी आधार पर 'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्'[1] के रूप में औचित्य को काव्य की आत्मा कहकर एक नवीन सिद्धान्त की घोषणा की है।

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने औचित्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि काव्य में अलंकारों का समावेश रस के औचित्य को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए।

4- ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम्।
देशकुलजातिविद्यावित्तवयःस्थानपात्रेषु।
अर्थविशेषवशाद् वा सर्वेऽपि तथा क्वचिद् विकल्पो वा।
अनुचितार्थं मुंचति तथाविधं तत्तद् सदपि॥— काव्यालंकार 11/9, 6/23 रूद्रट

5- वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनास्तथा स्तुवन् निन्दन्।
यत् पदमसकृत् ब्रूयात् तत् पुनरुक्तं न दोषाय॥— काव्यालंकार, 6/29 रूद्रट

6- काव्यालंकार , 6/30 रूद्रट

1- औचित्यविचारचर्चा, 5

क्योंकि काव्य में रस ही अनिवार्य है। अतः रस तथा भाव आदि की परिपुष्टि करने के उद्देश्य से प्रयुक्त हुए अलंकार ही अलंकारत्व की प्राप्ति कर लेते हैं।[1] अलंकारों के औचित्य का प्रतिपादन करने के लिए उन्होंने महत्वपूर्ण निर्देशों का निर्माण किया है, जिनके आधार पर उनकी प्रायोगिक स्थिति सर्वथा महत्वपूर्ण सिद्ध हो जाती है।[2]

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अलंकारों के अतिरिक्त गुण, रीति, वृत्ति, संघटना प्रबन्ध एवं रस के औचित्य का भी विवेचन किया है। गुणों का साक्षात् सम्बन्ध रस से होता है। गुण रस के धर्म कहलाते हैं। ऐसी स्थिति में यह निश्चित हो जाता है कि वर्णों तथा शब्दों का संयोजन इस प्रकार करना चाहिए कि जिससे प्रस्तुत गुण तथा रस के साथ उनका पूर्ण सामंजस्य हो सके। उदाहरणार्थ — शृंगार जैसे कोमल तथा सुकुमार रस की अभिव्यंजना के लिए यह आवश्यक है कि कोमल तथा सुकुमार वर्ण काव्य में प्रयुक्त किए जायँ। इसी प्रकार रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिए परुष वर्णों का प्रयोग सर्वथा समीचीन सिद्ध होगा। आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में यह वर्णध्वनि है। आचार्य कुन्तक के अनुसार यह वर्णवक्रता है एवं आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसी को वर्णौचित्य के नाम से अभिहित किया है।

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रन्थ के तृतीय उद्योत में वृत्तियों के सम्बन्ध में अपने विचारों का प्रस्तुतीकरण किया है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि रस आदि के अनुकूल शब्द और अर्थ का जो औचित्यपूर्ण सन्निवेश होता है, वह दो प्रकार की वृत्तियों के रूप में अभिहित किया जाता है।[3] औचित्यपूर्ण संयोजन के अभाव में ये वृत्तियाँ या रीति-

---

1- रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्व साधनम्॥— ध्वन्यालोक, 3/6

2- रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रिया भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥
ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्॥
विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।
निर्व्यूढावपि चांगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलंकारवर्गस्यांगत्वसाधनम्॥— ध्वन्यालोक, 2/16-19

3- रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः॥— ध्वन्यालोक, 3/33

यों रसभंग का कारण बन जाती हैं।[1] रीतियों का नियमन रस, वक्ता, वाच्य एवं विषय के औचित्य से होता है।

पदों की संघटना भी गुण तथा रस की प्रकाशिका होती है। संघटना का अर्थ पदों की सम्यक् घटना या रचना है। संघटना तीन प्रकार की होती है[2] —— (क) असमासा (ख) मध्यमसमासा (ग) दीर्घसमासा। संघटना के साथ महत्वपूर्ण सम्बन्ध गुणों का होता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने संघटना को गुणों के आधार पर रहने वाली तथा रसों की अभिव्यंजना करने वाली बताया है।[3] संघटना के प्रतिपादन में चार वस्तुओं के औचित्य का विचार करना आवश्यक होता है। मुख्य विचारणीय विषय तो रस का औचित्य ही होता है, किन्तु उसके साथ तीन अन्य गौण पदार्थों के औचित्य पर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। ये तीन अन्य गौण पदार्थ हैं —— (क) वक्ता (ख) वाच्य (ग) विषय। यहाँ वक्ता का तात्पर्य है —— काव्य अथवा नाटक के पात्र से। वाच्य का अर्थ है प्रतिपाद्य विषय एवं विषय से अभिप्राय है नाटक, महाकाव्य, गद्य, पद्य, तथा चम्पू आदि काव्य-प्रकार। आचार्य आनन्दवर्धन का इस सम्बन्ध में साधिकार कथन है कि संघटना के इस चतुरस्त्र औचित्य का विवेचन सर्वप्रथम उन्हीं की प्रतिभा का प्रसाद है।[4]

संघटना के विशिष्ट विवेचन में आनन्दवर्धन का कथन है कि गद्य, पद्य, नाटक तथा महाकाव्य रूप काव्य-प्रकारों का अपना एक पृथक् वैशिष्ट्य होता है, जिस पर दृष्टि रखने से संघटना का वैशिष्ट्यपूर्ण समावेश होता है। नाटक का प्रमुख उद्देश्य दर्शकों के हृदय में रस को प्रकाशित करना होता है। अतः दीर्घ समासवाली संघटना तथा शब्दाडम्बर वाले अलंकारों के प्रति कवि का व्यामोह कदापि नहीं होना चाहिए, क्योंकि इन [illegible] का आधिक्य रस की अविलम्ब प्रतीति में बाधक सिद्ध हो जाता है।[5]

1- यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालंकारान्तरप्रसिद्धानां उपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यं तदपि रसभंगहेतुः ॥—ध्वन्यालोक 3/33 की वृत्ति

2- असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥— ध्वन्यालोक, 3/5

3- गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा।
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥— ध्वन्यालोक — 3/6

4-इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी। सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः ।
ध्वन्यालोक पृ0 144

5- एवं च दीर्घसमासा संघटना समासानामनेकप्रकारसम्भावनया कदाचित् रसप्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते। विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये।— ध्वन्यालोक, पृ0 139

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने प्रबन्ध के लिए भी औचित्य की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि प्रबन्ध का कथानक सामान्यतया दो प्रकार का होता है ——(1) वृत्त (पुराण तथा इतिहास आदि में प्रख्यात) (2) उत्प्रेक्षित (कवि कल्पना-प्रसूत)। दोनों प्रकार के कथानकों में औचित्य की उपस्थिति अवश्यम्भावी है। ऐसी स्थिति में कवि का परम कर्तव्य हो जाता है कि वह प्रस्तुत कथानक को स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के औचित्य से उसे कमनीय बनाये। यदि प्रस्तुत कथानक में रसानुभूति की प्रतिकूल स्थिति का प्रादुर्भाव हो जाय तो उसे चाहिए कि नवीन कथानक की कल्पना द्वारा रसानुभूति सर्वथा अनुकूल हो जाय।[1]

कवि का यह कर्तव्य होता है कि वह अंगों के विवेचन का विस्तार उतनी ही मात्रा में करे जितनी मात्रा में वे काव्य के अंगीभूत रस की परिपुष्टि में समर्थ हों। अंग कभी भी अंगी का स्थान नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः अंग और अंगी में औचित्य होना चाहिए। नाटक में सन्धि तथा सन्धि के अंगों की घटना रसाभिव्यक्ति को लक्ष्य कर ही निबद्ध करनी चाहिए। केवल शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में उनका निबन्धन सर्वथा युक्तियुक्त न कहा जा सकेगा।[2]

काव्यमें रसध्वनि के सबसे अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रस के औचित्य की विशेष विवेचना की है। अलंकार, गुण, रीति, संघटना और प्रबन्ध इन सभी का समायोजन रस के औचित्य के दृष्टिकोण से किया जाता है। वही रचना सौन्दर्य से विभूषित होकर सर्वग्राह्य होती है, जो रस के पूर्ण औचित्य से सम्मिलित होती है।[3] शब्द और अर्थ का संयोजन रस को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए।[4]

1- विभावभावानुभाव संचार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः॥— ध्वन्यालोक, 3/10, 11

2- सन्धिसन्ध्यंगघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया॥—ध्वन्यालोक, 3/12

3- रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचनाविषयापेक्षं तत्तु किंचिद् विभेदवत्॥— ध्वन्यालोक, 3/9

4- वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवेः॥— वही, 3/32

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने एक ओर जहाँ अलंकार, गुण, तथा रीति आदि के समायोजन को औचित्य की दृष्टि से करने का संकेत किया था, वहीं दूसरी ओर उन्होंने रस के समायोजन के लिए भी औचित्य के सहयोग को सर्वथा आवश्यक बताया है। उनका कथन है कि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का दूसरा कोई कारण नहीं हो सकता है, इसके विपरीत औचित्य से परिपूर्ण रस अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हो जाता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि औचित्य के स्वरूप का महत्वपूर्ण विवेचन उपस्थित करके आचार्य आनन्दवर्द्धन ने उसके प्रतिष्ठापक आचार्य क्षेमेन्द्र को अपना महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। इस सम्बन्ध में आचार्य बलदेव उपाध्याय का निम्नलिखित कथन सर्वथा युक्ति-युक्त प्रतीत होता है ,,——

"औचित्य के सिद्धान्त को एक व्यापक काव्यतत्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का समग्र श्रेय आनन्दवर्द्धन को ही मिलना चाहिए। क्षेमेन्द्र ने तो एक प्रकार से उन्हीं की आलोचना का अध्ययन कर केवल नवीन अभिधान देने का ही प्रयत्न किया है।[2]

इसी प्रकार डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने अपने एक निबन्ध में आचार्य आनन्दवर्द्धन के ~~की लिखे~~ औचित्य सम्बन्धी विवेचन के महत्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"रस व्यंजना के सन्दर्भ में औचित्य सिद्धान्त के संकेत भी आनन्दवर्द्धन में ही मिले। यों तो भरत ने ही लोकव्यवहारानुरूप अभिनय की दुहाई देकर औचित्य की प्रकारान्तर से स्थापना कर दी थी, किन्तु उसका उल्लेख स्पष्ट रूप में ध्वनिकार द्वारा ही हुआ। क्षेमेन्द्र ने उसे विस्तृति दी। उन्होंने औचित्य को काव्य का स्थिर तथा अविनाशी जीवन मानकर उपसर्ग तथा निपात तक में उसकी व्याप्ति दिखायी।[3]

जयमंगल :—

आचार्य जयमंगल ने स्वरचित ग्रन्थ 'कवि-शिक्षा' में औचित्य के महत्व की उद्घोषणा करते हुए बताया है कि जो कवि औचित्य के महत्व को नहीं जानते, वे यथा

1- अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥— ध्वन्यालोक, 3/14 की वृत्ति

2- भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग2 पृ० 70

3- काव्यशास्त्र, पृ0 58 सम्पादक— आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

की प्राप्ति से सर्वथा वंचित रहेंगे। अतः यशस्वी कवि की संज्ञा प्राप्त करने के लिए उन्हें अपने काव्यों में औचित्य के स्वरूप का सर्वथा समावेश करना चाहिए।[1]

<u>अभिनवगुप्त :—</u>

आचार्य अभिनवगुप्त का स्थान औचित्य-सिद्धान्त के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप में विद्यमान है। आनन्दवर्द्धनाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' टीका लिखकर उन्होंने काव्यशास्त्र के इतिहास में महत्वपूर्ण ख्याति प्राप्त कर ली है। इसी टीका में उनके औचित्य-सम्बन्धी विचारों की प्राप्ति होती है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में औचित्य के परिपोषक जिन तत्वों का उल्लेख किया है, उनकी वास्तविकता को समझने के लिए 'लोचन' टीका महत्वपूर्ण सहायक सिद्ध होती है।

औचित्य के स्वरूप-विवेचन के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि अलंकार्य रूप रस को उचित रूप से सौन्दर्य-युक्त बनाने वाले अलंकारों का ही काव्य में औचित्य सिद्ध होगा। निर्जीव शरीर को कटक-कुण्डल आदि आभूषणों द्वारा सौन्दर्य युक्त नहीं बनाया जा सकता है। इसी प्रकार गार्हस्थ धर्म को छोड़कर सन्यास ग्रहण कर लेने वाले सन्यासी के शरीर पर उपर्युक्त आभूषण हास्यास्पद प्रतीत होंगे।[2] रस-ध्वनि के साथ औचित्य का नित्य सम्बन्ध होता है। अतः औचित्य रसध्वनि का प्राणभूत तत्व सिद्ध होता है। औचित्य का अपने आप में कोई विशिष्ट महत्व नहीं है। वह काव्य के आत्मतत्व रूप रसध्वनि का सहायक सिद्ध होता है। उन्होंने उचित शब्द से रस विषयक औचित्य का प्रतिपादन करते हुए औचित्य से परिपोषित रस-ध्वनि को काव्य का प्राण स्वीकार किया है।[3] रसध्वनि

1- औचित्यं श्लाघ्यते तत्र कविता जीवितोपमम्।
कथयन्तश्चानन्दः कर्तुं स्युः कीर्तिभाजनम्॥ — कविशीला

2- वस्तुतो ध्वन्यात्मैव अलंकार्यः। कटककेयूरादिभिरपि हि शरीरं समवायिभिश्चेतनात्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतयालङ्क्रियते। तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति। अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति। अलंकार्यस्यानौचित्यात्। न च देहस्य किंचिदनौचित्यमिति वस्तुतः आत्मैवालंकार्यः॥—ध्वन्या0 2/6पर लोचनटीका

3- उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षया इदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यते इति भावः॥—ध्वन्यालोक लोचन पृ0 16

के अभाव में औचित्य का प्रभाव भी अत्यल्प हो जाता है, क्योंकि औचित्य सर्वप्रथम किसी पदार्थ की कल्पना करने के पश्चात् उसके प्रति तत्सम्बन्धित वस्तु के उचितानुचित का विवेचन करता है। जिसके प्रति वह वस्तु उचित या अनुचित सिद्ध होगी, वह अलौकिक पदार्थ काव्य की आत्मा रसध्वनि कहलायेगा। ऐसी स्थिति में औचित्य का आश्रय रस-भावादि को छोड़कर अन्य पदार्थ नहीं हो सकता है।[1]

राजशेखर :—

आचार्य राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में औचित्य के स्वरूप पर संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि शब्द और अर्थ के उचित संयोजन को 'पाक' की संज्ञा प्रदान कर 'अवन्तिसुन्दरी' ने भी औचित्य के महत्व का प्रतिपादन प्रस्तुत किया है।[2] आचार्य राजशेखर का यह कथन सर्वथा युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि अनुसन्धान-शून्य कवि का भूषण भी दूषण सिद्ध हो जाता है और सावधान कवि का वही दूषण भूषण बन जाता है।[3]

कुन्तक :—

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक ने भी अपने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ में औचित्य के स्वरूप का यत्किंचित् विवेचन किया है। औचित्य के स्वरूप-विवेचन में उनका कथन है कि औचित्य के स्वरूप की प्राप्ति दो रूपों में हो सकती है। प्रथम, जिस आधार पर किसी वस्तु की प्राकृतिक महत्ता का यथार्थ परिज्ञान होता है, वह आधार या प्रकार प्रथम प्रकार का औचित्य कहलाता है।[4] द्वितीय, जिस आधार पर वक्ता या

1- औचित्यवतीजीवितमिति चेत्, औचित्यनिबन्धनं रसभावादि मुक्त्वा नान्यत् किंचिदस्तीति तदेवान्तर्भावि मुख्यं जीवितमित्यभ्युपगन्तव्यं न तु सा। एतेन यदाहुः केचित् 'औचित्यघटितसुन्दरशब्दार्थमये काव्ये किमन्येन ध्वनिनात्मभूतेन कल्पितेन' इति स्ववचनमेव ध्वनिसद्भावाभ्युपगमसाक्षिभूतं मन्यमानाः प्रत्युक्ताः ॥ —ध्वन्यालोक, 3/37 पर लोचनटीका पृ 260

2- रसोचित शब्दार्थ सूक्तिनिबन्धनः पाकः ॥—काव्यमीमांसा, पृ049 राजशेखर

3- अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषायते।

सावधानस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते॥— काव्यमीमांसा— राजशेखर

4- आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।

प्रकारेण तदौचित्यं उचिताख्यानजीवितम्॥

— वक्रोक्तिजीवित, 1/53

शील के अत्यधिक मनोहर स्वभाव के द्वारा अभिधेय वस्तु सर्वथा आच्छादित कर दी जाती है, वह आधार द्वितीय प्रकार के औचित्य के रूप में अभिहित किया जाता है।[1] औचित्य के इस द्वितीय प्रकार में वाच्यार्थ के आच्छादन द्वारा रसोन्मीलन की ओर संकेत किया गया है। उन्होंने काव्य में शब्द के वैशिष्ट्य को 'शब्द-पारमार्थ्य' और अर्थ के वैशिष्ट्य को 'अर्थ-पारमार्थ्य' की संज्ञा से अभिहित किया है। इन्हें ध्वन्यालोककार ने क्रमशः 'पद-ध्वनि' तथा 'अर्थ-ध्वनि' एवं आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'पदौचित्य' तथा 'अर्थौचित्य' की संज्ञा से अभिहित किया है। इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्तक का अभिमत है कि अर्थ-पारमार्थ्य की स्थिति में ही रस का प्रादुर्भाव होता है। अतः जिस वस्तु से किसी पात्र की न तो महत्ता प्रकट हो सके और न रस का परिपोषण ही हो सके तो ऐसी वस्तु अनुचित होने के कारण सर्वथा त्याज्य होगी।[2] इसके उदाहरण में उन्होंने आचार्य राजशेखर द्वारा विरचित 'बालरामायण' नामक नाटक से एक श्लोक की अवतारणा की है, जिसमें शिरीष के पुष्प के समान कोमल भगवती सीता अयोध्या के परिक्षेत्र की कुछ दूरी पार करने के पश्चात् भगवान् रामचन्द्र से बारम्बार गन्तव्य स्थान की दूरी पूछकर उनका अश्रु विमोचन करा देती है।[3] इस आधार पर औचित्य के स्वरूपनिर्धारण में वक्रोक्तिकार का कथन है कि यह श्लोक भगवती सीता के अलौकिक चरित्र, अलोकसामान्य धैर्य एवं असाधारण सहनशीलता को तिरस्कृत करता हुआ समालोचकों के समक्ष प्रकृष्ट अनौचित्य को प्रस्तुत करता है। जनक-पुत्री सीता जैसी दृढ़प्रतिज्ञ तथा सहनशील नारी के लिए सामान्य परिश्रम पर ही स्वयं को क्लान्त सिद्ध करना अनुचित प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त भगवान् रामचन्द्र जी जैसे भावुक प्रेमी

1- यत्र वस्तु प्रमातृणां वाच्यं शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते॥——वक्रोक्तिजीवित—1/54

2— अत्र अल्पकृत् प्रतिज्ञायं क्रियद्दूरं गन्तव्यमित्यभिधानलक्षणः परिस्पन्दः न स्वभावमहत्तामुन्मीलयति, न च रसपरिपोषाङ्गतां प्रतिपद्यते। यस्मात् सीतायाः सहजेन केनाप्यौचित्येन गन्तुमध्यवसितायाः सौकुमार्यविवर्धितं वस्तु हृदये परिस्फुरदपि वचनमारोहतीति सहृदयैः सम्भावयितुं न पार्यते॥—— वक्रोक्तिजीवित — पृ0 2।

3- सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी सीता जवात् त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
गन्तव्यमद्य कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥
— बालरामायण, 6/34 वक्रो0जीवित, पृ0 49

के अश्रुओं का निपातन- सीता द्वारा बार-बार अपनी संवेदना निवेदित करने पर, होना, अनौचित्य की द्वितीय विवेचना प्रतिपादित करता है।[1]

आचार्य कुन्तक ने विविध प्रकार की वक्रताओं का प्रतिपादन करते समय उनका आधार औचित्य को स्वीकार किया है। इस प्रकार वृत्त्यौचित्य, रीत्यौचित्य, एवं अलंकारौचित्य आदि को वर्णवक्रता के लिए सर्वथा आवश्यक बताया गया है।[2] इसी प्रकार उन्होंने प्रत्यय वक्रता, लिंग वक्रता, पदविधिक्रिया वैचित्र्यवक्रता, कालवैचित्र्यवक्रता एवं उपग्रहवक्रता आदि में भी औचित्य के समावेश को आवश्यक स्वीकार करके उसके महत्व का प्रतिपादन करने का प्रयास किया है।[3] इनके अतिरिक्त स्वभावौचित्य, व्यवहारौचित्य अथवा लोकवृत्त्यौचित्य आदि का पूर्ण विवरण औचित्य के व्यापक महत्व की उद्घोषणा करता है।[4]

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य कुन्तक ने अपने प्रमुख सिद्धान्त की विविध वक्रताओं का प्रतिपादन करते हुए रस एवं वस्तु आदि से अनौचित्य के परित्याग की उद्घोषणा करके औचित्य के यथेष्ट महत्व का प्रकाशन किया है। ~~उनके अनेक स्थानों पर औचित्य और वक्रता का महत्व का प्रकाशन किया है।~~ उनके अनेक स्थानों पर औचित्य और वक्रता का पार्थक्य नहीं प्रतीत होता है।[5] इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थानों पर आनन्दवर्द्धनाचार्य का ध्वनि-तत्व, आचार्य कुन्तक का वक्रोक्ति तत्व एवं आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य तत्व समानता की दृष्टि में दिखायी पड़ने लगते हैं।

<u>धनंजय :—</u>

आचार्य धनंजय ने औचित्य के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए बताया है कि नाटक में यदि कोई प्रकरण नायक अथवा रस के उत्कर्ष का विरोधी होने से अनुचित प्रतीत हो रहा हो तो उसे छोड़कर उनके उत्कर्ष के लिए उचित रूप में उसका परिवर्तन कर देना चाहिए।[6] इस प्रकार आचार्य धनंजय का औचित्य सम्बन्धी यह संक्षिप्त विवरण औचित्य के इतिहास में एक कड़ी की अभिवृद्धि कर देता है।

1- वक्रोक्तिजीवित, वृत्ति पृ० 49-50

2- वृत्त्यौचित्यमनोहारिरसानां परिपोषणम्। — वक्रोक्तिजीवित, 1/35

3- वक्रोक्तिजीवित-2/10, 21, 22, 23, 25, 26, 31 4— वही, 3/5, 10

5- तत्र पदस्य तावदौचित्यं बहुविधं भेदभिन्नो वक्रभावः।— वही, 1/50 की वृत्ति

6- यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत् परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्॥— दशरूपक, 3/24

महिमभट्ट :—

आचार्य महिमभट्ट ने वक्रोक्तिजीवितकार द्वारा प्रतिपादित काव्य-लक्षण का विश्लेषण करते समय औचित्य के महत्व को स्वीकार किया है।[1] उनका कथन है कि काव्य में सर्वोत्कृष्ट दोष अनौचित्य है, क्योंकि इसके द्वारा सर्वथा ग्राह्य रस की प्रतीति में बाधा उत्पन्न हो जाती है। उन्होंने अन्तरंग और बहिरंग के रूप में अनौचित्य को दो प्रकार का स्वीकार किया है। जब विभाव, अनुभावएवं व्यभिचारी भावों को रस में अनुचित रूप से सन्निविष्ट किया जाता है तो रस-भंग रूप वह अनौचित्य अन्तरंग कहलाता है तथा शब्द विषयक अनौचित्य बाह्य शरीर से सम्बद्ध होने के कारण बहिरंग नाम से अभिहित किया जाता है।[2] आचार्य महिमभट्ट ने बहिरंग अनौचित्य से विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य एवं वाच्यावचन नामक शब्द-दोषों को स्वीकार किया है। अर्थ-विषयक अनौचित्य रसभंग का साक्षात् कारण होने से अंतरंग और शब्द अनौचित्य रसभंग में परम्परया कारण होने से बहिरंग माना गया है।[3]

भोजराज :—

आचार्य भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' एवं 'शृंगारप्रकाश' नामक अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में औचित्य के स्वरूप का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'शृंगारप्रकाश' में सम्पूर्ण शास्त्रों की अर्थसम्पत्ति, सभी कलाएँ, काव्य एवं कल्पना आदि के विविध रहस्यों के साथ ही साथ औचित्य के रहस्य का भी समावेश किया है।[4] औचित्य के अभाव में उन्होंने 'अपद' नामक दोष की उद्भावना की है।[5] रसानौचित्य से 'विरस' नामक दोष को बताया है। इसी प्रकार अनौचित्य के ही आधार पर 'विरुद्ध' नामक दोष के अन्तर्गत अनुमान-विरोध में 'औचित्य-विरोध' नामक दोष को स्वीकार किया है।[6] उनके 'भाविक'

1- व्यक्तिविवेक, पृ0 124-26

2- वही, 149-51   3- व्यक्तिविवेक, पृ0 152

3- एतस्मिन् शृंगारप्रकाशे सप्रकाशमेव अशेषशास्त्रार्थसम्पदुपनिबध्यताम्। अखिलकलाकाव्यौचित्यकल्पना रहस्यानां च सन्निवेशो दृश्यते।

4- सरस्वतीकण्ठाभरण, 1/23

6- सरस्वतीकण्ठाभरण, 1/40

नामक शब्द-गुण में भी औचित्य तत्व का समावेश प्राप्त होता है। भामह एवं दण्डी आदि पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति आचार्य भोजराज ने भी स्वीकार किया है कि दोष किसी अवस्था विशेष में कवि-कौशल से औचित्य से समायुक्त होकर गुण की सीमा में समाविष्ट हो जाता है। जिससे उसका दोषत्व रूप सर्वथा समाप्त हो जाता है। इसे उन्होंने 'वैशेषिक गुण' या 'दोष-गुण' के नाम से अभिहित किया है।[1]

आचार्य भोज का कथन है कि विषय, वक्ता, काल तथा देश के औचित्य के आधार पर कवि को भाषा का प्रयोग करना चाहिए। यज्ञों के अवसर पर संस्कृत भाषा का प्रयोग करना चाहिए। अज्ञ स्त्रियों के लिए प्राकृत भाषा का प्रयोग करना चाहिए, कुलीन जनों के लिए संकीर्ण भाषा का प्रयोग अनुचित सिद्ध होगा तथा मूर्ख मनुष्यों को समझाने के लिए संस्कृत भाषा का प्रयोग हास्यास्पद कहा जायेगा।[2] इस प्रकार विषय आदि के औचित्य से भाषा का प्रयोग अपेक्षित होता है।

काव्य में किस स्थान पर गद्य का प्रयोग हो, कहाँ पद्य का प्रयोग हो और कहाँ दोनों का मिश्रित रूप प्रयुक्त हो, इसका समाधान औचित्य का सहारा लेने पर प्राप्त हो जाता है।[3] इसी प्रकार प्रबन्ध काव्यों में रस, अलंकार आदि का समावेश भी औचित्य के आधार पर होना चाहिए।[4] काव्य में छन्दों के प्रयोग में औचित्य की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है कि शृंगार रस में द्रुतविलम्बित आदि, वीररस में वसन्ततिलका आदि, करुणरस में वैतालीय आदि, रौद्र रस में स्रग्धरा आदि एवं अन्य सभी स्थानों पर शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों का प्रयोग करना चाहिए।[5] रसानुरूपसन्दर्भ के

1- विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते॥— सरस्वतीकण्ठाभरण, 1/156

2- न म्लेच्छितव्यं यज्ञादौ स्त्रीषु नाप्राकृतं वदेत्।
संकीर्णं नाभिजातेषु नाप्रबुद्धेषु संस्कृतम्॥— वही, 2/8

3- गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यं यत् सा गतिः स्मृता।
अथौचित्यादिभिः सापि वागलंकार इष्यते॥— वही, 2/18

4- यावयवत्व प्रबन्धेषु रसालंकारसंकरान्।
निवेशयन्त्यनौचित्यपरिहारेण सूरयः॥— वही, 5/126

5- अर्थानुरूपछन्दस्त्वमित्यनेन शृंगारे द्रुतविलम्बितादयः, वीरे वसन्ततिलकादयः, करुणे वैतालीयादयः, रौद्रे स्रग्धरादयः, सर्वत्र शार्दूलविक्रीडितादयः निबन्धनीया इत्युपदिशति। (वही)

विवेचन में उन्होंने बताया है कि रस के अनुरूप प्रासंगिक स्थिति न विद्यमान होने पर अनौचित्य द्वारा वैरस्य का आविर्भाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में रीति के उत्कर्ष में कोमल, उत्साह के उत्कर्ष में प्रौढ़, क्रोधाधिक्य में कठोर, शोक के बाहुल्य में मृदु तथा विस्मय के प्राचुर्य में स्फुटशब्द-सन्दर्भ की ही रचना होनी चाहिए।[1]

इस प्रकार आचार्य भोज द्वारा प्रस्तावित उपर्युक्त औचित्य-विचारसरणि से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य भोजराज की मनोभावना के अनुसार अलंकार तथा गुण एवं माधुर्यादि भाषा का प्रयोग रस के स्पष्टीकरण-हेतु किया जाता है, जिसे उन्होंने 'रस-विनियोग' की संज्ञा से अभिहित किया है। अतः आचार्य भोज के अभिमतानुसार रस का औचित्य ही काव्य का सर्वस्व है।

मम्मट :—

आचार्य मम्मट ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' के सप्तम उल्लास में दोषों का निरूपण करते समय औचित्य के स्वरूप का किंचित् विवेचन किया है। उनका कथन है कि वक्ता, प्रतिपाद्य, व्यंग्य, वाच्य, प्रकरण आदि की महिमा से औचित्य का संसर्ग प्राप्त कर कहीं पर दोष भी गुण बन जाता है और कहीं पर न दोष होता है एवं न गुण।[2] उन्होंने कुछ अनित्य दोषों का विवरण देकर अनुकूल परिस्थिति में उनके गुण बन जाने का उल्लेख किया है।[3]

हेमचन्द्र :—

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित 'काव्यानुशासन' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में औचित्य के स्वरूप का यत्किंचित् विवेचन किया गया है। उनके अनुसार कवियों को काव्यान्तर से पद, पाद आदि के ग्रहण करने में औचित्य का परिपालन करना चाहिए। इसका इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का अन्य प्रकार का चौर्य-अभिशाप काल के प्रवाह में समाप्त हो जाता है, किन्तु पद, पदादि के चौर्य-अभिशाप की समाप्ति की कोई सीमा नहीं निर्धा-

---

1- रसानुरूप सन्दर्भत्वमित्यनेन रतिप्रकर्षे कोमलः उत्साहप्रकर्षे प्रौढः क्रोधप्रकर्षे कठोरः। शोकप्रकर्षे मृदुः, विस्मयप्रकर्षे तु स्फुटाक्षरसन्दर्भोऽभिरचनीय- इत्युपदिशन् 'भैकबेजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः' इति व्याचष्टे। —— सरस्वतीकण्ठाभरण

2- वक्त्राद्यौचित्यवशाद् दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ। — काव्यप्रकाश — 7/59

3- काव्यप्रकाश, 7/63-65

रित नहीं की जा सकती है। अतः औचित्य का साम्राज्य सर्वथा अपेक्षित सिद्ध हो जाता है।[1] आनन्दवर्द्धन तथा मम्मट आदि अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँतिउन्होंने भी औचित्य के साम्रा-ज्य से विसन्धि आदि दोषों का दोषत्व दूर हो जाने से उनके गुणत्व-प्राप्ति की उद्घोषणा की है तथा वक्ता, वाच्य, प्रबन्ध आदि के औचित्य से गुण के नियत वर्ण, रचना आदि में वैपरीत्य होने पर भी काव्य में सौन्दर्य को स्वीकार किया है।[2] इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी औचित्य के महत्व के प्रतिपादन में अपनी एक कड़ी जोड़ दी है।

विश्वनाथ :—

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' नामक अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में औचित्य के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन करते हुए लिखा है कि अन्य दोषों की भाँति औचित्य के आधार पर कहीं निर्दोषत्व, कहीं गुणत्व तथा कहीं पर अनुभयात्मक रूप समझना चाहिए।[3]

क्षेमेन्द्र :—

औचित्य-सिद्धान्त के इतिहास में आचार्य क्षेमेन्द्र का स्थान सर्वोच्च आसन पर सुशोभित होता है। 'औचित्य-विचार-चर्चा' नामक ग्रन्थ उनकी उत्कृष्ट प्र-तिभा तथा विदग्धता का सर्वथा परिचायक है। इस ग्रन्थ में 'औचित्य' को काव्य कीआत्मा का स्थान प्र दान कर वह चिरस्थायी कीर्तिस्तम्भ को प्रतिष्ठित करके परमात्मा में लीन हो गये हैं।

औचित्य सिद्धान्त की स्थापना आचार्य क्षेमेन्द्र ने भगवान् विष्णु के साहाय्य पर की थी, क्योंकि भगवान् विष्णु ही परम औचित्य के संस्थापक हैं।[4] इस प्रकार काव्यगत औचित्य तत्व का विश्लेषण करने के लिए ही उन्होंने अपने औचित्य विचार चर्चा' नामक काव्य - शास्त्रीय ग्रन्थ को समालोचकों के मध्य समुपस्थित किया था।[5]

1- सतोऽप्यनिबन्धोऽसतोऽपि निबन्धो नियमश्छायाद्युपजीवनं च कविशिक्षा। आधिक्यात् 'षट्-पादादीनां' च काव्यान्तरादौचित्यमुपजीवनम्। —— काव्यानुशासन, पृ० 8

2- वक्तृवाच्यप्रबन्धौचित्याद् वर्णादीनामन्यथात्वमपि। — काव्यानुशासन, पृ० 204

3- अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता॥— साहित्यदर्पण, 7/32

4- अच्युताय नमस्तस्मै परमौचित्यकारिणे। — औचित्यविचारचर्चा, 1

5- औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे। रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥— वही, 3

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि काव्य का प्राणभूत तत्व 'औचित्य' है। जिस काव्यमें उसका स्पष्ट साक्षात्कार नहीं किया गया है, अलंकार तथा गुणों से परिपूर्ण वह रचना सर्वथा महत्वहीन सिद्ध होगी।[1] अलंकार तो अलंकार ही हैं तथा वे बाह्यउपकरण हैं। इसी प्रकार गुण यद्यपि अन्तरंग तत्व हैं किन्तु फिर भी वे गुण ही हैं, काव्य में प्राणों के प्रतिष्ठापक नहीं। अतः रसों से सन्निविष्ट काव्य का आत्मतत्व औचित्य ही सिद्ध होता है।[2] आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस-संयुक्त काव्य का प्राण सिद्ध करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार त्याग की भावना से युक्त ऐश्वर्य तथा शील से समुज्ज्वल शास्त्र सज्जन व्यक्तियों की भावना से परिपोषित होते हैं, उसी प्रकार औचित्य से युक्त वाक्य सहृदयों की रुचि के अनुकूल होते हैं।[3] गुणों का गुणत्व भी तभी उपयुक्त प्रतीत होता है, जबकि उनके प्रस्तुतीकरण का कार्य उचित स्थान पर किया गया हो।[4] ऐसी स्थिति में यह भी निश्चित होता है कि गुण भी वही सौन्दर्य सम्पन्न एवं महत्वपूर्ण प्रतीत होता है जो प्रस्तुत अर्थ के औचित्य से संयुक्त रहता है। उस स्थिति में गुण सहृदय व्यक्ति के हृदय में उसी प्रकार आनन्द की अनुभूति का प्रतिपादन करता है, जिस प्रकार रति-काल में दिखाई देने वाला अपनी सभी कलाओं से सम्पन्न चन्द्रमा आनन्दानुभूति में अभिवृद्धि प्रस्तुत कर देता है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि औचित्य-सिद्धान्त भरत से लेकर आचार्य क्षेमेन्द्र तक अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर चुका था। उसके इस क्रमिक विकास-कार्य की परम्परा में आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त एवं कुन्तक आदि आचार्यों का महत्वपूर्ण सहयोग रहा है।

1- काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥— औचित्यविचारचर्चा, -4

2- अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥— वही, 5

3- औचित्यरचितं वाक्यं सततं सम्मतं सताम्।
त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं शीलोज्ज्वलमिव श्रुतम्॥— वही—12

4- उचितार्थविशेषेण प्रबन्धार्थः प्रकाश्यते।
गुणप्रभावभव्येन विवेकेनेव सज्जनः॥ — वही, 13

5- प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान् गुणः।
स्यन्दतीन्दुरिवानन्दं सम्भोगावसरोदितः॥— वही—14

अन्ततः आचार्य क्षेमेन्द्र जैसे उपारचेता का सम्बल प्राप्त कर वह पल्लवित एवं पुष्पित होकर काव्याचार्यों की दृष्टि में काव्य की आत्मा रूप महत्वपूर्ण पद को भी प्राप्त करने में समर्थ सिद्ध हो सका। इस सम्बन्ध में डा0 मनोहरलाल गौड़ का निम्नलिखित कथन सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है ——

"रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट एवं कुन्तक आदि अनेक प्रतिष्ठित आचार्यों द्वारा जो विस्तारपूर्वक औचित्य का विवेचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि विक्रम की 9वीं – 10वीं शती में 'औचित्य' समीक्षा-चर्चा का एक प्रमुख विषय था। क्या अलंकारवादी, क्या ध्वनिवादी और क्या रसवादी सभी आचार्य अपनी-अपनी दृष्टि से इसकी परीक्षा करना आवश्यक समझते थे। क्षेमेन्द्र इससे अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित हुए और इन्होंने 11 वीं शती में औचित्यमूलक स्वतन्त्र मार्ग स्थापित किया।"[1]

(3) औचित्य के प्रकार

काव्य के प्रत्येक आवश्यक अंग में औचित्य का समावेश अवश्यम्भावी है। अतः इस दृष्टि से आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' में लिखा है कि औचित्य के अनन्त प्रकार होते हैं, जिनकी गणना करना असम्भव ही सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में उन्होंने उसके 27 प्रकारों का उल्लेख किया है और उनमें से प्रमुख प्रकारों के उदाहरणों का प्रतिपादन किया है तथा यह निर्देश किया है कि अवशिष्ट औचित्य प्रकारों के उदाहरणों की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए।[2] औचित्यविचारचर्चा में औचित्य के 27 प्रकारों का नामोल्लेख इस प्रकार है ——[3]

1- भारतीय काव्यशास्त्र, पृ0 160 सम्पादक डा0 जयभानु सिंह

2- अन्येषु काव्याङ्गेष्वनयैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्।
तदुदाहरणान्यानन्त्यान्न प्रदर्शितानीत्यलमतिप्रसङ्गेन॥ औ0वि0चर्चा, -39

3- पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि।
काव्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्॥— वही, 8-10

(1) पद (2) वाक्य (3) प्रबन्ध (4) गुण (5) अलंकार (6) रस (7) क्रिया (8) कारक (9) लिंग (10) वचन (11) विशेषण (12) उपसर्ग (13) निपात (14) काल (15) देश (16) कुल (17) व्रत (18) तत्व (19) सत्व (20) अभिप्राय (21) स्वभाव (22) सारसंग्रह (23) प्रतिभा (24) अवस्था (25) विचार (26) नाम (27) आशीर्वाद।
औचित्य के प्रमुख प्रकारों का सोदाहरण विश्लेषण आवश्यक सिद्ध हो जाता है।

प्रबन्धौचित्य :—

प्रबन्धकाव्य की विषय-वस्तु का प्रस्तुतीकरण उचित रूप में होना चाहिए, जिससे वह सहृदय व्यक्तियों को एक चामत्कारिक आनन्दानुभूति से अवगत करा सके। यदि उक्त तथ्य की अवमानना करके काव्य-रचना सम्पन्न की गयी तो वह 'कुमारसम्भव' के समान आलोचना का विषय बन जायेगी। इसकाव्य के अष्टम सर्ग में महाकवि कालिदास द्वारा जगत् पिता भगवान् शंकर एवं जगत् माता भगवती पार्वती की रति-क्रीड़ा सामान्य दम्पति की रति-क्रीड़ा के रूप में प्रदर्शित की गयी है,[1] जो सर्वथा अनुचित कही जायेगी। इसे आचार्य क्षेमेन्द्र ने प्रबन्ध काव्य के लिए सर्वथा अनुचित बताया है।[2] इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने इसे अपने माता-पिता के सम्भोग-चित्रण के समान अनुचित सिद्ध किया है।[3]

गुणौचित्य :—

प्रसाद, माधुर्य एवं ओज आदि गुण काव्य में तभी सौन्दर्य का प्रतिपादन करते हैं, जब वे प्रस्तुत अर्थ के सर्वथा अनुरूप होते हैं। प्रस्तुत अर्थ के परिप्रेक्ष्य में ही काव्य में गुणों का समावेश किया जाना चाहिए। माधुर्य एवं प्रसाद गुणों का समावेश विप्रलम्भ शृंगार आदि रसों के विवेचन में हृदयाह्लादक सिद्ध होगा। इसी प्रकार वीर पुरुष की ओजस्वी वाणी का विश्लेषण करने हेतु ओज गुण महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। 'वेणी संहार' नाटक के प्रथम अंक में भीमसेन की निम्नलिखित उक्ति ओजगुण से प्लावित होकर सहृदयों की प्रसन्नता का प्रतिपादन करती है —

1- दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुतपाणिपल्लवा।
शीतलेन निरवापयत् क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः॥ — कुमारसम्भव, 8/42

2- अम्बिकासम्भोगवर्णनं परमरसरीतिमुचितमनौचित्यमनया (त) तानिव पाणितो रूपमुद्गतिविलोचनस्य
त्रिलोचनस्य भगवतः त्रिजगद्गुरोरनुचितं तेन अनौचित्येन परं प्रबन्धार्थः पुष्णाति।
— औचित्यविचारचर्चा, पृ० 120

3- किन्तु रतिः सम्भोगशृंगाररूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया। तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णन-

चंचद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात

संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।

स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-

रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

इस श्लोक में ओज गुण का समावेश भीमसेन की वीरता रूप प्रस्तुत अर्थ का सर्वथा अनु-रूपत्व प्रतिपादित करता है।

<u>अलंकारौचित्य :—</u>

इस सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलं-कारों की प्रायोगिक स्थिति से कवि के कथन का सौन्दर्य उसी प्रकार अभिवृद्धि को प्राप्त होता है जिस प्रकार उन्नत उरोजों पर लटकते हुए हार से मृगलोचनी स्त्री का हृदय।[1] किसी अलंकार के अलंकारत्व की सिद्धि उसके प्रस्तुत अर्थ एवं रस के परिपोषक होने पर होती है। ऐसी स्थिति के प्राप्त न होने पर अलंकार अनौचित्य को प्राप्त हो जाते हैं। रस-रहित काव्य में अलंकारों का आधिक्य, मात्र वर्ण-युक्त का प्रतिपादक होता है, हृदयानन्द का नहीं। अतः ऐसे अलंकार प्रधान काव्य को सहृदय चित्र-काव्य की संज्ञा से विभूषित करके काव्य की निम्न कोटि में समासीन कर देते हैं।[2]

<u>रसौचित्य :—</u>

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य के अभाव में जिस प्रकार अलंकार एवं गुण अपने अलंकारत्व एवं गुणत्व की परिसमाप्ति कर देते हैं उसी प्रकार रस भी अनौचित्य के प्रभाव से रसाभास के रूप में परिणत हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह निश्चित हो जाता है कि औचित्य ही एक ऐसा आवश्यक एवं परिव्यापक तत्व है जो काव्य को उत्तम कोटि में परिणमित कराने में सर्वथा समर्थ सिद्ध होता है। अतः जिस प्रकार मधुमास अशोक के वृक्ष को प्रस्फुटित कर देता है, उसी प्रकार औचित्य से परिपूर्ण रस सहृदय - हृदय को

मिव अत्यन्तमनुचितम् —— काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास, पृ0 274

1- अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।

पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा॥— औचित्यविचारचर्चा, श्लोक 15

2- स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा,

मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः।

भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुमः।

द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्॥ ,, —काव्यप्रकाश, 1/4वें श्लोक

प्रफुल्लित कर देता है।[1] इसी प्रकार जैसे मधुर एवं तिक्त आदि पदार्थों का उचित समावेश अपूर्व आस्वाद का स्वरूप धारण कर लेता है, वैसे ही शृंगार आदि रसों के समुचित समावेश से काव्य रसास्वादन-युक्त हो जाता है।[2] इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि रस काव्य का प्राण रूप अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु औचित्य के अभाव में सौन्दर्याभाव हो जाने के कारण वह सहृदय-हृदय का आकर्षक नहीं हो सकता है। इसके उदाहरण हेतु महाकवि कालिदास द्वारा विरचित 'कुमारसम्भव' नामक महाकाव्य के निम्नलिखित श्लोक को प्रस्तुत किया जा सकता है ——

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्,
बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां,
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥ — कुमारसम्भव, 3/39

भगवान् शंकर के हृदय में भगवती पार्वती के प्रति अभिलाषरूप शृंगार रस उत्पन्न करने के लिए उद्दीपन रूप में प्रस्तावित इस श्लोक में सम्भोग-शृंगार रूप प्रस्तुत अर्थ का प्रतिपादन करने की पूर्ण क्षमता विद्यमान है। अतः औचित्य से परिपूर्ण यह काव्य सहृदय-हृदय के आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु कहा जा सकता है।

औचित्य के अभाव में सरसता की असमर्थता का ज्ञान प्रतिपादित करने में निम्नलिखित श्लोक महत्वपूर्ण सिद्ध होगा ——

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं,
दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां,
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥— कुमारसम्भव, 3/28

इस श्लोक में कनेर के गन्ध-रहित एवं सौन्दर्ययुक्त पुष्प के स्वरूप सरस विवेचन द्वारा शृंगार रस की उत्पत्ति का प्रयास किया गया है, किन्तु यह प्रयास औचित्य के अभाव में प्रभावहीन सिद्ध हो जाता है।[3]

1- कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः
मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः॥— औचित्यविचारचर्चा, 16

2- यथा मधुरतिक्तादिरसाः कुशलयोजिताः।
विचित्रास्वादतां यान्ति शृंगाराद्यास्तथाविधः॥— वही, —18

3- भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग2 पृष्ठ 99-100 आचार्य बलदेव उपाध्याय।

लिंगौचित्य :—

संस्कृत भाषा के व्याकरण के अनुसार शब्दों के तीन लिंगों का निर्धारण किया गया है। अतः आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार इन तीनों लिंगों में से प्रस्तुत अर्थ में उससे सम्बन्धित विशिष्ट लिंग के शब्दों का उचित प्रयोग करना चाहिए। इसके विवेचन-हेतु उन्होंने निम्नलिखित श्लोक को प्रस्तुत किया है —

निद्रा न स्पृशति त्यजत्यपि धृतिं धत्ते स्थितिं न क्वचित्।
दीर्घां वेत्ति कथां व्यथा, न भजते सर्वात्मना निर्वृतिम्।
तेनाराधयता गुणांस्तव जयध्यानेन रत्नावली,
निःसंगेन परांगनापरिगतं नाम्नापि नो सह्यते॥[1]

इस श्लोक में रत्नावली के विरह से व्यथित राजा उदयन की विरहावस्था का मनोरम चित्रण सम्पादित किया गया है। इस चित्रण में कवि ने अन्य सम्भावित लिंगों की उपेक्षा करके निद्रा, धृति एवं स्थिति आदि शब्दों में जो स्त्रीलिंग का प्रयोग किया है वह प्रस्तुत अर्थ का परिपोषक होने के कारण सर्वथा औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है।

इसी प्रकार लिंग के अनौचित्य का विवेचन करने हेतु आचार्य क्षेमेन्द्र ने निम्नलिखित उदाहरण का प्रस्तुतीकरण किया है —

वरुणरणसमर्था स्वर्गभंगे कृतार्था,
यमनियमनशक्ता मारुतोन्माथशक्ता।
धनदनिधनसज्जा लज्जते मर्त्ययुद्धे,
दशवदनबलचण्डा मण्डली मद्भुजानाम्॥[2]

इस श्लोक में कवि को त्रैलोक्यविजयी रावण की भुजाओं की कठोरता का प्रतिपादन अभीष्ट है, जिसकी सार्थकता भी सिद्ध होती है, किन्तु 'मण्डली' शब्द में स्त्रीलिंग का प्रयोग उचित नहीं प्रतीत होता है। 'नाम्नैव स्त्रीति पेशलम्' इस सिद्धान्त के अनुसार स्त्री-विषयक शब्द स्वभावतः सौकुमार्य के अभिव्यंजक होते हैं। अतः 'मण्डली' शब्द के द्वारा रावण की भुजाओं की कठोरता सुकुमारता में परिणत हो जाती है।

1- औचित्यविचार चर्चा, पृ० 140-41

2- वही, पृ० 141

नामौचित्य :—

विभिन्न कार्यों का सम्पादन करने-हेतु एक ही व्यक्ति को विविध नामों से अभिहित किया जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य में कामदेव को 'मदन' (प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में मद उत्पन्न करने से) 'कन्दर्प' (कं न दर्पयतीति कन्दर्पः अर्थात् सभी प्राणियों के दर्प का दलन करने से), 'अनंग' (रूपाभाव से) 'मनसिज' (प्राणियों के मन में उत्पन्न होने से), 'पुष्पधन्वा' (फूलों का धनुष होने से 'पंचबाण' (पाँच बाणों से) आदि विविध संज्ञाओं से विभूषित किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत अर्थ के अनुकूल किसी वस्तु का नाम चयन किए जाने पर कविकी कुशलता का परिज्ञान होता है।[1] इस तथ्य की परिपुष्टि में निम्नलिखित श्लोक सर्वथा युक्ति-युक्त प्रतीत होता है ——

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं,
प्रथमपि मनो मे पंचबाणः क्षिणोति।
किमुत मलयवातान्दोलित पाण्डुपत्रै-
रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वंकुरेषु॥— कुमारसम्भव, 3/42

इस उदाहरण में कामदेव के लिए 'पंचबाण' शब्द का प्रयोग किया गया है। जो सर्वथा सार्थक प्रतीत होता है। उसकी सार्थकता का रहस्य यह है कि विरह से व्यथित व्यक्ति के लिए पंचबाण रूप उसकी प्रियतमा का वियोग ही पर्याप्त कष्टसाध्य सिद्ध होता है और जब अर्थात् बाण रूप कामोत्तेजना के अभिवर्द्धक आम्र-मंजरी आदि तत्वों का उसी समय आविर्भाव हो जायेगा तो उस विरही व्यक्ति के लिए विरह का कष्ट सर्वथा असाध्य प्रतीत होने लगेगा। अतः उक्त प्रसंग में कामदेव के लिए 'पंचबाण' नाम का प्रयोग सर्वथा औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। इसके स्थान की पूर्ति 'मदन' 'अनंग' 'कन्दर्प' एवं 'पुष्पधन्वा' आदि इसके समानार्थक शब्दों द्वारा सर्वथा असम्भाव्य होगी। इसी प्रकार नाम के अनौचित्य रूप का निदर्शन निम्नलिखित श्लोक द्वारा प्राप्त हो जायेगा —

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति,
यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा,
भस्मावशेषं मदनं चकार॥— कुमारसम्भव, 3/72

1- नाम्नकर्मानुरूपेण ज्ञायते गुणदोषयोः।
काव्यस्य पुरुषस्येव व्यक्तिः संवादपातिनी॥— औचित्यविचारचर्चा, —38

इस श्लोक में आगत 'भव' शब्द को आचार्य क्षेमेन्द्र ने नामौचित्य के अनुचित रूप में स्वीकार किया है।[1] आचार्य क्षेमेन्द्र की इस स्वीकारोक्ति को उपयुक्त न सिद्ध करते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि —

"परन्तु मुझे तो कालिदास के इस शब्द प्रयोग में अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। अवसर संहार का ही है, परन्तु पद्य के तृतीय चरण में अग्नि के जन्म की बात अवसर प्राप्त है। शंकर के नेत्र से अग्नि का जन्म हो रहा है और वही वह्नि मदन को जलाने में कृतकार्य होता है। यहाँ शंकर का काम केवल अग्नि का उत्पादन मात्र है, मदन के भस्म करने से उनका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में 'भव' शब्द का कालिदासीय प्रयोग औचित्य की मात्रा के भीतर ही है।"[2]

इस सम्बन्ध में मेरा अपना व्यक्तिगत अभिमत यह है कि आचार्य प्रवर उपाध्याय ने पटुता की उपाधि से विभूषित होते हुए भी आचार्य क्षेमेन्द्र के अन्तर्मन को समझने का प्रयास नहीं किया है अथवा समझते हुए भी अपने वैशिष्ट्य का प्रदर्शन करने के लिए ही उक्त विरोधी अभिमत को व्यक्त किया है। उक्त उदाहरण में नाम के अनौचित्य का प्रतिपादन करने में आचार्य क्षेमेन्द्र का अभिप्राय मात्र इतना है कि यहाँ भगवान् शंकर का संहारक रूप प्रस्तुत करके निमित्त रूप अग्नि से कामदेव का संहार कराया गया है। वस्तुतः संहार करने वाले भगवान् शंकर ही हैं, अग्नि तो उनका सहयोगी मात्र सिद्ध होता है। अतः ऐसी स्थिति में विनाश के समय विकास रूप 'भव' (उत्पत्ति का प्रतीक) नाम का प्रयोग नाम के अनौचित्य की ही परिपुष्टि करेगा औचित्य की नहीं।

इस प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा विवेचित औचित्य के विविध प्रकारों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'औचित्य' काव्य का व्यापक एवं मौलिक तत्व है, जिसके अभाव में काव्य या नाटक चामत्कारिक गुणों से हीन प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य बलदेव उपाध्याय का निम्नलिखित कथन सर्वथा युक्ति-युक्त प्रतीत होता है —

"काव्य-तत्व की समीक्षा करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चमत्कार ही काव्य का सर्वस्व है। चमत्कार से युक्त शब्द और अर्थ के साहित्य को ही 'काव्य' कहते हैं। इसी चमत्कार को भिन्न भिन्न आलंकारिकों ने अपने अलंकारसम्प्रदाय के अनुसार

1- संहारावसरे रुद्रस्य भवाभिधानमनुचितमेव। — औचित्यविचारचर्चा, पृ० 158

2- भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग 2, पृ० 104 आचार्य बलदेव उपाध्याय

भिन्न-भिन्न नाम दिए हैं। काव्यगत चमत्कार को ही आनन्दवर्धन 'ध्वनि' के नाम से पुकारते हैं, कुन्तक इसी को 'वक्रोक्ति' कहते हैं, अभिनवगुप्ताचार्य इसी को 'चित्रूप' का अभिधान देते हैं तथा क्षेमेन्द्र इसी चमत्कार को 'औचित्य' संज्ञा से अभिहित करते हैं। काव्य की आत्मा तो एक ही है, परन्तु उसके लिए व्यवहृत शब्द ही अनेक हैं। यों कुन्तक के काव्य लक्षण को खण्डित करते हुए महिमभट्ट ने अपने व्यक्ति विवेक के प्रथम विमर्श में इस रहस्य का विवेचन बड़े ही सुन्दर शब्दों में किया है। उनकी सम्मति में भी लोक और शास्त्र में व्यवहृत शब्द और अर्थ से काव्यगत शब्द तथा अर्थ की जो विशिष्टता है वह या तो औचित्य रूप है या ध्वनि रूप है। कोई उसी तत्व के लिए 'वक्रोक्ति' शब्द का भी व्यवहार करते हैं। इस तत्व के विवेचन[1] में केवल नामों का ही भेद है, मूल तत्व एक ही है। औचित्य का यह ऐतिहासिक समीक्षण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि 'औचित्य' साहित्यशास्त्र का नितान्त मौलिक तथा व्यापक तत्व है। आनन्दवर्धन से पूर्व प्राचीन आलंकारिकों ने परोक्ष रूपेण, परन्तु उनसे अर्वाचीन साहित्यकारों ने प्रत्यक्षरूपेण, काव्य में औचित्य का गौरव स्वीकार किया है। किसी भी युग में हम इसे नितान्त अज्ञात तथा अपरिचित तथ्य नहीं कह सकते। सच्ची बात तो यह है कि औचित्य भारतीय आलंकारिकों की संसार के आलोचनाशास्त्र को महती देन है। जितना प्राचीन तथा सांगोपांग विवेचन इसका भारत में हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं। यह हमारे साहित्यशास्त्र के महत्व का पर्याप्त परिचायक है।[2]

(३) औचित्य का अन्य साम्प्रदायिक तत्वों से सम्बन्ध

आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने इस तथ्य का भी प्रतिपादन किया है कि वह काव्य के सभी आवश्यक तत्वों में व्याप्त रहता है। इसके विपरीत अन्य आचार्यों ने रस, अलंकार, रीति, ध्वनि एवं वक्रोक्ति को भी काव्य की आत्मा के प्रत्याशी रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार औचित्य के साथ इनके सम्बन्धों की स्थापना की जे जाती है।

1- यत्तु प्रसिद्धोपनिबन्धनव्यतिरेकित्वमिदं शब्दार्थयोरौचित्यमात्र-पर्यवसायि स्यात्, प्रसिद्ध विवेचनव्यतिरेकि प्रतीयमानाभिव्यक्तिपरं वा स्यात्। प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणः शब्दार्थोपनिबन्धनवैचित्र्यस्य प्रकारान्तरासम्भवात्। द्वितीयपक्षपरिग्रहे पुनः ध्वनेरेवैतं लक्षणकरणं कथितं भवति, अभिन्नत्वात् वस्तुनः। अतएव चास्य त एव प्रभेदाः तान्येव उदाहरणानि वेदि-तव्यानि। — व्यक्तिविवेक, पृ० 125-26

2— भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग 2 पृ० 108-9 आचार्य बलदेव उपाध्याय

औचित्य और रसः—

आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य में रस को सर्वाधिक उत्कर्ष का आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया है एवं औचित्य को रसयुक्त काव्य का प्राण स्वरूप सिद्ध किया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में रस व्याप्य एवं औचित्य व्यापक सिद्ध हो जाता है। औचित्य से संयुक्त रस ही सहृदयों के चित्त को आह्लादित करने में समर्थ सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि जिस प्रकार मधुमास ही अशोक वृक्ष को अंकुरित करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार औचित्य से सुशोभित रस अन्तःकरण में व्याप्त होकर सहृदय के मन को प्रफुल्लित करता है।[1] जिस प्रकार मधुर एवं तिक्त आदि लौकिक रस उचित मात्रा से मिलाये जाने पर अपूर्व आस्वाद पैदा करते हैं, उसी प्रकार शृंगार आदि रस औचित्य का साहचर्य लेकर यदि काव्य में समुपस्थित होते हैं तो अपूर्व आनन्द की अनुभूति कराते हैं।[2] रसों की पारस्परिक सांयोगिक स्थिति में औचित्य का समावेश सर्वथा आवश्यक होता है। उसके अभाव में रसापकर्ष की प्रतीति होने लगती है। आचार्य क्षेमेन्द्र से पूर्व आनन्दवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने रस और औचित्य के सम्बन्ध की विस्तृत विवेचना कर दी थी। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक में औचित्य के स्वरूप का इतना उपयुक्त विवेचन प्रस्तुत किया है कि काव्यालोचकों की दृष्टि में काव्य का प्राणभूत रस तत्व अगोचर होकर औचित्य के रूप में दिखायी पड़ने लगा। अन्ततः उसे काव्य की आत्मा के स्थान पर भी प्रतिष्ठित करने लगे। काव्यालोचकों की इस भावना के प्रति आचार्य अभिनव गुप्त का कथन रस और औचित्य के विशिष्ट सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। उनका कथन है कि औचित्य का अभिप्राय तभी बोधगम्य हो सकता है जब जिसके प्रति उसे उचित बताया जाय, वह वस्तु भी विद्यमान हो। औचित्य का नैश्चित्य एक सम्बन्ध विशेष मात्र होता है जबकि इसके पूर्व हमें इस सम्बन्ध के आधार पर रूप रस की खोज करनी पड़ेगी। उसके अभाव में औचित्य का अस्तित्व व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा।

1- कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः॥ — औचित्यविचारचर्चा, — 16

2- यथा मधुरतिक्ताद्यास्तु रसाः युक्त्योजिताः।
विचित्रास्वादतां यान्ति शृंगाराद्यास्तथात्मिकाः॥— वही, 18

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि रस और औचित्य का अत्यन्त अन्तरंग सम्बन्ध है। औचित्य को रस-रहित काव्य की आत्मा मानना कदापि उचित न कहा जा सकेगा। उसके अस्तित्व की सार्थकता रसाधार पर ही सिद्ध हो सकेगी। आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस और औचित्य के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए लिखा है कि काव्य का प्राणरूप रस है तथा जीवित-भूत औचित्य सिद्ध होगा। दोनों को एक रूप नहीं माना जा सकता है ——

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि रस सिद्ध काव्य में चामत्कारिक अनुभूति का कारण औचित्य होता है। उसके अभाव में सहृदय की हृदयाह्लादिता अपूर्ण ही रह जायेगी। रस के समावेश से काव्य उसी प्रकार परिपुष्ट हो जाता है जिस प्रकार पारद रस का सेवन करने से शरीर। जिस प्रकार पारद का सेवन करने से शरीर चिरस्थायी हो जाता है, उसी प्रकार रस-युक्त काव्य में औचित्य अथवा चिरस्थायित्व रूप तत्व सिद्ध हो जाता है।[2] अतः यह निश्चित हो जाता है कि रस-युक्त काव्य का चिरस्थायी जीवन रूप तत्व औचित्य ही है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रस और औचित्य का नैकट्यपूर्ण सम्बन्ध प्रतीत होता है। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। अपने-अपने स्थान पर दोनों महत्वपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में डा० चन्द्रहंस पाठक का निम्नलिखित कथन सर्वथा युक्तियुक्त सिद्ध होगा ——

"क्षेमेन्द्र ने अपने गुरु अभिनवगुप्त और अभिनवगुप्त के भी परम व्याख्येय ध्वनिकार के सिद्धान्तों का खण्डन न करते हुए भी अपने औचित्य-सिद्धान्त को सार्वकालिक होने का महत्व प्रदान किया है। रस को काव्य का आत्म तत्व स्वीकार करके भी उनकी मौलिक स्थापना यह है कि जीवित तत्व ही उसका व्यवहारक है। आत्मा काव्य का नितान्त निष्क्रिय एकान्त अन्तः पक्ष है। बिना जीवन की संज्ञा पाये आत्मा व्यवहार्य नहीं हो सकता। जीवन या जीवित तत्व ही इसे व्यवहार की योग्यता प्रदान करता है। इस प्रकार जहाँ रस काव्य

1- औचित्यविचारचर्चा, —3

2- रसेन शृंगारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः। औचित्यं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विनाऽस्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवितत्वात्।
—— औचित्यविचारचर्चा, पृ० 113

3- अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा। औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
वही, —5

के केवल अन्तःपक्ष की ही सत्ता का पोषक है, वहाँ औचित्यापरपर्याय जीवित काव्य के बा-ह्य पक्ष को भी अन्तःपक्ष के साथ अविनाभावी रूप में मिलाकर काव्यव्यवहार के भीतर रस को भी व्यवहार्य बनाता है। इसीलिए औचित्य रस का भी जीवित है और रस-सिद्ध काव्य का भी स्थायी जीवित है — औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। काव्य के आत्म-स्थानीय तत्व रस का भी यह जीवित तत्व है, इसलिए काव्य के क्षेत्र में यह सर्वप्रधान है।[1]

औचित्य और अलंकार :—

विभिन्न काव्याचार्यों ने काव्य में अलंकारों का समावेश करते समय औचित्य को दृष्टिगत रखने के निर्देश दिए हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि जिस प्रकार मृतशरीर पर आभूषणों का संयोजन सौन्दर्य का प्रतिपादक नहीं हो सकता है उसी प्रकार औचित्य के अभाव में अलंकार-युक्त किन्तु जीवात्मा से रहित काव्य रसास्वादन के अनुरूप न सिद्ध हो सकेगा। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि औचित्य ही अलंकार के अलंकारत्व का कारण होता है। अलंकारों के औचित्य का विवेचन करते हुए ध्वन्यालोककार ने लिखा है कि काव्य के आ-त्मरूप शृंगार आदि रसों में यमक, शब्दश्लेष, खड्गबन्ध एवं मुरजबन्ध आदि आलंकारिक तत्वों का प्रतिपादन सर्वथा अनुचित सिद्ध होगा क्योंकि वहाँ उचित रूप में प्रयुक्त हुए रूपक आदि अलंकार ही अलंकारत्व को प्राप्त कर सकेंगे।[2] इस प्रकार उपयुक्त अलंकारों से समा-विष्ट होने पर काव्य-सूक्ति उसी प्रकार सुशोभित होती है जिस प्रकार उन्नत उरोज रूप उचित स्थान पर लटकते हुए हार से कोई नवयुवती सौन्दर्यातिरेक से विभूषित प्रतीत होती है।[3]

अन्ततः आचार्य क्षेमेन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार कण्ठ में मेखला, नितम्बों पर हार, हाथों में नूपुर एवं पैरों में केयूर धारण किए जाने से वे उन अंगों की शोभा के अभिवर्द्धक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनकी प्रायोगिक स्थिति उचित नहीं है, उसी प्रकार औचित्य के अभाव में काव्यशास्त्रीय अलंकार भी काव्य के सौन्दर्य का

1- काव्यशास्त्र, पृ० 142, सम्पादक — आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

2- ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्॥— ध्वन्यालोक, 2/17

3- अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा॥— औचित्यविचारचर्चा, — 25

अभिव्यक्ति करने में असमर्थ सिद्ध हो जाते हैं।[1] अतः आचार्य क्षेमेन्द्र का यह कथन औचित्य और अलंकार के सम्बन्ध विश्लेषण में सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि औचित्य के अभाव में अलंकारों का सौन्दर्य अभिव्यक्ति रूप कार्य समाप्त हो जाता है।—

औचित्येन विना रूचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ॥"

औचित्य और रीति :—

आचार्य वामन ने 'विशिष्टा पद-संघटना रीतिः' के रूप में रीति का लक्षण प्रतिपादित करते हुए उसे काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। आगे चलकर आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसी प्रकार 'औचित्य' नामक तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृति प्रदान की। ऐसी स्थिति में दोनों ही तत्व विशिष्ट श्रेणी में परिगणित किए जाते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'रीति' ग्रन्थ के महत्व को सर्वथा अस्वीकार किया है। अतः उन्होंने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' में इसके प्रतिपादन को आवश्यक नहीं समझा।

औचित्य और रीति के पारस्परिक सम्बन्धों की प्राप्ति औचित्य के प्रारम्भिक विवेचन की आधार भूमि 'ध्वन्यालोक' में होती है। ध्वन्यालोककार के अनुसार जब पदरचना औचित्य के समावेश से रसानुरूप सिद्ध हो जाती है तो वह संघटना कहलाती है। वक्त्रौचित्य, वाच्यौचित्य एवं विषयौचित्य से नियन्त्रित होकर वह संघटना सौन्दर्यातिरेक से विभूषित हो जाती है। यहाँ वक्त्रौचित्य का तात्पर्य यह है कि पदों की संघटना वक्ता या पात्र की स्वाभाविक स्थिति एवं मनोऽनुकूल होनी चाहिए। इसके अनुरूप न होने पर सहृदय की हार्दिक सुखानुभूति का कारण न सिद्ध हो सकेगी। जिससे वह वैरस्य का कारण सिद्ध हो जायेगी। वीररस से परि-पूर्ण 'वेणी संहार' रूप प्रसिद्ध काव्य में वक्ता रूप भीमसेन के वीरता से मण्डित कथन उचित कहे जायेंगे। एवं युधिष्ठिर द्वारा कथित पौरुषपूर्ण कथन अनौचित्य के प्रतिपादक सिद्ध हो जायेंगे। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि सुकुमार वर्णनीय विषय का प्रतिपादन कोमलकान्त पदावली में एवं कठोर वर्णनीय विषय का प्रतिपादन कठोर पदावली में करना चाहिए। इसी प्रकार वाच्यौचित्य का अभिप्राय प्रतिपाद्य विषय से है तथा विषयौचित्य का अभिप्राय काव्य की विविध विधाओं से है। अतः मुक्तक, युग्मक, अथवा सन्दानितक, विशेषक, कुलायक, कलाप, पर्यायबन्ध, खण्डकाव्य, महाकाव्य, रूपक, परिकथा, सकलकथा, खण्डकथा, कथा एवं आख्यायिका आदि विविधकाव्य की विधाओं के अनुकूल पदावली का

1- औचित्यविचारचर्चा, — 6

प्रयोग करना चाहिए। जिसका विस्तृत विवेचन ध्वन्यालोक में प्राप्त होता है।[1]

पद-संघटनारूप रीति के लिए औचित्य की अपरिहार्यता का प्रतिपादन करने के पश्चात् ध्वन्यालोककार ने उपनागरिका आदि शब्द-वृत्तियों तथा कैशिकी आदि अर्थ वृत्तियों के लिए भी औचित्य की आवश्यकता को आवश्यक बताया है।[2] इन वृत्तियों का औचित्य-अभाव रस-भंग का कारण बन जाता है।

इस प्रकार आचार्य आनन्द-वर्द्धन ने रसौचित्य को मुख्य स्थान प्रदान करते हुए वक्ता, वाच्य तथा विषय के औचित्यों का उसमें समावेश करके एवं उन्हें रीति का नियामक मानकर औचित्य और रीति के सम्बन्ध को पूर्णरूपेण स्पष्ट कर दिया है।

औचित्य और ध्वनि :—

औचित्य को काव्य की आत्मा के रूप प्रतिपादित करने वाले आचार्य क्षेमेन्द्र ने ध्वनि के महत्व को सर्वथा स्वीकार किया है। वस्तुतः औचित्य का महत्व रसादिध्वनि के आधार पर ही प्रतिभासित होता है। व्यक्तिगत रूप में उसका कुछ भी महत्व अवशिष्ट नहीं रह जाता है। रसादिध्वनि को यदि काव्य की आत्मा माना जायेगा तो औचित्य को उसका जीवन स्वीकार करना पड़ेगा। जिस प्रकार आत्मा के अभाव में जीवन का अस्तित्व असम्भव हो जायेगा, उसी प्रकार रसादि ध्वनि के अभाव में औचित्य का अस्तित्व भी असम्भव ही स्वीकरणीय होगा।

औचित्य-सिद्धान्त के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के स्वरूप-निर्धारण में ध्वन्यालोक का पूर्ण साहाय्य प्राप्त किया था। रसादि ध्वनि के विवेचन में आनन्दवर्द्धनाचार्य ने औचित्य के महत्व का प्रतिपादन करते हुए उसे रस के स्व-रूप का विधायक स्वीकार किया है।[3] आनन्दवर्द्धनाचार्य ने आचार्य क्षेमेन्द्र की उत्तरवर्ती भावना के ही अनुरूप इस तथ्य का भी उन्मीलन किया था कि शब्द, अर्थ तथा संघटना आदि सभी का प्रतिपादन रस के अनुरूप ही करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य अनेक तथ्य हैं जिनसे आनन्दवर्द्धनाचार्य की भावना का आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा अनुकरण करने की सूचना प्राप्त होती

1- ध्वन्यालोक, 3/6-9 तथा वृत्ति

2- रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः॥— ध्वन्यालोक, 3/33

3- अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।— ध्वन्यालोक, 3/14 की वृत्ति

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने लिखा है कि सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारकशक्ति, कृत्, तद्धित समास, निपात, उपसर्ग, एवं काल आदि से असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य रसादि रूप अर्थ ध्वनित होता है।[1] इसी प्रकार पद, वाक्य, तथा प्रबन्ध आदि से भी व्यंग्यमान अर्थ की प्रतीति हो जाती है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्द्धनाचार्य की उक्त उक्ति के अनुकरण में पदवाक्य, प्रबन्ध, क्रिया कारक, लिंग, वचन उपसर्ग, निपात, काल एवं देश आदि के औचित्य-भेद से काव्य में चमत्कारिक स्थिति को स्वीकार किया है। उदाहरण के रूप में आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार 'कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्'[2] को प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें विरह-प्रपीडित सागरिका की दयनीय स्थिति का सूचक 'कृशांगी' पद औचित्य का पूर्ण परिपोषक है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने उक्त पद को व्यंग्यमान विप्रलम्भ शृंगार का अभिव्यंजक माना है। इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तल के 'कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु'[3] में इस श्लोकांश में 'तु' रूप निपात से दुष्यन्त की पश्चात्वेदना का आधिक्य ध्वनित हो रहा है। यहाँ आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार निपातौचित्य की परिपुष्टि होती है। इसी प्रकार 'कुमारसम्भव' के 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः,'[4] इस श्लोकांश में 'कपालिनः' पदसर्वथा औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। यहाँ कवि भगवान् शंकर के प्रति भगवती पार्वती की विराग भावना को प्रस्फुटित करना चाहता है, जिसकी सिद्धि बीभत्स रस के अभिव्यंजक, 'कपालिनः' पद से ही हो सकती है। यहाँ पर यदि कवि 'कपालिनः' के स्थान पर 'पिनाकिनः' आदि इतर शब्दों का प्रयोग करता तो वह औचित्य का प्रतिपादक नहीं हो सकता था क्योंकि 'कपालिनः' से ध्वनित होने वाला बीभत्स रस प्रस्तुत विषय के अनुकूल होने के कारण उचित प्रतीत होता है तथा 'पिनाकिनः' पद वीर रस का अभिव्यंजक होने के कारण प्रस्तुत अर्थ से प्रतिकूल सिद्ध होकर अनौचित्य की संज्ञा से विभूषित हो जायेगा।

1- सुप्तिङ्वचन सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्॥ — ध्वन्यालोक, 3/16

2- परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः।
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्॥ — रत्नावली

3- मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥ — अभिज्ञानशाकुन्तलम् 3/38

4- द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी। कुमारसम्भव, 5/71।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषित किया है एवं आचार्य आनन्दवर्धन ने औचित्य से परिपुष्ट रसादिध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अतः दोनों आचार्यों की मान्यताओं का तुलनात्मक निष्कर्ष यह है कि रसादिध्वनि अपने आप में परिपूर्ण होने के कारण आत्मस्थानीय सिद्ध हो जाता है तथा औचित्य अपने आप में अपूर्ण होने के कारण साधनरूप हो जाता है। अतः ध्वनि अंगी एवं औचित्य उसका अंग बन जाता है।

औचित्य और वक्रोक्ति :—

वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा का स्थान प्रदान करने वाले आचार्य कुन्तक ने 'औचित्य' के महत्त्व को सहर्ष स्वीकार किया है। उन्होंने औचित्य को वक्रोक्ति की जीवात्मा के रूप में मान्यता दी है। औचित्य के अभाव में वक्रोक्ति आत्मस्थानीय होने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हो जायेगी। अतः अलंकार रीति एवं ध्वनि आदि की भांति वक्रोक्ति के साथ ही औचित्य के प्रगाढ़ सम्बन्ध की सूचना प्राप्त हो जाती है। आचार्य कुन्तक के अनुसार सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम रूप तीनों मार्गों में औचित्य की आवश्यकता होती है। वस्तु की स्वाभाविक परिपोषणा ही वक्रता का सर्वस्व है। इसका जीवन-स्वरूप औचित्य से परिपूर्ण अभिधान है। काव्य में किसी भी स्थान पर औचित्य का अभाव सहृदयों की आनन्दानुभूति में अभाव का कारण हो जाता है।[1]

आचार्य कुन्तक ने विविध प्रकार की वक्रताओं में औचित्य के समावेश को आवश्यक बताया है। पदवक्रता के सम्बन्ध में उनका कथन इस प्रकार है —

'पदस्य तावदौचित्यं बहुविधभेदभिन्नो वक्रभावः।'[2]

आचार्य कुन्तक के अनुसार प्रबन्ध के किसी अंश पर वक्रता के औचित्य का अभाव सम्पूर्ण ग्रन्थ को उसी प्रकार दोषयुक्त सिद्ध कर देता है, जिस प्रकार किसी एक स्थान पर जल जाने वाला सम्पूर्ण वस्त्र दोषयुक्त माना जाता है। इस प्रकार औचित्य को वक्रता का जीवन रूप कहा जा सकता है।

1- स्वभावस्याञ्जसेन प्रकारेण परिपोषणमेव वक्रतायाः परं रहस्यम्। उचिताभिधानजीवितत्वाद् वाक्यस्यैकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः ॥— वक्रोक्तिजीवित, 1/57 वृत्ति

2- वक्रोक्तिजीवित

आचार्य कुन्तक ने पद, वाक्य तथा प्रबन्ध आदि सभी प्रकार की वक्रताओं के विवेचन में औचित्य के समावेश को सर्वथा आवश्यक बताया है। इसीलिए कुछ स्थानों में औचित्य और वक्रता के एकत्व की प्रतीति होती है। आचार्य कुन्तक की पदवक्रता, लिंगवक्रता एवं कालवक्रता आदि का आचार्य क्षेमेन्द्र के पदौचित्य, लिंगौचित्य एवं कालौचित्य आदि से सर्वथा साम्य प्रतीत होता है। यह साम्य-प्रतीति वस्तुतः भ्रामक सिद्ध होती है, क्योंकि औचित्य और वक्रोक्ति को एक सम्मिलित रूप नहीं दिया जा सकता है। विविध वक्रताओं का आधार स्वरूप औचित्य वक्रोक्ति की सिद्धि का एक साधन मात्र सिद्ध होता है और वक्रोक्ति साध्य। अन्ततः काव्य का प्रतिपाद्य रस माना जाता है, अतः ये दोनों ही उसके साधन के रूप में प्रतीत होने लगते हैं।

इस प्रकार हम उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि औचित्य तत्व अपने प्रतिद्वन्द्वियों का पूर्ण विरोध नहीं कर सका। उन्हें अपने साथ मिलाने का उसका यथेष्ठ प्रयास रहा है, जिसमें उसे पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हो चुकी है। रस, अलंकार, रीति, ध्वनि एवं वक्रोक्ति रूप काव्य-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित सभी तत्वों के साथ उसका प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध की स्थापना में कहीं वह श्रेष्ठ सिद्ध हुआ है और कहीं निम्नता की ओर भी प्रस्थान कर गया है।

(5) पाश्चात्य काव्यशास्त्र में औचित्य

पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय इतिहास में औचित्य के स्वरूप पर विचार किया गया है, किन्तु पाश्चात्य समालोचकों की एतत्सम्बन्धी विचारधारा सर्वथा निम्नकोटि की प्रतीत होती है। भारतीय काव्याचार्यों का गम्भीर विवेचन उसे सर्वथा महत्वहीन सिद्ध कर देता है। पाश्चात्य काव्यालोचकों ने औचित्य के बाह्य स्वरूप का यत्किंचित् विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके इस विवेचन कार्य में काव्य का प्राण रूपरसौचित्य उपयुक्त स्थान नहीं प्राप्त कर सका अतः आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में पाश्चात्य साहित्य समीक्षा में औचित्य बाह्य-सौन्दर्य का साधन है, भारत में वह कला का प्राण, अन्तरंग तत्व है, दोनों की तुलना हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है। आधुनिक पाश्चात्य विवेचक औचित्य की विवेचना से विरत रहना ही अपना परम कर्तव्य समझते हैं।

पाश्चात्य समालोचकों में अरस्तू, लौंजाइनस, होरेस आदि प्रमुख हैं। इन समालोचकों ने अपने अपने ग्रन्थों क्रमशः पोयटिक्स (Poetics) रेटारिक (Rhetoric) On the Sublime, काव्यकला (Art of Poetry) में औचित्य का महनीय विवेचन प्रस्तुत किया है। इस विवेचन से औचित्य-सिद्धान्त का महत्व और भी अभिवृद्धि को प्राप्त हो जाता है।

समालोचना :—

औचित्य-सिद्धान्त की उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने लौकिक मान्यता के आधार पर औचित्य को काव्य की आत्मा के रूपमें उद्घोषित किया था। जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में जो कार्य, धर्म या वस्तु जिसके अनुकूल होती है वह उचित कहलाती है और उसी स्थिति पर वहाँ औचित्य की भावना का समायोजन प्राप्त होता है, उसी प्रकार काव्य में भी जो तथ्य जिसके अनुरूप होता है वह उचित होने के कारण औचित्य के स्वरूप की उद्भावना का कारण होता है। औचित्य के समावेश को रस, अलंकार, रीति, वृत्ति एवं वृत्ति आदि सभी में सर्वथा आवश्यक बताया गया है, क्योंकि औचित्य के अभाव में काव्य के उक्त महत्वपूर्ण अंगों का वैशिष्ट्य निरर्थक सिद्ध हो जायेगा। अतः यह निश्चित हो जाता है कि औचित्य ही काव्य का एक ऐसा आवश्यक तत्व है जो उसके सौन्दर्य की अभिवृद्धि का सर्वोत्तम कारण है। इस सम्बन्ध में डा० चन्द्रहंस पाठक का निम्नलिखित कथन सर्वथा युक्ति-युक्त प्रतीत होता है —

" किसी सिद्धान्त का साम्प्रदायिक रूप होता है जब वह क्षेत्रीय सम्प्रदायों के मान्यभूत सिद्धान्तों को अपना अंग बनाकर समेटता हुआ चला जाय और जिस क्षेत्र या विषय का वह सिद्धान्त होता है, उसका एक मात्र प्रधान तत्व बन बैठे। क्षेमेन्द्र के यहाँ औचित्य इसी प्रकार का साम्प्रदायिक सिद्धान्त है जो रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति और ध्वनि सम्प्रदायों की फूलमाला बनाता हुआ डोरे की भाँति उनके अन्तराल से निकलकर सुमेरु बन बैठा है।"[1]

आचार्य क्षेमेन्द्र की मान्यता के अनुसार औचित्य सर्वव्यापक तत्व है। इसकी इस व्यापकता की प्राप्ति काव्य के सभी आवश्यक अंगों में होती है। इसी आधार पर इसके काव्यात्मत्व की सिद्धि होती है। लौकिक व्यवहार में औचित्य की अवहेलना करने वाला व्यक्ति उपहास का पात्र सिद्ध हो जाता है, इसी स्थिति की प्राप्ति काव्य में इसकी अवहेलना करने-वालों को भी होती है। जिस प्रकार किसी नवयौवना के वक्षस्थल पर मोतियों की माला उसके सौन्दर्य की अभिवृद्धि का कारण सिद्ध होती है, किन्तु वही माला यदि उसके पैरों में डाल दी जाय तो वह उसे उपहास का पात्र निर्मित करने में अपना सम्पूर्ण सहयोग समर्पित कर देती है, उसी प्रकार काव्य में " अलंकार आदि का उचित सन्निवेश उसके सौन्दर्य की अभि-

---

1. काव्यशास्त्र, पृ० 143 सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

वृद्धि का कारण सिद्ध होता है, किन्तु उनके सन्निवेश-कार्य में यदि औचित्य की उपेक्षा की गयी तो वे काव्य को उपहास की स्थिति में समासीन कर देते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के जीवन में शौर्य, औदार्य एवं कारुण्य आदि गुणों का महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी उनमें औचित्य की आवश्यकता सर्वथा आवश्यक होती है, क्योंकि औचित्य के अभाव में शरणागत व्यक्ति के ऊपर शौर्य का प्रदर्शन एवं आक्रामक शत्रु के प्रति कारुण्य का प्रदर्शन अवगुण की कोटि में परिगणित किए जाने लगेंगे, उसी प्रकार रौद्र आदि कठोर रसों में माधुर्य गुण का समायोजन एवं शृंगार आदि कोमल रसों के विवेचन में ओज गुण का समावेश काव्य के अपकर्ष का कारण सिद्ध हो जायेगा। इसी परिप्रेक्ष्य में आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है कि अलंकारों का अलंकारत्व एवं गुणों का गुणत्व तभी युक्तियुक्त प्रतीत होता है, जबकि उनका सन्निवेशन-कार्य उचित स्थान पर सम्पन्न होता है।[1]

अलंकार एवं गुणों की भांति विविध रसों के समायोजन में औचित्य के समावेश की अपरिहार्यता को आवश्यक बतलाया गया है। जिस प्रकार लौकिक जीवन में मधुर, अम्ल एवं तिक्त आदि पदार्थों का उचित समावेश भोजन की आस्वाद्यरमणीयता में चरम अभिवृद्धि का कारण प्रतीत होता है, उसी प्रकार काव्यमें रसों का औचित्यपूर्ण समायोजन उसकी सुन्दरता का सर्वस्व प्रतीत होता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने औचित्य को रस का सर्वस्व स्वीकार किया है एवं अनौचित्य को अपकर्ष का एक मात्र कारण सिद्ध किया है।[2] अन्ततः आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसी परिप्रेक्ष्य में उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है, जिससे काव्यशास्त्रीय इतिहास में औचित्य समालोचकों की औदार्य भावना का प्रतीक बन गया है। इस सम्बन्ध में डा० मनोहर लाल गौड़ की निम्नलिखित पंक्तियाँ सर्वथा ध्यातव्य हैं —

"औचित्य के आधार पर काव्य-समीक्षा का मार्ग दिखाकर क्षेमेन्द्र ने काव्यकला को जीवन के निकट ला दिया है। रस, अलंकार आदि के सिद्धान्त कलात्मक आदर्शवाद के हैं। औचित्य जीवन-प्रसूत सार्वभौम्य तत्व है। औचित्य के आदर्श से काव्य का स्रष्टा और समीक्षक दोनों ही उसे जीवन की तुला पर तोलेंगे क्योंकि सार्वभौम्य के स्पष्ट दर्शन जीवन में ही होते हैं।[3]

1- उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः॥ — औचित्यविचारचर्चा, 6

2- अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा। ध्वन्यालोक, 3/14 की वृत्ति

3- भारतीय काव्यशास्त्र, पृ० 166 सम्पादक डा० जयभानु सिंह

नवम अध्याय

उपसंहार

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

—— आनन्दवर्धन

नवम अध्याय

उपसंहार

संस्कृत के 'काव्यशास्त्रीय इतिहास में काव्य की आत्मा को लेकर काव्याचार्यों ने रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य आदि विविध सम्प्रदायों को प्रतिष्ठापित किया है, जिसका विस्तृत विवेचन इस प्रबन्ध के तृतीय से लेकर अष्टम अध्यायों तक प्रस्तुत किया गया है। इस विवेचन द्वारा हमें इस तथ्य की प्राप्ति होती है कि उक्त सम्प्रदायों के प्रतिष्ठापक आचार्यों ने काव्यात्म सम्बन्धी अपनी अपनी मान्यताओं को मान्य बनाने के लिए यथेष्ट प्रयास किया, जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें कुछ अन्य आचार्यों का भी समर्थन प्राप्त हो गया। इस अध्याय में सभी सम्प्रदायों की वास्तविकता का अध्ययन करने के उपरान्त निष्कर्ष रूप में काव्य कीआत्मा का निर्धारण किया जायेगा।

(1) सर्वप्रथम जिन साम्प्रदायिक आचार्यों ने रस तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में विभूषित किया है, उनकी मान्यताओं का तृतीय अध्याय में अध्ययन किया जा चुका है। रस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य भरत ने 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'[1] के रूप में उसे सार्वकालिक तथा सर्वोपरि सिद्ध कर दिया है। यद्यपि उनका रस विवेचन नाट्य को आधार मानकर किया गया है, किन्तु नाट्य तथा काव्य में कोई विशेष पार्थक्य नहीं प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनकी रस सम्बन्धी मान्यता को निर्विरोध रूप से स्वीकार किया है। इन आचार्यों में अग्निपुराणकार,[2] आनन्दवर्धनाचार्य[3] भट्टतौत,[4] प्रतिहारेन्दुराज,[5] अभिनवगुप्त,[6] महिमभट्ट[7] भोजराज,[8] रुय्यक[9]

1- नाट्यशास्त्र, 6/33

2- न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति॥
वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्॥— अग्निपुराण, 339/12,13

3- रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥— ध्वन्यालोक, 2/3

4- प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यम्। न नाट्य एव च रसाः काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः। तदाहुः। काव्यकौतुके प्रयोगत्वमनापन्ने काव्येऽनास्वादसम्भवः।— अभिनवभारती प्रथम भाग, पृ० 29।

विश्वनाथ[1] केशवमिश्र,[2] तथा पण्डितराज जगन्नाथ[3] आदि का परिगणन किया जा सकता है। इन आचार्यों ने रस के सुखात्मक स्वरूप को समुपस्थित करते हुए उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित करने में अपना अपूर्व सहयोग समर्पित किया है। कुछ आचार्यों ने रस के सुखात्मक अथवा आनन्दात्मक स्वरूप का विरोध किया है किन्तु उनका यह विरोध डा० श्री जयमन्त मिश्र की इन पंक्तियों द्वारा सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध किया जा सकता है —कि काव्य रस को सुख रूप मान लेने पर उसके आत्मत्व पर आक्षेप करते हुए कुछ लोगों ने कहा है कि न्याय शास्त्र के अनुसार रस तथा सुख दोनों ही गुण रूप हैं तो 'रस' गुण ही माना जा सकता है न कि आत्मा। इसके समाधान में यह कहना असंगत न होगा कि काव्य-शास्त्रीय रस न तो लौकिक मधुरादि षड्रस रूप है और न यह नैयायिकों का आत्मगत

5- रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यतः।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्॥— काव्यालंकारसारसंग्रह टीका 83

6- तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्॥— ध्वन्यालोक लोचन, पृ0 85

7- काव्यस्यात्मनि अंगिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।— व्यक्तिविवेक, पृ0 22

8- रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते॥
शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्॥— सरस्वतीकण्ठाभरण, 5/1,3

9- ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

रसस्यांगिनो इत्यनेनान्वयः अंगिनः प्रधानस्य रसस्येत्यर्थः। एवं च रस, आत्मस्थानीय ------।
काव्यप्रकाश 8/1 एवं उस पर वामनी टीका
पृ0 462

1- रसादयस्तु जीवितभूता, नालंकारत्वेन वाच्याः। अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद्, रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। — अलंकारसर्वस्व, पृ 10

2- वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।— साहित्यदर्पण, 1/3

3- स्वादुपाके विना स्वाद्यं भोजनं निर्लवणं यथा।
तथैव नीरसं काव्यं स्यान्नो रसिकतुष्टये॥— अलंकारशेखर, 2

सुख रूप है। 'आनन्द आत्मा' इस उपनिषद् सिद्धान्त के अनुसार , जैसा कि मधुसूदन सरस्वती ने भी कहा है 'परमानन्द आत्मैव रसः' आत्मा ही आनन्द है न कि आनन्द उसका धर्म है। आत्मा की इसी सहज आनन्दरूपता की अभिव्यक्ति रस रूप में होती है, अतः नैयायिकों के सुख से आनन्द रूप काव्य रस विलक्षण है। यदि रस गुण रूप होता तो उसमें माधुर्यादि गुणों की स्थिति कैसे होती? क्योंकि गुण में गुण तो नहीं माना जाता है। अतः न्यायशास्त्रीय लौकिक रस से काव्यशास्त्रीय अलौकिक रस सर्वथा विलक्षण होने से आत्म रूप माना जा सकता है।[1]

इस प्रकार रस की आनन्दात्मक तथा प्रधानात्मक स्थिति के कारण ही अति-प्राचीन काल से लेकर आधुनिक समय तक काव्याचार्यों तथा कवियों ने उसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्द्धन के इस कथन से रस के महत्व की सीमा में और अभिवृद्धि हो जाती है कि काव्य के महत्वपूर्ण तत्वों में रस का स्थान सर्वोपरि है, अतः प्रबन्ध काव्य की रचना करते समय कवियों को सर्वथा रस के अनुकूल रहना चाहिए।[2] प्रसिद्ध समालोचक डा0 आनन्द प्रकाश दीक्षित ने रस-सिद्धान्त की महत्वपूर्ण तथ्यात्मक स्थिति का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि रस सिद्धान्त की महत्ता के प्रमुखतया तीन कारण हैं —— एक तो इसलिए कि उसकी व्यापकता दूसरे सिद्धान्तों से अधिक है। दूसरे एक सिद्धान्त के रूप में काव्य के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त ने बहुत ही महत्वपूर्ण तथा व्यापक विचार प्रस्तुत किए हैं। तीसरे, इसलिए कि इसका प्रभाव प्रायः सभी सिद्धान्तों पर पड़ा है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भामह, दण्डी आदि अलंकार-विवेचकों को भी किसी न किसी रूप में रस की मान्यता स्वीकार्य थी और ध्वनि, वक्रोक्ति, तथा औचित्य सिद्धान्त तो इसके परिपोष के लिए ही मानो उपस्थित हुए थे।[3] ऐसी स्थिति में हम डा0 नगेन्द्र के शब्दों में कह सकते हैं कि रस सिद्धान्त अपने व्यापक एवं विकासशील रूप में काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है, जिसके आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के सर्जनात्मक साहित्य का सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। जीवन के समस्त रूपों तथा विविध मूल्यों के साथ रस सिद्धान्त का पूर्ण

1- काव्यात्ममीमांसा, पृ0 322

2- कविना प्रबन्धमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्॥—ध्वन्यालोक, 3/14 वृत्ति

3- काव्यशास्त्र, पृ0 59 सम्पादक— आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

सामंजस्य है, जिसमें विभिन्न वादों के अन्तर्विरोध समाहित हो जाते हैं। रस सिद्धान्त मानववाद के दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित है। यह मानव को उसकी देह और आत्मा, [illegible] [illegible] शक्ति और सीमा तथा समस्त रागद्वेष के साथ स्वीकार करता है। इसलिए मानव के अतीत, वर्तमान और भविष्य के साथ इसका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जिस प्रकार मानववाद मानव को अन्तिम सत्य मानकर जीवन के विकास के साथ निरन्तर विकासशील है, उसी प्रकार मानव-संवेदना को चरम सत्य मानकर रस सिद्धान्त भी निरन्तर विकासशील है। जैसे जैसे जीवन की गतिविधि बदलती जाती है, वैसे-वैसे मानववाद की प्रकल्पना में भी संशोधन होता जाता है। ठीक इसी प्रकार जैसे - जैसे साहित्य की गतिविधि में परिवर्तन होता जाता है, वैसे-वैसे रस का स्वरूप भी व्यापक होता जाता है। जीवन की निरन्तर विकासशील धारणाओं और आवश्यकताओं का आकलन जिस प्रकार मानववाद में ही हो सकता है, उसी प्रकार साहित्य की विकासशील चेतना का परितोष भी रस सिद्धान्त के द्वारा ही हो सकता है। जीवन की भूमिका में जब तक मानव संवेदना से अधिक रमणीय सत्य की उद्भावना नहीं होती, तब तक रस सिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर काव्य में रस की महत्ता का वैशिष्ट्य निम्नलिखित रूप में समन्वित हो जाता है, किन्तु उसकी आत्मा रूप निर्भ्रान्त स्थापना संदिग्ध दिखायी देती है। रस वाच्य न होकर विभावादि के द्वारा व्यंजित होता है। अतः सहृदय को रस प्रतीति ध्वनित होती है। ऐसी स्थिति में ध्वनि के आश्रय से समन्वित होने के कारण रस ध्वनि का अंग बन जाता है। अंग किसी भी स्थिति में प्रधानत्व को नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः काव्य में रस-तत्व का महत्व सर्वाधिक होने पर भी उसका अंगत्व रूप उसे काव्य की आत्मा रूप महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी होने से वंचित कर देता है।

(2) आचार्य भरत द्वारा संस्थापित रस सम्प्रदाय के वैशिष्ट्य को सर्वथा अस्वीकार करते हुए भामह तथा दण्डी आदि आचार्यों ने पृथक् रूप से अलंकारसम्प्रदाय की स्थापना की है। इन आचार्यों के अनुसार अलंकार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ में चामत्कारिक सौन्दर्य के आधायक होते हैं। इस चामत्कारिक सौन्दर्य के कारण ही काव्य काव्यत्व की संज्ञा

1- [illegible], पृ0 47 सम्पादक — आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

प्राप्त करने में सक्षम होता है। अतः काव्य का सर्वस्व रूप होने के कारण अलंकार तत्व ही काव्य की आत्मा है। प्रमुख अलंकारवादी आचार्य भामह के अनुसार जिस प्रकार किसी स्त्री का मुख सौन्दर्य युक्त होने पर भी आभूषणों के अभाव में विशिष्ट सौन्दर्य का प्रतिपादक नहीं कहा जा सकता है उसी प्रकार कोई भी काव्य सरसता के विद्यमान होने पर भी अलंकारों के अभाव में रमणीयता का प्रतिपादक नहीं कहा जा सकता है।[1] अलंकारवादी आचार्यों ने रस, भाव, रसाभास तथा भावाभास एवं भावशान्ति को क्रमशः रसवद्, प्रेय, ऊर्जस्वि तथा समाहित नामक अलंकारों में अन्तर्भुक्त कर लिया है। इस प्रकार इन आचार्यों ने रस को काव्य का आवश्यक तत्व स्वीकार किया हुए[2] भी उसे अलंकार के रूप में ही मान्यता प्रदान की है। इन अलंकारवादी आचार्यों ने रस के समान ध्वनि के अस्तित्व को भी अस्वीकार किया है, किन्तु आनन्दवर्धनाचार्य तथा उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी प्रबल युक्तियों द्वारा उनकी मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए स्पष्ट शब्दों में ध्वनि के अस्तित्व की भी स्थापना की है। इसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय में 'ध्वनि का विरोध एवं उसका परिशमन' नामक परिच्छेद में सम्मिलित किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि भामह तथा दण्डी आदि आलंकारिक आचार्यों ने जिस अलंकार तत्व को सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा अनिवार्य तत्व के रूप में उद्घोषित किया था, ध्वनिवादी आचार्यों ने उसके महत्व को सर्वथा व्यर्थ सिद्ध कर दिया। इन आचार्यों केअनुसार अलंकारों का महत्व रसादि के उत्कर्षक रूप में विद्यमान होने पर ही निश्चत होता है, अतः रसादि के अभाव में अलंकारों की स्थिति काव्य में उसी प्रकार की होती है, जिस प्रकार मृत शरीर में ~~[illegible]~~ कटक तथा कुण्डल आदि आभूषणों कीहोती है। जिस प्रकार लोक में स्वाभाविकसौन्दर्य के विद्यमान रहने पर ही आभूषण उसमें आधिक्य का आधान करते हैं, उसी प्रकार च काव्य में विद्यमानरहने वाले सौन्दर्य के अलंकार अभिवर्धक सिद्ध होते हैं। इस संबंध में

1- काव्यालंकार, 1/13 भामह

2- रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा।
देवी समागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता॥— काव्यालंकार, 3/6 भामह
मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। — काव्यादर्श, 1/51 दण्डी
रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसादयम्।— अलंकारसारसंग्रह, 4 उद्भट
तस्मात् तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।— काव्यालंकार, 12/2 रुद्रट

डा0 आनन्दप्रकाश दीक्षित का यह कथन सर्वथा युक्ति युक्त सिद्ध होगा कि अलंकारों के प्रयोग ने कवि को एक ही साथ कई दिशाओं में कार्यरत किया। उसके प्रयोग के लिए उसे जीवन और जगत् का प्रत्यक्ष द्रष्टा बनना पड़ा और खुली खुली आँखों से उसने जो देखा उसके प्रभाव और स्वरूप को आँकने के लिए उसे समान अवस्थाओं की खोज करनी पड़ी। संयोजन के इस क्रम में उसने अपनी बुद्धि को सचेत रखने के साथ ही अपनी भावुकता तथा कल्पना को, विशेषतः कल्पना को भी जाग्रत रखा। अलंकारों की इसी उपयोगिता को दृष्टि में रखकर काव्यशास्त्री ने उसे काव्यस्वरूप के निर्धारण में प्रमुखता प्रदान की और इस प्रकार काव्य रचना में सौन्दर्य, कल्पना, बौद्धिकता, भावुकता और वास्तविकता के मिश्रण पर जोर दिया। वस्तुतः अलंकारवादी ने सौन्दर्य को ही काव्य का मूल तत्व मान-कर उसके भिन्न प्रयोगों की स्वीकृति दी है। परवर्ती केवल उसकी दुर्वच उक्ति के नाना प्रकारों की खोज में इनका ध्यान बाहरी रूप विधान की ओर अधिक आकृष्ट हो गया। परिणामतः 'सौन्दर्यमलंकारः' अथवा 'चारुत्वमलंकारः' कहकर आरम्भ में जिस सौन्दर्य की व्यापक भूमि तैयार की गयी थी और रस तक को उसके अन्तर्गत समेट लाने का प्रयत्न हुआ था, वही कालान्तर में अभिव्यंजना से अभिव्यंजनापेक्षित बनकर केवल भंगीभणिति मात्र रह गया।[1] ऐसी स्थिति में चारुत्वातिशयरूप अलंकार तत्व को काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता है।[2]

(3) अलंकारवादी आचार्यों की अपेक्षा रीतिवादी आचार्यों ने काव्य की आत्मा के सन्निकट पहुँचने का यत्किंचित् प्रयास किया है। इन आचार्यों ने वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली नाम रीतियों के स्वरूप को काव्य की आत्मा के स्थान पर प्रतिष्ठापित किया है। दण्डी आदि अलंकारवादी आचार्यों ने काव्य की शोभा के प्रतिपादक सभी तत्वों को अलंकार की संज्ञा से अभिहित किया था, इस प्रकार अलंकारों के अन्तर्गत गुणों का भी समावेश हो जाता है किन्तु रीति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वामन ने अलंकार तथा गुणों के पार्थक्य को पूर्णतया स्पष्ट किया है। उनकी मान्यता के अनुसार काव्य में सौन्दर्य के प्रतिपादक तत्व गुण है तथा उस

1- काव्यशास्त्र, पृ0 53 सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

2- अलंकारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः ॥

— ध्वन्यालोक, 2/5 वृत्ति

सौन्दर्य में अधिकता का प्रतिपादन करने वाले तत्व अलंकार की संज्ञा से अभिहित किए जाने चाहिए।[1] इस प्रकार गुण तथा अलंकारों के पार्थक्य का प्रतिपादन करके आचार्य वामन ने अलंकारों की अपेक्षा गुणों के वैशिष्ट्य को सिद्ध किया है। जिस प्रकार ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों को काव्य के नित्यधर्म के रूप में मान्यता प्रदान की है, उसी प्रकार आचार्य वामन ने भी काव्य में गुणों की स्थिति को स्थायित्व प्रदान करते हुए उनके अभाव में काव्य के सौन्दर्य को अनिश्चित सिद्ध कर दिया है।[2] इस सम्बन्ध में डा0 नगेन्द्र का यह कथन सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होगा कि वामन ने काव्य की आत्मा का अनुसंधान करने का प्रयत्न करते हुए काव्य के मूल और गौण तत्वों का पार्थक्य स्पष्ट किया और इस प्रकार एक मूल आधार लेकर काव्य शास्त्र में निश्चित सिद्धान्त- व्यवस्था स्थापित की। भरत, भामह और दण्डी में इस प्रकार की नियमित व्यवस्था का अभाव है।[3]

आचार्य वामन ने अपनी पदरचनारूप रीति के वैशिष्ट्य को पदगत तथा पदार्थगत सौन्दर्य से अनुप्राणित किया है। इस स्थिति पर शब्दगत तथा अर्थगत गुण रीति के आधार सिद्ध होते हैं। इन गुणों को काव्य की शैली के रूप में मान्यता प्राप्त है। आचार्य वामन ने काव्य में रस के महत्व को अपरिहार्य रूप से स्वीकार किया है, किन्तु उसके अस्तित्व को कान्ति नामक गुण में ही अन्तर्निहित मानना ही उन्होंने उचित समझा है। इस प्रकार हम डा0 नगेन्द्र के शब्दों में कह सकते हैं कि वामन की सबसे महत्वपूर्ण स्थापना है —— रीतिरात्मा काव्यस्य। रीति का विवेचन भामह, दण्डी ने और उनके पूर्व भरतादि ने भी किया है, परन्तु उसको काव्य की आत्मा किसी ने नहीं माना। दण्डी ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है और केवल दो रीतियाँ ही मानी हैं —— वैदर्भी और गौड़ी। वामन ने पांचाली नाम की रीति की उद्भावना और की है। विवेचन भी वामन का भिन्न है। दण्डी के गौडीय मार्ग की अपेक्षा वामन की गौडीया रीति की स्थिति अधिक सन्तोषप्रद है। दण्डी की अपेक्षा वामन की रीति में प्रदेशिकता कम है -साहित्यिकता अधिक है। इस प्रकार वामन ने रीति - विवेचन को सर्वथा व्यवस्थित कर दिया है — प्रत्येक रीति की विशिष्ट सीमा और उसका सापेक्षिक साहित्यिक महत्व निर्धारित कर दिया गया है। साथ ही उन्होंने रीति का गुण के साथ नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित कर उस आधार को अत्यन्त पुष्ट कर दिया है।[4]

1- काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 3/1/2

2- पूर्वे नित्याः। पूर्वे हि गुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः। वही, 3/1/2वृत्ति

3- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका-पृ0 22

4- वही, पृ0 19

इस प्रकार आचार्य वामन की समुपस्थिति में रीतिसिद्धान्त पल्लवित तथा पुष्पित होता रहा है, किन्तु उनके पश्चात् उसे अवमानना की स्थिति में स्थित होना पड़ा है। ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना उसके लिए सर्वथा अहितकर सिद्ध हुई है। ध्वनिवादी आचार्यों ने उसे काव्य का बहिरंग सिद्ध कर दिया। ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रस, वक्ता, वाच्य, तथा विषय के औचित्य से नियन्त्रित करके रीति को सर्वथा परतन्त्र बना दिया। रीति की इस परतन्त्रता को परिस्फुट करते हुए डा0 कृष्णकुमार ने लिखा है कि रीति का यह पारतन्त्र्य सर्वथा समुचित था। काव्यों में सबसे अधिक महत्व रस और ध्वनि का है। उनके रहने पर ही सहृदय काव्य में आह्लाद का अनुभव करता है। काव्य की रचना उसी के निमित्त से की जाती है। पदसंघटनारूप रीति जो कि उक्ति विशेष मात्र है, रस आदि के उत्कर्ष का कारण हो सकती है, स्वयं में काव्य की आत्मा नहीं हो सकती। आनन्दवर्द्धन ने काव्य में रीति के महत्व को तो स्वीकार किया था, परन्तु केवल साधन के रूप में ही, साध्य के रूप में नहीं। रीति काव्य की आत्मा रूप ध्वनि के उत्कर्ष का साधन है, स्वयं में साध्य नहीं है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने काव्य में पदसंघटनारूप रीति की स्थिति को रसोपकारक बताया है।[2] ऐसी स्थिति में इस तथ्य की पूर्णतया परिपुष्टि हो जाती है कि रस तथा अलंकार सम्प्रदायों के पश्चात् आविर्भूत होने वाला रीति सम्प्रदाय अपनी प्रारम्भिक अवस्था में महत्व अर्जित करता हुआ क्रमशः अन्त की ओर अग्रसर होता गया। उसके प्रतिष्ठापक का लक्ष्य सर्वथा अधूरा ही रह गया। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उसे काव्य की आत्मा के रूप में मान्यता प्रदान करना सर्वथा अनुचित समझा। अतः अलंकार तत्व की भाँति काव्य का अंग बनाकर उसे गौण महत्वहीन सिद्ध कर दिया। इस सम्बन्ध में डा0 नगेन्द्र का यह कथन अक्षरशः उपयुक्त सिद्ध होगा कि रीति सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र में अन्ततः मान्य नहीं हुआ— अलंकार सम्प्रदाय तो फिर भी किसी न किसी रूप में वर्तमान रहा, परन्तु वामन के उपरान्त रीति सिद्धान्त प्रायः निःशेष ही हो गया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि अपने उग्र रूप में रीतिवाद की नींव इतनी कच्ची है कि वह स्थायी नहीं हो सकता था। चित्त के चमत्कार से ही वाणी में चमत्कार का समावेश होता है, यह स्वतः सिद्ध मनोवैज्ञानिक तथ्य है। सामान्य एवं व्यापक रूप में भी जीवन का प्रेरक तत्व राग ही है। अतएव

1- अलंकारशास्त्र का इतिहास, पृ0 378

2- पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्॥ — साहित्यदर्पण, 9/1

राग या रस का तिरस्कार दर्शन भी नहीं कर सका, काव्य का तो समस्त आधार ही उस पर आश्रित है। रीति सिद्धान्त ने रीति को आत्मा और रस को एक साधारण अंग मात्र मानकर प्रकृत क्रम का विपर्यय कर दिया और परिणामतः उसका पतन हुआ।[1] इस प्रकार रीति के काव्यात्मक की मान्यता सर्वथा निरस्त हो जाती है।

(4) रस, अलंकार तथा रीति नामक सम्प्रदायों से काव्य की आत्मा का निर्धारण न होते देख आचार्य आनन्दवर्द्धन ने चतुर्थ- सम्प्रदाय के रूप में ध्वनि तत्व का अन्वेषण किया। यद्यपि ध्वनि-तत्व का सामान्य स्वरूप आनन्दवर्द्धनाचार्य के पूर्व ही प्रकाश में आ चुका था, किन्तु उसका सुन्दर स्वरूप काव्यशास्त्रीय परिवेश में आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ही उपस्थित किया था। इसी आधार पर [illegible] उन्हें ध्वनि-सम्प्रदाय का संस्थापक भी माना जाता है। उनके पूर्व कुछ आलंकारिक आचार्यों ने ध्वनि के अस्तित्व को समाप्त करने का प्रयास किया था, किन्तु उन्होंने अपनी तार्किक प्रज्ञा द्वारा उस प्रयास को अनायास असफल सिद्ध कर दिया और ध्वनि को काव्य की आत्मा रूप महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठापित किया। उनके पश्चात् कुछ अन्य उत्तरवर्ती आचार्यों ने पुनः ध्वनि का विरोध किया, जिसे अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने परिशमित कर दिया। इस प्रकार पर्याप्त संघर्ष के पश्चात् ध्वनि तत्व काव्यात्म की मान्यता प्राप्त करने में समर्थ सिद्ध हुआ है। रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, तथा औचित्य आदि काव्य के महत्वपूर्ण तत्व उसके अंग सं-स्थान प्रतीत होने लगे। उपसर्ग से लेकर प्रबन्ध तक उसका आधिपत्य दिखायी पड़ने लगा। ध्वनिवादी आचार्यों ने उसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त उसे वस्तुध्वनि, अलं-कार ध्वनि तथा रस ध्वनि के रूप में प्रमुख तीन भेदों में विभक्त किया। ध्वनि के इस विभा-जन के आधार पर कुछ रसवादी आचार्यों ने रस के अभाव में वस्तु तथा अलंकार के काव्यत्व का विरोध किया है। उनकी मान्यता के अनुसार रस के अभाव में वस्तु तथा अलंकार की अभिव्य-जना उक्ति मात्र होती है। इसके विपरीत ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार रस की मुख्य रूप से विवक्षा न होने पर भी उक्ति के सौन्दर्य के आधार पर वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों में काव्यत्व की सिद्धि होती है। इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्यों की उदात्त भावना ने वस्तु तथा अलंकार को भी काव्यत्व की परिधि में समाविष्ट कर लिया है। मात्र रसध्वनि को काव्य की

1- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ0 134, 35

आत्मा स्वीकार कर लेने पर काव्यत्व का क्षेत्र पर्याप्त सीमित हो जाता है। अतः इसी सम्भावना को ध्यान में रखकर आनन्दवर्द्धनाचार्य ने वस्तु, अलंकार तथा रस के समन्वित स्वरूप को 'ध्वनि' की संज्ञा प्रदान की है तथा 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' के रूप में उसे ही काव्य की आत्मा का पद प्रदान किया है। इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने लिखा है कि ध्वनिकार ने वस्तु तथा अलंकार को ध्वनि मानकर भी रसध्वनि को ही प्रधान माना था। इस रस निर्वाह के लिए उनके सामने कई प्रश्न उपस्थित हुए। एक तो रस निर्वाह के सम्बन्ध में अलंकारों का विचार किया गया। दूसरे यदि रस को ही सब कुछ मान लिया जाता तो काव्य के, विशेषतः मुक्तक के, ऐसे अनेक स्थल छूट जाते जिनमें रस निर्वाह न हुआ होता। तीसरे, ध्वनिकार ने रस की प्रातीतिक सत्ता को स्वीकार कर ली। वाच्य के स्थान पर वह अनुभूति मात्र बन गया। कवि केवल विभावादि का वर्णन कर सकता है, रस का वर्णन सम्भव नहीं है। वाणी से 'रस' शब्द का उच्चारण करने पर रस की उत्पत्ति नहीं होती और विभावादि का चित्र उपस्थित करने से वह अपने आप सहृदय के मन में घुसने लगता है। ध्वनि-सिद्धान्त ने रस को ही मूल मन्त्र मानकर संघटना, अलंकार आदि सबको ध्वनि में समेट लिया। इस प्रकार पूर्ववर्ती अलंकार, रीति आदि सिद्धान्त अंगभूत होकर रह गये।[1] इसी प्रकार प्रसिद्ध समालोचक सुरेन्द्रनाथ सिंह ने अपने 'ध्वनि' सिद्धान्त नामक निबन्ध में लिखा है कि ~~उसे~~ ध्वनि-सिद्धान्त की अन्यतम विशेषता है उसकी समन्वयवादी दृष्टि। आनन्दवर्द्धन के पूर्व से ही रस, अलंकार, रीति, गुण औरऔचित्य की किसी न किसी रूप में सैद्धान्तिक विचारचर्चा चली आ रही थी। उन्होंने अपने व्यापक ध्वनि सिद्धान्त में इन सबका समाहार किया। वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि और रसध्वनि के पेट में ये सभी सिद्धान्त समा गये। आनन्दवर्द्धन के परवर्ती कुन्तक की वक्रोक्ति और क्षेमेन्द्र के औचित्य के विभिन्न प्रकार भी ध्वनि सिद्धान्त की परिधि के बाहर नहीं हैं। ध्वनिवादियों ने ध्वनि के साथ ही काव्य के अन्य अंगों (रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, गुण) का व्यवस्थित विवेचन करके उनके सापेक्ष महत्व का प्रतिपादन किया। उन्होंने रीति को वृत्ति और संघटना में समाविष्ट किया, अलंकार से गुणों का पृथक्करण करके इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की कि गुण रस के धर्म हैं, रस के उपकारक हैं और रस के साथ उनकी अचल स्थिति है। काव्य सौन्दर्यविवेचन सम्बन्धी व्यापकता और समन्वयात्मकता के कारण ही ध्वनि

1- काव्यशास्त्र, पृ0 58 सम्पादक— आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

सिद्धान्त इतना अधिकसमादृत हुआ।[1] इस प्रकार सामान्य रूप से काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि तत्व का नैश्चित्य किया जा सकता है।

(5) ध्वनि सम्प्रदाय के पश्चात् वक्रोक्ति नामक चौथे सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ था, इसके उद्भावक आचार्य कुन्तक माने गये हैं, उन्होंने अपने पूर्ववर्ती रस, अलंकार, रीति, तथा ध्वनि आदि सभी साम्प्रदायिक मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए वक्रोक्ति सम्बन्धी तथा मान्यताओं को मान्य बनाया है। उन्होंनेपूर्ववर्ती सभी साम्प्रदायिक तत्वों को वक्रोक्ति के भेदोपभेदों में समाविष्ट करने का प्रयास किया है। रस के महत्व को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उसे काव्यात्म रूप मान्यता नहीं प्रदान की। उन्होंने रीति सम्प्रदाय में आगत वैदर्भी गौड़ी तथा पांचाली नामक रीतियों को सुकुमार, विचित्र तथा मध्य मार्गों की संज्ञा प्रदान की तथा उनका सम्बन्ध कवि के स्वभाव ढोष्तु से संस्थापित किया। इसी प्रकार उन्होंने ध्वनि को भी वक्रोक्ति भेद की परिधि में समाविष्ट करके उसका अंगत्व सिद्ध कर दिया। इस प्रकार अन्य सभी तत्वों की अपेक्षा वक्रोक्ति के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने उसे काव्य की आत्मा रूप महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठापित किया।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिको काव्य की आत्मा मानते हुए भी रस, ध्वनि और औचित्य नामक तत्वों को काव्य का अन्तर्तत्व स्वीकार किया है। रस तथा औचित्य को तो उन्होंने वक्रोक्ति का भी जीवित स्वीकार कियाहै। यहाँ डा0 कृष्णकुमार के शब्दों में हम कह सकते हैं कि रस, ध्वनि और औचित्य को इतना अधिक महत्व देते हुए कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा क्यों माना, यह प्रश्न विचारणीय है। कुन्तक की दृष्टि में इन तीनों की अपेक्षा भी वक्रोक्ति तत्व कहीं अधिक विस्तृत था। वैदग्ध्यभंगीभणिति रूप वक्रोक्ति इन तीनों को आत्मसात् कर लेती है और काव्य में इनका प्रतिपादन वक्रोक्ति के द्वारा ही हो सकता है। रस, ध्वनि और औचित्य ये तीनों वक्रोक्ति के आवश्यक अंग तो हैं, परन्तु अनिवार्य नहीं हैं।ये वक्रोक्ति के सौन्दर्य की वृद्धि अवश्य करते हैं परन्तु इनके बिना भी काव्य में काव्यत्व रह सकता है। परन्तु वक्रोक्ति से रहित काव्य में काव्यत्व न होकर वह केवल वार्ता मात्र होता है। इसीलिए कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया।[2]

1- भारतीय काव्यशास्त्र, पृ0 152 सम्पादक डा0 उदयभानु सिंह

2- अलंकारशास्त्र का इतिहास, पृ0 396

आचार्य कुन्तक अभिधावादी आचार्य है। उन्होंने ध्वनिवादियों की व्यंजना वृत्ति को सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध करते हुए उसका कार्य अपनी विचित्र अभिधावृत्ति से सम्पन्न किया है। इस सम्बन्ध में डा0 नगेन्द्र का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि वक्रोक्ति सम्प्रदाय का जन्म प्रत्युत्तर के रूप में हुआ था। काव्यात्मवाद के विरुद्ध देहवादियों का यह अन्तिम विफल विद्रोह था। काव्य के जिन सौन्दर्य भेदों की आनन्दवर्धन ने ध्वन्यात्मपरक व्याख्या की थी, उन सभी को कुन्तक ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की। इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना सी प्रतीत होती है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आचार्य कुन्तक द्वारा संस्थापित वक्रोक्ति सम्प्रदाय का वैशिष्ट्य भी यत्किंचित् रूप में निश्चित होता है, किन्तु काव्यात्मरूप उसकी मान्यता सर्वथा उचित नहीं प्रतीत होती है। इसके पूर्व जिस प्रकार रीति आदि तत्वों को साध्य रूप में न स्वीकार करके साधन रूप में स्वीकार किया गया है, उसीप्रकार वक्रोक्ति तत्व भी अनायास साधन रूप सिद्ध हो जाता है। आचार्य कुन्तक ने इस तथ्य को स्वयं स्वीकारा है कि जब वक्रोक्ति रूप साधन द्वारा रस रूप साध्य की सिद्धि होती है तभी कवियों की वाणी प्राण रूप प्रतीत होती है। रस रूप साध्य की सिद्धि के अभाव में कवि-वाणी कथा मात्र पर आधारित प्रतीत होती है।[2] वक्रोक्ति के काव्यात्मत्व सम्बन्धी तथ्य का उचित निराकरण प्रस्तुत करते हुए डा0 श्री जयमन्त मिश्र ने निष्कर्ष रूप में लिखा है कि आनन्द और कुन्तक में मतैक्य होने पर भी दोनों के अपने अपने दृष्टिकोण में अन्तर है। आनन्द ने रस को साध्य मानकर प्रकरण आदि को साधन माना है इसलिए उन्होंने रसानुकूल संशोधन परिवर्तन आदि का विधान किया है, परन्तु कुन्तक ने प्रकरण वक्रता को ही साध्य मान लिया है। चूँकि वास्तविक दृष्टि से प्रकरण आदि के सौन्दर्य का लक्ष्य भी रस की सि-द्धि ही है, अतः प्रकरण वक्रता साधन ही है न कि साध्य। इसलिए वक्रोक्ति काव्य की आत्मा नहीं मानी जा सकती अपितु आत्मा रसादि के उत्कर्ष में रीति, अलंकार की तरह

1- साहित्यानुशीलन (1972) पृ0 203 से अवतरित

2- निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः ।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः॥— वक्रोक्तिजीवित, 4/4पर उद्धृत

कारण ही। कुन्तक जैसे मेधावी का शब्द अर्थ रूप काव्यशरीर को ही अलंकार्य मानना जिस प्रकार संगत नहीं है उसी प्रकार विचित्र अभिधा रूप वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहना भी संगत नहीं है। ध्वनि और वक्रोक्ति के विवेचन में यह स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि अभिधा अथवा विचित्र अभिधा रूप वक्रोक्ति से ध्वन्यमान रसादि की अनुभूति सम्भव नहीं है। विचित्र अभिधा या वक्रोक्ति को प्रसिद्ध अभिधा से भिन्न व्यंजना रूप मान लेने पर वक्रोक्ति रसानुभूति में साधन होने के कारण आत्मस्थानीय नहीं मानी जा सकती। अतः सिद्धान्त रूप में वक्रोक्ति साधन है साध्य नहीं अथवा अंग है आत्मा नहीं।[1] इस प्रकार एक सामान्य अलंकार रूप वक्रोक्ति - तत्व काव्यात्म रूप महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी नहीं कहा जा सकता है।

(6) वक्रोक्ति सम्प्रदाय के पश्चात् आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य नामक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की थी। औचित्य के स्वरूप की प्राप्ति अति प्राचीन काल से ही होती है। किन्तु उसके स्वरूप का सुन्दर निदर्शन ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत किया था। काव्य में रस के महत्व को प्रायः सभी आचार्यों ने निर्विरोध रूप से स्वीकार कियाहै। अतः इसी आधार पर आनन्दवर्धनाचार्य ने रस के सुव्यवस्थित स्वरूप के लिए औचित्य को सर्वथा आवश्यक बताया है।[2] इसी प्रकार उन्होंने शब्द, अर्थ तथा संघटना आदि का प्रतिपादन भी औचित्य की आधार भूमि पर आवश्यक बताया है। इस सम्बन्ध में डा0 आनन्द प्रकाश दीक्षित ने लिखा है कि रस व्यंजना के सन्दर्भ में औचित्य-सिद्धान्त के संकेत भी आनन्दवर्धन में ही मिले। यों तो भरत ने भी लोक व्यवहारानुरूप अभिनय की दुहाई देकर औचित्य की प्रकारान्तर से स्थापना कर दी थी, किन्तु उसका उल्लेख स्पष्ट रूप में ध्वनिकार द्वारा ही हुआ, क्षेमेन्द्र ने उसे विस्तृति दी। उन्होंने औचित्य को काव्य का स्थिर तथा अविनाशी जीवन मानकर उपसर्ग तथा निपात तक उसकी व्याप्ति दिखायी।[3] आचार्य क्षेमेन्द्र ने ध्वन्यालोक को आधार मानकर औचित्य-सिद्धान्त को पल्लवित तथा पुष्पित करते हुए काव्य की आत्मा का स्थान प्रदान किया। उनकी मान्यता के अनुसार लौकिक व्यवहार में औचित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उसके अभाव में जीवन की मान्यताएँ अस्तव्यस्त हो जाती है। जिस प्रकार लोक में किसी स्त्री के वक्षस्थल पर पड़ी हुई मोतियों की माला सौन्दर्य का कारण सिद्ध होती है, किन्तु वही माला उसके पैरों पर उपन्यस्त कर देने से हास्यास्पद सिद्ध हो जाती है,

---

1- काव्यात्ममीमांसा, पृ0 312

2- अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ - ध्वन्यालोक, 3/14 वृत्ति

3- नाट्यशास्त्र, पृ0 58 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

उसी प्रकार रस, अलंकार तथा रीति आदि तत्व यद्यपि काव्य शोभाधायक सिद्ध होते हैं किन्तु उचित स्थान पर न प्रयुक्त होने पर वे उसके सौन्दर्यापकर्षक तत्व सिद्ध हो जाते हैं। उसी प्रकार जैसे शौर्य, औदार्य तथा कारुण्य आदि गुण मनुष्य के आभूषण सिद्ध होते हैं, किन्तु इनमें से यदि शरणागत शत्रु के प्रति शौर्य गुण का तथा आक्रामक शत्रु के प्रति कारु-ण्य भाव का प्रदर्शन किया जायेगा तो औचित्य के अभाव में ये गुण अवगुण संज्ञा में परिणत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में आचार्य क्षेमेन्द्र ने सैद्धान्तिक स्वरूप स्थापित करते हुए अलंकारों के अलंकारत्व तथा गुणों के गुणत्व में औचित्य के समावेश को सर्वथा आवश्यक बताया है।[1] इस प्रकार काव्य में औचित्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने के कारण आचार्य क्षेमेन्द्र ने अलंकार तथा गुण आदि तत्वों को अस्वीकार करते हुए रस सिद्ध औचित्य तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में मान्यता प्रदान की है।[2]

इस विवेचन के आधार पर काव्य में औचित्य का महत्व निःसन्दिग्ध रूप में निश्चित हो जाता है, किन्तु इस नैश्चित्य के विद्यमान होने पर भी कुछ आचार्यों ने उसके महत्व में असहमति व्यक्त करते हुए उसे साम्प्रदायिक-परिधि से पृथक् करने का प्रयास किया है। इस तथ्य के स्पष्टीकरण में 'साहित्य सन्देश' की ये पंक्तियाँ सर्वथा युक्ति युक्त सिद्ध होंगी कि औचित्य अलग सिद्धान्त न होकर विभिन्न काव्यांगों को परिष्कृत करने का हेतु है। अलंकार आदि पाँच काव्य सिद्धान्तों के प्रवर्तक अपने मान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्य काव्यांगों को समाविष्ट करते हैं या अन्य काव्यांगों को अपने मान्य सिद्धान्त के परिपोषक रूप में स्वीकृत करते हैं। पर औचित्य नामक काव्य तत्व के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र इनमें से किसी भी प्रवृत्ति को नहीं अपनाते।[3]

काव्यशास्त्रीय इतिहास में आचार्य क्षेमेन्द्र के उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा औचित्य का महत्व स्वीकार किए जाने पर भी वह काव्यात्म पद प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुआ है। संस्कृत काव्याचार्यों के अनुसार काव्य की रचना करते समय कवि का प्रमुख उद्देश्य रसादि की आनन्दात्मक अनुभूति कराना होता है। इस स्थिति में रसादि का औचित्य उसके उत्कर्ष का कारण अवश्य होता है, किन्तु औचित्य को ही कवि का उद्देश्य नहीं कहा जा

1- उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः॥— औचित्यविचारचर्चा, 6

2 अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥— वही, —5

3- साहित्यसन्देश, पृ० (जुलाई-अगस्त 1963)

सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि रसानुभूति के लिए ही औचित्य का सामंजस्य आवश्यक होता है, औचित्य के लिए रसादि का नहीं। अतः औचित्य रसादि रूप साध्य का साधन सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अलंकार आदि में भी उसका साधन रूप निश्चित होता है। इस तथ्य के स्पष्टीकरण में लोचनकार कहते हैं कि उचित शब्द से रसविषयक औचित्य का ग्रहण होता है और औचित्य को रस ध्वनि का जीवित माना गया है। अतः रस-ध्वनि के अभाव में औचित्य की अवस्थिति किस आधार पर अवधारित की जायेगी।[1]

उत्तम मध्यम, तथा अधम के रूप में विभाजित काव्य के तीन मुख्य भेदों में से अधम काव्य में रस के महत्व का सर्वथा अभाव प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्तम काव्य अथवा ध्वनि काव्य में भी वस्तुध्वनि तथा अलंकार ध्वनि को छोड़कर मात्र रसध्वनि का ही रस सिद्ध रूप निश्चित होता है। ऐसी स्थिति में काव्य के अनेक भेदों में रस-सिद्धत्व का अभाव होने से उनके प्रति औचित्य की अवस्थिति सन्देहास्पद सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त औचित्य- सिद्धान्त के संस्थापक ने औचित्य को रस-सिद्ध काव्य का जीवित सिद्ध करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार उचित रूप में पारद-रस का सेवन करने से जीवन को स्थायित्व प्राप्त होता है, उसी प्रकार श्रृंगार आदि रसों से सिद्ध काव्य में पारद का प्रतिपादक औचित्य तत्व उसके जीवन को स्थायित्व प्रदान करता है।[2] आचार्य क्षेमेन्द्र के इस कथन से इस तथ्य की पूर्णतया परिपुष्टि हो जाती है कि काव्य का जीवित रूप तत्व औचित्य के अतिरिक्त कोई अन्य है, क्योंकि औचित्य को उस अन्य जीवित तत्व को स्थायित्व प्रदान करने वाला तत्व सिद्ध होता है। जिस प्रकार पारद रस जीवन न होकर जीवन को स्थायित्व प्रदान करने वाला तत्व सिद्ध होता है उसी प्रकार औचित्य काव्य का जीवन न होकर रसादि रूप जीवन को स्थायित्व प्रदान करने वाला तत्व सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निष्कर्ष रूप में डा० कृष्ण-कुमार के शब्दों में कह सकते हैं कि काव्य में औचित्य का महत्व अनिवार्य रूप से है तो अवश्य परन्तु उसको काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया जा सकता। औचित्य को सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में काव्य के अनिवार्य तत्व के रूप में मान्यता दी थी और अपनी अपनी दृष्टि से उसका विवेचन किया था। क्षेमेन्द्र ने औचित्य के इस महत्व को अनुभव करके उसको

1- उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यत इति भावः।— ध्वन्यालोक लोचन, पृ० 45

2- रसेन शृंगारादिना सिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः।
— औचित्यविचारचर्चा, 5 वृत्ति

काव्य के जीवित के रूप में प्रतिपादित किया। परन्तु क्षेमेन्द्र काव्य के बाह्य क्षेत्र तक ही अपने को सीमित रखे रहे। काव्य के अन्तरंग तत्व रसध्वनि को पहचानते हुए भी वे उसके महत्व का प्रतिपादन नहीं कर सके। वस्तुतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है। वही काव्य यही साध्य है। रस का साधन होने से औचित्य उसका अंगभूत ही है।[1] ऐसी स्थिति में औचित्य की काव्यात्मक मान्यता सर्वथा निरस्त हो जाती है।

काव्य की आत्मा – रसध्वनि

इसके पूर्व रस, अलंकार रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य नामक तत्वों के काव्यात्मक स्थिति का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन के आधार पर अलंकार, रीति वक्रोक्ति तथा औचित्य की काव्यात्म सम्बन्धी मान्यता का यथोचित निराकरण प्राप्त हो जाता है। इन्हें काव्य के महत्वपूर्ण तत्वों के रूप में परिगणित किया जा सकता है, किन्तु काव्य की आत्मा के रूप में नहीं। आत्मा के उचित स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण इनके संस्थापक आचार्य अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके। इस तथ्य के स्पष्टीकरण में डा0 राममूर्ति त्रिपाठी का यह कथन सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होगा कि पूर्ववर्ती चिन्तक काव्य की आत्मा की बात तो अवश्य करते हैं, पर आत्मा से जो कुछ समझते हैं वह भ्रान्तिपूर्ण है। आत्मा शरीर के आवरण में निहित वह मूल तत्व है, जिससे शरीर का भी अस्तित्व है, जिससे शरीर की सुन्दरता है, जिससे शरीर सुरम्य है, जिसके कारण ही शरीर ग्राह्य, उपादेय एवं सार्थक है, जिसके कारण ही शरीराश्रित विशेषताएँ (गुण, अलंकार) विशेषताएँ जान पड़ती हैं, जिसके अभाव में अचेतन शरीर या शव की भाँति काव्यशरीर कितने भी गुण अलंकारों से विभूषित हो, अनाकर्षक एवं असुन्दर ही रहेगा। निष्कर्ष यह है कि यह उक्ति में जिस सौन्दर्य के समुन्मेष से काव्यत्व का प्रकटन होता है वह शरीराश्रित गुण और अलंकार नहीं है, बल्कि उससे अतिरिक्त उसमें भी शरीर को दीप्त करने की क्षमता रखने वाला अनन्त सौन्दर्य का निधान आत्म तत्व कोई भिन्न वस्तु ही है। वह शरीर के सहारे व्यक्त होने वाली शरीर को दीप्त करने वाली शरीर से पृथक् वस्तु है।[2] रस तथा ध्वनि के रूप

1- अलंकारशास्त्र का इतिहास, पृ0 415-16

2- भारतीय काव्यशास्त्र, पृ0 115 सम्पादक – डा0 उदयभानु सिंह

में अवशिष्ट दोनों तत्वों का काव्यात्मत्व सिद्ध होता है, किन्तु वह पृथक् रूप में न होकर सम्मिलित रूप में ही होता है। रस का ध्वनित रूप काव्य की आत्मा का अधिकारी सिद्ध होता है। इस प्रकार काव्य में ध्वनि का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो जाता है। ध्वनि का संसर्ग प्राप्त किए बिना रस सर्वथा महत्वहीन प्रतीत होता है तथा रस के अभाव में ध्वनि का महत्व भी समाप्तप्राय हो जाता है। अतः दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व निरर्थक हो जाता है। दोनों की पारस्परिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि ध्वन्यालोक में रस के सार्वभौम महत्व की नितान्त शब्दों में घोषणा की गयी है — किन्तु माध्यम सर्वत्र ध्वनि ही रही है। अभिनवगुप्त तथा आनन्दवर्द्धन के मन्तव्यों की सूक्ष्म विवेचना से पूर्व रस के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समर्थन का भेद स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में अन्तिम रूप में रस और ध्वनि का अन्तर इतना नगण्य रह जाता है कि दोनों केबीच विभाजन रेखा खींचना अत्यन्त कठिन होता है — किन्तु अन्तर तो है ही — अभिनव गुप्त जहाँ वस्तु ध्वनि और अलंकारध्वनि पर क्षणभर के लिए भी नहीं रुकते — रसपर्यवसान ही उनकी दृष्टि में इन दोनों की सिद्धि है, वहाँ आनन्दवर्द्धन संलक्ष्यक्रम व्यंग्य की स्वतन्त्र सत्ता मान लेते हैं — उसकी रसोन्मुखता की बात वे भी करते हैं, परन्तु उतने स्पष्ट और निर्भ्रान्त शब्दों में नहीं। यहीकारण है कि आनन्दवर्द्धन का रस समर्थन अप्रत्यक्ष ही मानना पड़ेगा।[1]

ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्द्धन ने वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि रूप में ध्वनि को मुख्य रूपसे तीन भेदों में विभाजित किया है और इन तीनों के समन्वित स्वरूप को काव्य की आत्मा का अधिकारी बनाया है। अभिधेय रूप वस्तु तथा अलंकार की अपेक्षा व्यंग्य रूप वस्तु तथा अलंकार में चामत्कारिक चारुत्व का आधिक्य विद्यमान रहता है। अतः इसी आधार पर आनन्दवर्द्धनाचार्यने इन्हें ध्वनि का अंग बनाया है, किंतु यदि इस सम्बन्ध में सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो वस्तु तथा अलंकार ध्वनि भेदों को काव्यात्म-पद पर प्रतिष्ठापित करना उचित नहीं होगा। इस नकारात्मक औचित्य की परिपुष्टि में यह कहा जा सकता है कि रसध्वनि में जिस आत्मानन्द की प्रतीति होती है, वह वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों में सर्वथा असम्भव ही कही जायेगी। इसके अतिरिक्त रस रूप आनन्दात्म की अभिव्यक्ति का आधार रसध्वनि सिद्ध होती है, अतः उसे ही काव्य की आत्मा

1- रस-सिद्धान्त, पृ० 46

मानना चाहिए। यदि मात्र चारुत्व-प्रतीति को आत्मरूप मान्यता प्रदान की जायेगी तो वस्तु तथा अलंकारध्वनियों की भाँति चारुत्व का बोध होने से वाच्य-अलंकारों में भी आत्मत्व मानना पड़ेगा। इसके साथ ही साथ ध्वन्यालोक का सूक्ष्म अध्ययन करने पर इस तथ्य की भी प्राप्ति हो जाती है कि आनन्दवर्धनाचार्य ने स्वयं रसध्वनि के प्रति अपना व्यामोह प्रदर्शित किया है। इस व्यामोह को प्रदर्शित करते हुए आचार्य जगन्नाथ पाठक ने ध्वन्यालोक की भूमिका में लिखा है कि ध्वन्यालोककार प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ के तीन भेद करते हैं —— वस्तु, अलंकार और रसादि। इनमें वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि, शब्दाभिधेय होने के कारण लौकिक हैं, किन्तु रसादिध्वनि किसी भी स्थिति में अथवा स्वप्न में भी अभिहित नहीं होती, इसलिए अलौकिक है। [illegible] इस प्रकार ध्वनिकार के मत में रस ही वस्तुतः आत्मा है।[1] ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इस कारिका में आगत 'एव' पद के द्वारा आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा रूप महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। इस परिप्रेक्ष्य में उन्होंने आनन्दवर्धनाचार्य को भी रसध्वनिवादी सिद्ध कर दिया है।[3] इनके अतिरिक्त मम्मट[4] विश्वनाथ,[5] तथा पण्डितराज जगन्नाथ,[6] आदि अन्य उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी रसध्वनि को ही काव्यात्म तत्व के रूप में अपनी मान्यताएँ प्रदान की हैं।

1- ध्वन्यालोक — भूमिका — पृ0 9, 10 व्याख्याकार आचार्य जगन्नाथ पाठक

2- काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥— [illegible]

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः ॥ ध्वन्यालोक, 1/5 वृत्ति

3- स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मेति' सामान्येनोक्तम्।

'—— ध्वन्यालोक लोचन, पृ0 86 व्या0आ0जगन्नाथ पाठक

4- ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

रसस्याङ्गिन इत्यनेनाङ्गिनः प्रधानस्य रसस्योक्ती। एवं च रसः आत्मस्थानीयः शब्दार्थौ शरीरमिति फलितम्।— काव्यप्रकाश, 8/1 एवं उस पर वामनी टीका पृ0 462

5- वाक्यं रसात्मकं काव्यम्— साहित्यदर्पण,

6- पंचात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मता।— रसगंगाधर, पृ0 37

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि काव्यशास्त्रीय इतिहास में काव्य की आत्मा को लेकर अत्यन्त विवादात्मक स्थिति का प्रादुर्भाव हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप काव्याचार्यों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य नामक विविध तत्वों को उस स्थान का अधिकारी बनाना चाहा। इन तत्वों में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य का काव्य में यथोचित महत्व तो सर्वथा स्वीकारणीय रहा है, किन्तु उनका आत्मत्व भ्रामक सिद्ध हुआ है। अवशिष्ट रस तथा ध्वनि तत्वों में से दोनों का अपना-अपना वैशिष्ट्य है, दोनों अन्योन्याश्रित हैं, पृथक् रूप में दोनों की स्थिति अत्यन्त दयनीय सिद्ध होती है, इसके विपरीत दोनों का समन्वित रूप काव्य कीआत्मा का स्थान प्राप्त कर लेता है। अतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

शुद्धि - पत्र

दशावतारचरित	क्षेमेन्द्र
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन(व्या0डा0पूर्णकुमार)साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ, प्र0सं0 1976
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन –(व्या0आचार्य विश्वेश्वर) गौतमबुकडिपो दिल्ली, 1952
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन(व्या0आ0जगन्नाथपाठक)चौ0विद्या0वाराणसी, प्र0सं0 1965
नलचरित	नीलकण्ठ
नवसाहसांकचरित	पद्मगुप्त परिमल(व्या0जितेन्द्रचन्द्रशास्त्री)चौ0विद्या0वारा0–।
नाट्यदर्पण	रामचन्द्र-गुणचन्द्र(व्या0आ0विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि)हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्र0सं0 1961
नाट्यशास्त्र	भरतमुनि(व्या0बाबूलाल शुक्ल शास्त्री)चौ0सं0संस्थान वारा0 प्र0सं072
नीतिशतक	भर्तृहरि– ठाकुर प्रसाद एण्ड सन्स राजा दरवाजा वाराणसी
निरुक्त	यास्क(व्या0डा0उमाशंकर शर्मा)चौ0विद्या0वाराणसी–।
नैषधीयचरित	श्रीहर्ष(व्या0हरगोविन्दशास्त्री)चौ0संस्कृत सी0आ0वारा01, 1961
प्रतापरुद्रयशोभूषण	विद्यानाथ–गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई, 1909
बृहदारण्यकोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर
बृहत्कथामंजरी	गुणाढ्य
भक्तिरसामृतसिन्धु	रूपगोस्वामी(व्या0डा0नगेन्द्र) दिल्ली विश्व0दिल्ली, प्र0सं0 1963
भगवद्भक्तिरसायन	रूपगोस्वामी(व्या0आ0विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि) हिन्दी विभाग दिल्ली विश्व0 दिल्ली, प्र0सं0 1963
भामिनी विलास	पण्डितराज जगन्नाथ(व्या0आ0 राधेश्याम मिश्र)चौ0सं0सी0आ0वा0।
भावप्रकाशन	शारदातनय
महाभारत	व्यास (गीताप्रेस, गोरखपुर–प्रथम संस्करण
मेघदूत	कालिदास(व्या0डा0दयाशंकर शास्त्री) भारतीय प्रकाशन, कानपुर
यजुर्वेद	व्या0श्रीराम शर्मा आचार्य)संस्कृति संस्थान,बरेली, द्वि0सं0 1962
रघुवंश	कालिदास(व्या0आ0श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी)चौ0विद्या0वारा0।
रत्नावली	श्रीहर्ष(व्या0आ0रामचन्द्र मिश्र)चौ0सं0सी0आ0वाराणसी–।
रसगंगाधर	पण्डितराजजगन्नाथ (व्या0आ0बदरीनाथ झा)चौ0विद्या0वारा0।
रसतरंगिणी	भानुदत्त मिश्र– वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई द्वि0सं0 1971

रसमंजरी — भानुदत्त मिश्र(व्या०आ०बदरीनाथ झा)चौ०सं०सी०आ०वाराणसी।

रस-प्रदीपिका — प्रभाकर भट्ट- भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1925

रसार्णव सुधाकर — भानुदत्त मिश्र

राजतरंगिणी — कल्हण(भाष्य०रघुनाथ सिंह)हिन्दीप्रचारक संस्थान वाराणसी, 1 प्र०सं० 1970

वक्रोक्तिजीवित — कुन्तक(व्या०आ०विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि) आत्माराम एण्ड सन्स कश्मीरी गेट दिल्ली-6 1975

व्यक्तिविवेक — महिमभट्ट(व्या०आ०रेवाप्रसाद द्विवेदी) चौ०सं०सी०आ०वा०। 1936

वाग्भटालंकार — वाग्भट(प्रथम)व्या०डा०सत्यव्रतसिंह)चौ० विद्या०वाराणसी -1

वाल्मीकि रामायण — वाल्मीकि - गीताप्रेस गोरखपुर द्वितीय संस्करण

विक्रमांकदेवचरित — बिल्हण(व्या०डा०हरिदत्त शास्त्री)साहित्य भण्डार सुभाष बाजार मेरठ प्र०सं० 1957

विद्धशालभंजिका — राजशेखर (व्या०रामाकान्त त्रिपाठी)चौ०विद्या०वाराणसी, 1

विश्वकोष — चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण — वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

शतपथ ब्राह्मण — चौ०संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, 1, द्वि०सं० 1964

सरस्वतीकण्ठाभरण — भोजराज-(निर्णय सागर प्रेस, बम्बई -1934

[illegible] — [illegible](व्या०आ०ढुण्ढिराज शास्त्री)चौ०सं०सी०आ०वा०। द्वि०सं० 1962

सामवेद — (व्या०श्रीराम शर्मा आचार्य)संस्कृति संस्थान, बरेली, द्वि०सं० 1962

साहित्यदर्पण — विश्वनाथ(व्या०डा०सत्यव्रतसिंह) चौ०सं०विद्या०वाराणसी, 1, 1957

साहित्यसार — अच्युतराय

हर्षचरित — बाणभट्ट(व्या०आ०जगन्नाथपाठक)चौ०विद्या०वा०चतुर्थसं०1972

हेमकोष

हिन्दीग्रन्थ

अलंकारशास्त्र का इतिहास — डा०कृष्णकुमार साहित्य भण्डार सुभाष बाजार मेरठ प्र०सं०1975

नाट्यशास्त्र — सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, भारतीय साहित्य मन्दिर फव्वारा दिल्ली- 6, 1966

काव्यात्मीमांसा डा0श्रीजयमन्त मिश्र, चौ0विद्याभवन0वाराणसी0 प्र0सं0 1964 429
ध्वनि सम्प्रदाय का विकास— डा0शिवनाथ पाण्डेय-साहित्य प्रकाश, दिल्ली, 6, 1971
ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त भाग 1 डा0 भोलाशंकर व्यास-नागरी प्रचा0स0काशी
प्र0सं0सम्वत् 2013
ध्वनि-सिद्धान्त औरव्यंजनावृत्ति विवेचन :— डा0 गयाप्रसाद उपाध्याय शास्त्री, सरस्वती
पुस्तक सदन मोती कटरा आगरा—3प्र0सं01970
भारतीय काव्यशास्त्र सम्पादक डा0 उदयभानु सिंह सामयिक प्रकाशन, दिल्ली-6
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका—डा0नगेन्द्र नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, द्वि0सं0
1963
भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त-प्रो0राजवंश सहाय'हीरा'चौखम्बा विद्याभवन, वा0
प्रथम संस्करण 1967
भारतीय साहित्य दर्शन डा0राममूर्ति त्रिपाठी— सरस्वती मन्दिर जतनबर वाराणसी प्र0
सं0 1959
भारतीय साहित्य शास्त्र, भाग2 आचार्य बलदेव उपाध्याय मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी-1
द्वितीय संस्करण, सं02010
रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन- डा0प्रेमस्वरूप गुप्त भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़, प्र0सं0
1962
रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र— निर्मला जैन- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र0सं01967
रस-सिद्धान्त डा0नगेन्द्र नेशनल प0हा0दिल्ली, प्र0सं0 1964
रस और रसास्वादन डा0 हरद्वारीलाल शर्मा
रस-सिद्धान्त का वैदिकआधार- डा0 धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
रस-सिद्धान्त का दार्शनिक तथा नैतिक विवेचन - डा0 तारकनाथ बाली-विनोद पुस्तक
मन्दिर, आगरा, प्र0सं0 1964
रस-सिद्धान्त : स्वरूप -विश्लेषण- डा0 आनन्द प्रकाश दीक्षित- राजकमल प्रकाशन दिल्ली-6
प्रथमसंस्करण, 1960
रस-विमर्श - डा0राममूर्ति त्रिपाठी, विद्यामन्दिर ब्रह्मनाल वाराणसी, प्र0सं0
1965
रीति काव्य की भूमिका - डा0नगेन्द्र नेशनल पब्लिशिंग हाउस नयी दिल्ली चतुर्थसंस्करण, 61
शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त भाग1 डा0 गोविन्द त्रिगुणायत- भारतीय साहित्य मन्दिर
फव्वारा दिल्ली6 परिवर्द्धित सं01970
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास- पी0वी0काणे(अनु0डा0इन्द्रचन्द्रशास्त्री) मोतीलाल बना0, प्र0सं0
1977

संस्कृत साहित्य का इतिहास — वाचस्पति गैरोला — चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी।

अंग्रेजी-ग्रन्थ

एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ लिटरेचर — डब्लू०एच०हडसन

भोज-शृंगारप्रकाश— डा०वी०राघवन् — कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बम्बे, 1940

कम्पैरेटिव एस्थेटिक्स — डा० के०सी० पाण्डेय, चौ०स० स्टडीज, वाराणसी

डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर

हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स — डा०पी०वी०काणे, बम्बे— 1951

हिस्ट्री आफ इण्डियन एस्थेटिक्स — डा०के०सी०पाण्डेय विद्याविलास प्रेस, बनारस 1950

हाइवेज एण्ड बाइवेज आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत — म०म०कुप्पू स्वामी

कुप्पू स्वामी शास्त्री इंस्टीट्यूट मद्रास

आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया — कनिंघम

पोइटिक्स एण्ड रेटारिक — अरिस्टोटल

द थ्योरी आफ रस एण्ड ध्वनि — डा० ए० शंकरन — द यूनीवर्सिटी आफ मद्रास, 1929

द फिलासफी आफ एस्थेटिक प्लीजर, — पंच पगेश शास्त्री

सम कन्सेप्ट्स आफ द अलंकारशास्त्र, डा० वी०राघवन — अड्यार लाइब्रेरी मद्रास, 1942

पत्र-पत्रिकाएँ

हिन्दी अनुशीलन (डा०धीरेन्द्र वर्मा अंक)

आलोचना (त्रैमासिक)

साहित्यसन्देश (जुलाई-अगस्त, 1963)